सांख्य एवं काश्मीर शैव दर्शन में

सृष्टि



लेखक

डॉ० विजय शङ्कर द्विवेदी

सम्पादक

डॉ० कृष्णकान्त शर्मा

आचार्य रामचन्द्र द्विवेदी स्मृति ग्रन्थमाला : तृतीय पुष्प

सांख्य एवं काश्मीर शैव दर्शन में सृष्टि

प्रणेता

डॉ० विजयशंकर द्विवेदी

आर०ए०, दर्शन-धर्म विभाग

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

सम्पादक

डॉ० कृष्णकान्त शर्मा

उपाचार्य, वैदिक दर्शन विभाग

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

प्रकाशक

प्रशान्त प्रकाशन

१२८, बालाजी नगर, नगवा,

वाराणसी-२२१००५

यह पुस्तक भारतीय इतिहास अनुसंधान परिषद्, नयी दिल्ली की आर्थिक सहायता से प्रकाशित है। इसमें प्रस्तुत किये गये सभी विचारों के लिए लेखक स्वयं उत्तरदायी है। इस सम्बन्ध में परिषद् की कोई जिम्मेदारी नहीं है।

सांख्य एवं काश्मीर शैव दर्शन में सृष्टि

प्रथम संस्करण : १९९७

मूल्य : १७५ रु०

प्रकाशक :
प्रशान्त प्रकाशन
१२८, बालाजी नगर, नगवा,
वाराणसी
फोन नं० : ३१२०६६

कम्पोजिंग
सरिता कम्प्यूटर्स
डी ५६/४८ ए०, औरंगाबाद, वाराणसी
फोन नं० : ३५९५२१

समर्पण

पूज्य पिताजी श्री उमा शंकर द्विवेदी

एवं

पूजनीय माताजी श्रीमती पौढारी देवी

के

चरणों में

सादर एवं सविनय

समर्पित

प्ररोचना

सृष्टि की समस्या वैज्ञानिक जगत् में जितनी जटिल एवं महत्त्वपूर्ण रही है, उतनी ही दार्शनिक जगत् में। यूनान के प्रारम्भ के दार्शनिक वैलीज अनैग्जीमिनीज एवं अनैम्जी मैण्डर आदि सृष्टि वैज्ञानिक हैं तो नासदीय सूक्त एवं पुरुष सूक्त के ऋषि उनसे कम सृष्टिपरक चिन्तक नहीं हैं। दार्शनिकता की दृष्टि से जिस ऊँचाई पर वे हैं अभी तक वह ऊँचाई किसी भी दार्शनिक अथवा वैज्ञानिक के लिए सर्वथा स्पृहणीय वस्तु है।

यह परम प्रसन्नता की बात है कि डॉ०विजय शंकर द्विवेदी अपने शोधप्रबन्ध का प्रकाशन कर रहे हैं। काश्मीर शैव दर्शन एवं सांख्यदर्शन का सृष्टिपरक चिन्तन सम्भवत: यह प्रथम तुलनात्मक एवं समीक्षात्मक गवेषणा है जिसमें भारतीय दर्शन की दो समानान्तर आस्तिक विद्याओं का इस गहराई से आलोचन-विश्लेषण हुआ है जिसमें समूचा भारतीय चिन्तन-सागर मथित होकर साररूप में ऊपर आकर गम्भीर पाठक के लिए आस्वाद्य हो गया है। यदि सांख्यदर्शन भारतीय आस्तिक दर्शन का एक प्राचीनतम विशाल चिन्तन है, जिसमें निगम की विद्या का एक समीक्षात्मक द्वैतरूप है, तो काश्मीर शैवदर्शन आगमिक विद्या का उतना ही समीक्षात्मक किन्तु अद्वैतपरक चिन्तन का एक महनीय एवं मनोहारी रूप है जिसमें प्रकाश एवं विमर्श, ज्ञान एवं क्रिया, पुरुष एवं प्रकृति, शिव एवं शक्ति का अद्भुत सामरस्य है। दर्शन-वैविध्य का आधार रुचि-वैचित्र्य है किन्तु सभी भारतीय दार्शनिक विद्याओं का एकमात्र अभिलक्ष्य आत्म-साक्षात्कार, सच्चिदानन्द का साक्षात्कार है।

डॉ०द्विवेदी को हम बधाई देते हैं एवं मंगल कामना करते हैं कि वह इस प्रकाशन से सन्तुष्ट न हो गवेषणा करते रहें, आवृत तथ्यों का समय-समय पर अनावरण करते रहें।

रेवतीरमण पाण्डेय
पूर्व आचार्य जवाहरलाल नेहरू भारती-पीठ
महात्मागान्धी संस्थान, मारीशस
एवं
अध्यक्ष, दर्शन एवं धर्म विभाग
का०हि०वि०वि०, वाराणसी

प्रकाशकीय

आचार्य रामचन्द्र द्विवेदी (१५ जून, १९३५ - २७ सितम्बर, १९९३) आधुनिक संस्कृत जगत् के ऐसे आचार्य थे जिन्होंने भारतीय विद्या का परम्परागत और आधुनिक दोनों पद्धतियों से गहन अध्ययन करके अपनी असाधारण प्रतिभा के द्वारा हिन्दी, संस्कृत और आङ्ग्ल भाषाओं में लेखन-प्रवचन के माध्यम से भारतीय वाङ्मय की श्रीवृद्धि की। उनकी प्रतिभा, विद्वत्ता और व्यवहार प्रेरणादायी और अनुकरणीय रहा है। अतः उनका पुण्य-स्मरण संस्कृति का आराधन है।

आचार्य द्विवेदी के प्रिय विषयों में संस्कृत साहित्य और साहित्य शास्त्र, तन्त्र शास्त्र और विशेषतः काश्मीर शैव दर्शन रहे हैं। अतः उनकी स्मृति में प्रारम्भ की गई ग्रन्थमाला में इन विषयों को प्राधान्य दिया गया है। इस ग्रन्थमाला का यह तृतीय पुष्प है। इससे पूर्व "कालिदास के काव्य में सादृश्येतर अलंकार" द्वारा डॉ॰विष्णुराम नागर तथा "तन्त्रालोक में कर्मकाण्ड" द्वारा डॉ॰बीना अग्रवाल (दोनों के सम्पादन द्वारा डॉ॰सूर्यप्रकाश व्यास) को हम जिज्ञासुओं के समक्ष प्रस्तुत कर चुके हैं। आशा है, पूर्व की भाँति यह पुष्प भी भारतीय विद्या के उपवन में सुगन्धि का विस्तार करेगा।

यह ग्रन्थ मूल रूप में डॉ॰विजय शंकर द्विवेदी द्वारा "काश्मीर शैव दर्शन एवं सांख्य दर्शन में सृष्टि का स्वरूप" शीर्षक से, प्रो॰लक्ष्मीनिधि शर्मा के निर्देशन में काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में प्रस्तुत एवं स्वीकृत प्रबन्ध है। लेखक ने इसमें विषय का निर्वाह बड़ी कुशलता और प्रामाणिकता से किया है। फिर भी इसे व्यवस्थित पुस्तक का स्वरूप देने और प्रतिपादन को अद्यतन बनाने के लिए सम्पादन आवश्यक था। इस दुरुह, श्रमसाध्य और समयसाध्य सम्पादन कार्य को डॉ॰कृष्णकान्त शर्मा, उपाचार्य, संस्कृतविद्या धर्मविज्ञान संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय ने जो कि भारतीय दर्शन के दोनों ही सम्प्रदायों के निष्णात विद्वान् हैं, अत्यन्त कुशलता से पूर्ण किया इसके लिए वे अभिनन्दनीय हैं। शारीरिक अस्वस्थता के बावजूद उन्होंने अनुपम श्रम, लगन व निष्ठा से इसके सम्पादन का 'गोवर्द्धन' जिस सफलतापूर्वक उठाया यह उनके जैसे 'कृष्ण' की ही सामर्थ्य थी। इसके लिए प्रकाशक-परिवार उनको साधुवाद देना अपना पावन कर्तव्य मानता है।

भारतीय इतिहास अनुसन्धान परिषद्, दिल्ली ने इस पुस्तक के प्रकाशन में आर्थिक सहयोग किया है। इस सहयोग के बिना एक उत्तम अनुसन्धान को प्रकाश में लाने में अनेक बाधाएँ थीं। अतः लेखक, सम्पादक और प्रकाशक की ओर से उक्त संस्था के प्रति हार्दिक आभार प्रकट करते हुए हर्ष है। सरिता कम्प्यूटर्स, वाराणसी के पदाधिकारी एवं कार्यकर्ता भी इस प्रसंग में धन्यवादार्ह हैं जिन्होंने प्रस्तुति को सुन्दर एवं आकर्षक स्वरूप देने में अपनी भूमिका का निर्वाह किया।

प्रशान्त व्यास

आमुख

काश्मीर शैव दर्शन भारतीय चिन्तन की आगम परम्परा को वैसा ही हृदयस्पर्शी, तार्किक एवं युक्तियुक्त रूप प्रदान करता है जैसाकि अद्वैत वेदान्त निगम परम्परा को प्रदान करता है। शांकर वेदान्त अद्वैत विचारों की अधिकाधिक युक्तिपूर्ण एवं सर्वग्राही व्याख्या प्रस्तुत करता है। इसी प्रकार वेदों और आगम ग्रन्थों में पाये जाने वाले अद्वैत विचारों के आधार पर आचार्य अभिनवगुप्त ने एक भावपूर्ण एवं युक्तियुक्त रूप प्रस्तुत कर भारतीय संस्कृति एवं चिन्तन को समग्ररूप प्रदान किया है। शांकर वेदान्त सांख्य दर्शन के विचारों की अद्वैतपरक व्याख्या और मायावाद की दिशा में किया हुआ सांख्य का रूपान्तरण है। सांख्य दर्शन के समान ही काश्मीर शैव दर्शन में भी पुरुष के ज्ञानरूप होने, प्रकृति के क्रियारूप या शक्तिरूप होने, सृष्टि को यथार्थ मानने जैसे अनेक विषय मिलते हैं। सांख्योक्त सृष्टि-विकास के पच्चीस तत्त्वों के क्रम को भी काश्मीर शैव दर्शन में स्वीकार किया गया है। दोनों ही दर्शनों के सृष्टि-सम्बन्धी विचारों में समानताएँ हैं और कुछ विषमताएँ हैं। इसके अतिरिक्त दोनों ही दर्शनों की अपनी-अपनी विशेषताएँ भी हैं।

सांख्य दर्शन में वैराग्य, विवेकख्याति पर बल दिया गया है जो, जीवन के परमलक्ष्य की दृष्टि से निषेधात्मक दृष्टिकोण को पुष्ट करता है। इसी निषेधात्मक दृष्टिकोण की चरमनिष्पत्ति शांकर वेदान्त में होती है। काश्मीर शैव दर्शन दार्शनिक जीवन की भावनात्मक व्याख्या प्रस्तुत करता है। साथ ही साथ वह जीवन से सम्बन्धित अनेक उन महत्त्वपूर्ण समस्याओं की यथार्थपरक एवं स्वीकारात्मक व्याख्या प्रस्तुत करता है जिन्हें वैदिक एवं अवैदिक दर्शनों में बहुत गम्भीरता से नहीं लिया गया है किन्तु आगम ग्रन्थों में प्रमुख स्थान दिया गया है। इस प्रकार काश्मीर शैव दर्शन सांख्य दर्शन के अधूरे कार्य को पूर्ण करता है। काश्मीर शैव दर्शन, सांख्य दर्शन के पुरुष को ज्ञान-स्वरूप मानने, ज्ञानरूपता की प्राप्ति, परम पुरुषार्थ स्वीकार करने सम्बन्धी विचारों तक उसके साथ-साथ चलता है किन्तु इसके आगे पुरुष को शिव-शक्ति स्वरूप मानकर ज्ञान क्रिया का द्वैत, पुरुष-प्रकृति का द्वैत समाप्त करने, मोक्षावस्था में आनन्दरूपता की प्राप्ति की व्याख्या करने में वह सांख्य दर्शन से आगे जाकर भारतीय चिन्तन को सम्पूर्णता एवं समग्रता प्रदान करता है। इस प्रकार पूर्णत्ववादी शैव दार्शनिकों ने अपने समग्र एवं समन्वयात्मक दृष्टिकोण से उस द्वैतपरक द्वन्द्व को समाप्त कर दिया जो सृष्टि-सम्बन्धी चिन्तन को सीमित

एवं अधूरा बना रहा था। प्रस्तुत कृति सांख्य एवं काश्मीर शैव दर्शन में सृष्टि की अवधारणा, सृष्टि-प्रक्रिया, कारणता सिद्धान्त तथा दोनों के तुलनात्मक अध्ययन का एक प्रयास है।

वर्तमान कृति को प्रस्तुत रूप दे पाने में लेखक अपनी सम्पूर्ण अकिंचनता के साथ उन सदाशयी व्यक्तियों का ऋणी है, जिनसे उसे यत्किंचित् निर्देश, सहयोग एवं प्रेरणाएँ मिलती रही हैं।

जिन पूर्वसूरियों की कृतियों का मैंने उपयोग किया है, सबका निर्देश पुस्तक के मुख्य भाग अथवा पादटिप्पणियों में किया गया है। उन सबकी पुस्तकों द्वारा जो मार्गदर्शन हुआ है, उस हेतु मैं सबके प्रति अपने को ऋणी मानता हूँ। अपने गुरु प्रोफेसर लक्ष्मी निधि शर्मा (अवकाश प्राप्त), दर्शन विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय का मैं सर्वाधिक ऋणी हूँ, जिन्होंने इस कृति को प्रस्तुत रूप देने में हर सम्भव सहायता की। गुरुवर प्रोफेसर एन०एस०एस०रमन (अवकाश प्राप्त), प्रोफेसर रेवतीरमण पाण्डेय तथा प्रोफेसर कमलाकर मिश्र, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय का भी कृतज्ञतापूर्वक स्मरण करता हूँ जिनकी प्रेरणा एवं उत्साहवर्धन से यह कृति पूरी हो सकी।

मैं अपने श्रद्धेय माता-पिता का सदैव ऋणी रहूँगा जिनके आशीर्वाद से आज मैं इस कृति को प्रस्तुत करने में सफल हुआ हूँ। मैं अपने अग्रजों, श्री सदा शंकर द्विवेदी एवं श्री कृपा शंकर द्विवेदी को भी नहीं भुला सकता जिन्होंने इस कृति को पूर्ण करते समय मुझे सभी प्रकार की कठिनाइयों एवं अन्य पारिवारिक दायित्वों से मुक्त रखा। मैं परिवार के अन्य सदस्यों तथा सभी मित्रों का आभारी हूँ जिन्होंने मुझे यथासम्भव सहयोग दिया।

अन्त में, भारतीय इतिहास अनुसंधान परिषद्, नई दिल्ली के प्रति अपनी कृतज्ञता अर्पित करता हूँ जिससे मुझे इस कृति के प्रकाशन हेतु आर्थिक सहायता प्राप्त हुई।

विजय शंकर द्विवेदी

प्रस्तावना

हम सब कौन हैं? हम कहाँ से आये हैं? चारों ओर दृश्यमान यह जो जगत् है, इसका सही स्वरूप क्या है? इसकी उत्पत्ति कहाँ से हुई है? इसकी सृष्टि का मूल कारण कौन है? यह मूल कारण चेतन है अथवा जड़? इस जगत् में हमारा क्या कर्तव्य है, क्या अकर्तव्य है इत्यादि प्रश्नों का यथोचित उत्तर देने का प्रयास ही दर्शन का मुख्य उद्देश्य है।

सृष्टि के मूल में कौन सा तत्त्व है इसका अन्वेषण विभिन्न भारतीय दर्शनिकों ने अपनी-अपनी दृष्टि से किया है। यहाँ पर सांख्य दर्शन एवं काश्मीर शैव दर्शन की दृष्टि से सृष्टि के सम्बन्ध में कुछ विचार प्रस्तुत है।

सांख्य दर्शन में सृष्टि-सम्बन्धी विचार

सांख्य के अनुसार प्रकृति और पुरुष ये दो ही संसार के मूल तत्त्व हैं। प्रकृति जड़ एवं त्रिगुणात्मिका है और पुरुष चेतन। सांख्य जड़ प्रकृति को ही जगत् का मूल कारण स्वीकार करता है। सारा विश्व प्रकृति का ही परिणाम है। सांख्य की दृष्टि से सृष्टि के रहस्य को समझने के लिए सांख्य के परिणामवाद को समझना आवश्यक है। अतः यहाँ पर सांख्य के परिणामवाद पर विचार किया जा रहा है।

परिणामवाद

एक तत्त्व का दूसरे तत्त्व के रूप में वास्तविक परिवर्तन परिणाम है। अर्थात् किसी वस्तु का अपनी पूर्वावस्था को छोड़कर दूसरी अवस्था को प्राप्त कर लेना उस वस्तु का परिणाम है। जैसे— दूध का दही के रूप में परिणत होना, मिट्टी का घड़ा बन जाना और सुवर्ण का कुण्डल बन जाना परिणाम है। वेदान्तसार में परिणाम या विकार का लक्षण इस प्रकार उद्धृत है—

"सतत्त्वतोऽन्यथाप्रथा विकार इत्युदीरितः"[१]

अप्पयदीक्षित ने भी "तत्त्वतोऽन्यथाभावः परिणामः"[२] इस प्रकार का लक्षण किया है। इस प्रकार तात्त्विक अन्यथा प्रथा या अन्यथाभाव ही परिणाम है। परिणाम

---

१. वेदान्तसार, पृष्ठ १२१।

२. ब्रह्मसूत्र १/२/२१ पर वेदान्त कल्पतरु परिमल।

का अर्थ उत्पत्ति नहीं है। अपितु आविर्भाव या प्रकट होना है। जो वस्तु कारणभूत तत्त्व में पहले से अव्यक्तरूप में विद्यमान है किन्तु प्रकट नहीं है, उसका कार्य के रूप में प्रकट होना ही परिणाम है। जिस प्रकार अन्धकार में विद्यमान घट दृश्य नहीं होता, फिर भी उसका अस्तित्व बना रहता है। दीपक के जलते ही अंधकार में पहले से विद्यमान वह घट दृश्य हो जाता है, इससे हम यह तो नहीं कह सकते कि दीपक से घट की उत्पत्ति हुई अपितु हम यह कहेंगे कि दीपक से पहले से ही अंधकार में विद्यमान घट की अभिव्यक्ति हुई। ठीक उसी प्रकार कारण में पहले से विद्यमान कार्य की अभिव्यक्ति ही परिणाम है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि क्रिया द्वारा अमूर्त से मूर्त का, अस्पष्ट से स्पष्ट का, अव्यक्त से व्यक्त का या सूक्ष्म से स्थूल का जो आविर्भाव होता है वही परिणाम है। परिणाम की परिभाषा प्रस्तुत करते हुए युक्तिदीपिकाकार ने कहा है— ''परिणामो नामावस्थितस्य द्रव्यस्य धर्मान्तरनिवृत्तिः धर्मान्तर-प्रवृत्तिश्च''[१] अर्थात् स्वरूपतः पहले से अवस्थित द्रव्य के एक धर्म का तिरोधान एवं दूसरे धर्म के प्रकट होने का नाम ही परिणाम है। इसका तात्पर्य यही है कि कोई भी वस्तु कारण-व्यापार से पूर्व अपने कारण में सूक्ष्म रूप से विद्यमान रहता है। कारण-व्यापार से जब उसका आविर्भाव हो जाता है उसी को हम उसे वस्तु का उत्पन्न होना कहते हैं। वस्तुतः कारण-व्यापार से उसकी कोई नयी सृष्टि नहीं होती केवल उसके गुणों या धर्मों में ही कुछ परिवर्तन हो जाता है। धर्म और धर्मी, अवयव और अवयवी परस्पर सम्बद्ध होते हैं, उन्हें हम न तो सर्वथा भिन्न मान सकते हैं न अभिन्न। पूर्व धर्मों का तिरोभाव होकर अन्य धर्मों या विशेषों का आविर्भाव ही परिणाम है। जैसे— आम्र का पल्लव धूप के कारण अपनी श्यामता को छोड़कर पीतता को प्राप्त हो जाता है, किन्तु इससे उस पल्लव की आम्रता में कोई परिवर्तन नहीं होता अर्थात् श्यामता को छोड़कर पीतता को प्राप्त होने पर भी आम्र-पल्लव आम्र-पल्लव ही रहता है, केवल श्याम के स्थान पर वह पीत कहलता है। कारण का कार्यरूप में परिणाम इसी प्रकार धर्मान्तर की प्राप्ति है। परिणाम के इसी स्वरूप को स्पष्ट करते हुए युक्तिदीपिकाकार ने एक कारिका इस प्रकार उद्धृत की है—

जहद् धर्मान्तरं पूर्वमुपादत्ते यदा परम्।
तत्त्वादप्रच्युतो धर्मी परिणामः स उच्यते ।।[२]

अर्थात् जब अपने स्वरूप से बिना च्युत हुआ धर्मी पूर्व धर्म को छोड़ता हुआ अन्य धर्म को प्राप्त करता है उसे परिणाम कहते हैं। तात्पर्य यह है कि जब शक्त्यन्तर

१. युक्तिदीपिका - सांख्यकारिका ९।

२. युक्तिदीपिका - सांख्यकारिका १६।

का अनुग्रह प्राप्त कर अपने पूर्व धर्मों को तिरोहित करके अपने स्वरूप से अप्रच्युत होता हुआ धर्मी एक दूसरे धर्म के साथ प्रकट होता है वह अवस्था परिणाम है।

वास्तव में एक ही द्रव्य में अनेक धर्म होते हैं। धर्मों में परिवर्तन के पूर्व धर्मी सामान्य होता है। जैसे पृथ्वी सामान्य है और घट आदि विशेष और ये घट आदि उसके धर्म कहलाते हैं। शक्ति ही सामान्य है और उस शक्ति की प्रवृत्ति ही विशेष या कार्य है। सुख-दु:ख-मोहात्मक शक्तियाँ ही महत् से लेकर विशेष पर्यन्त स्वरूप में परिणाम को प्राप्त करती हैं और वे शक्तियाँ सदैव सामान्य प्रतीति का निमित्त होने से अपने धर्मी स्वरूप से अप्रच्युत रहती हैं। महदादि विशेष पर्यन्त समस्त तत्त्व सुखादि शक्तियों का धर्म है। शक्ति ही परिणामिनी है और उससे विश्व की उत्पत्ति हो सकती है। सांख्य के अनुसार विश्व की वह परिणामिनी शक्ति मूल-प्रकृति है जिसका परिणाम यह समस्त विश्व है।

मूल प्रकृति को जगत् के मूल कारण के रूप में स्वीकार करने के पीछे सांख्य का कार्य-कारण भाव है। अर्थात् सांख्य के अनुसार कार्य कारण-गुणात्मक होता है। कारण में जो गुण होते हैं वे ही कार्य में परिलक्षित होते हैं। हम देखते हैं कि सम्पूर्ण जगत् सुखदु:खमोहात्मक है अर्थात् त्रिगुणात्मक है। अत: सुखदु:खमोहात्मक त्रिगुणात्मक जगत् का जो मूल कारण होगा वह भी अवश्य ही सुखदु:खमोहात्मक होगा। यदि हम सुखदु:खमोहात्मक त्रिगुणात्मक प्रकृति को छोड़कर चेतन को सृष्टि का मूल कारण मानते हैं तो सुखदु:खमोहात्मक त्रिविधता का तथा परिणामिता जड़ता आदि का विरोध होगा। इस विरोध के परिहार के लिए समस्त सृष्टि के मूल कारण के रूप में त्रिगुणात्मिका प्रकृति को स्वीकार करना आवश्यक है।

जिस कार्य-कारण भाव के आधार पर सांख्य ने त्रिगुणात्मिका प्रकृति को जगत् का मूल कारण स्वीकार किया है उस कार्य-कारण भाव के स्वरूप पर संक्षेप में प्रकाश डालना अप्रासंगिक न होगा। सांख्य का कार्य-कारण भाव सत्कार्यवाद नाम से प्रसिद्ध है अत: यहाँ पर सत्कार्यवाद का निरूपण किया जा रहा है।

सत्कार्यवाद

सांख्य दर्शन द्वारा सत्कार्यवाद की स्थापना के पीछे रहस्य यह है कि कार्य-कारण सम्बन्ध के विषय में दार्शनिकों के भिन्न-भिन्न मत हैं। कार्य को देखने पर इसका कोई कारण अवश्य होगा इस प्रकार सामान्य रूप से कारण की प्रतीति होने पर भी इसका यही कारण है इस प्रकार विशेष रूप से प्रतीति नहीं होती है। फलत: पृथिवी आदि कार्यों का परम्परया प्रकृति ही कारण है यह निश्चय नहीं हो पाता। सामान्य रूप से कारण का निश्चय होने पर—

अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां
बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः ।
अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते
जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः ।।[1]

इस श्रुति के आधार पर यद्यपि प्रकृति को कारण कहा जा सकता है तथापि कारण-विशेष के निर्धारण में दार्शनिकों में मतभेद होने के कारण प्रकृति ही समस्त कार्य का कारण है यह नहीं कहा जा सकता।

कार्य-कारण भाव के सन्दर्भ में बौद्धों का यह कहना है कि 'असतः सज्जायते' अर्थात् अभावात् भावो जायते। भावरूप कार्य का कारण अभाव है। उनके अनुसार बीज के नष्ट होने पर ही अंकुर की उत्पत्ति होती है। दूध के नष्ट होने पर ही दधि का निर्माण होता है। मृत्-पिण्ड के नष्ट होने पर ही घट बनता है। इस प्रकार बीजादि सभी कारणों के अभावग्रस्त होने पर ही चूँकि अंकुरादि कार्य दृष्टिगत होते हैं एतावता यह अनुमान किया जा सकता है कि जितने भी कार्यरूप भाव पदार्थ हैं उन सबका कारण अभावरूप है। कार्योत्पत्ति के अव्यवहित पूर्व क्षण में विद्यमान पदार्थ को हम कारण कहते हैं। चूँकि अंकुरादि कार्योत्पत्ति के अव्यवहित पूर्व क्षण में बीजादि पदार्थों का अभाव ही विद्यमान रहता है, अतः अभाव ही समस्त कार्यों का कारण सिद्ध होता है। भाव पदार्थ किसी कार्य का कारण नहीं हो सकता। यदि भाव पदार्थ से भाव पदार्थ की उत्पत्ति होती तो कारण का उपमर्दन कर कार्य कभी नहीं होता, किन्तु हम देखतें हैं कि बीजरूप कारण का उपमर्दन कर अर्थात् नाश होने पर ही अंकुर की उत्पत्ति होती है। इसीलिए बौद्धों का यह सिद्धान्त है कि अभाव से ही भाव की उत्पत्ति होती है।

सृष्टि के मूल कारण पर विचार करते हुए अद्वैत वेदान्ती कहते हैं कि सृष्टि से पूर्व ब्रह्म ही एकमात्र वस्तु था "सदेव सौम्येदमग्र आसीत्" यह श्रुति भी इसी का प्रतिपादन करती है। ब्रह्म ही अनिर्वचनीय, अनादि, अविद्यारूपी उपाधि से उपहित होकर नामरूपादि प्रपञ्च के रूप में दृष्टिगत होता है। तदनुसार सृष्टिरूप समस्त कार्य त्रिकालाबाधित अद्वितीय ब्रह्म का ही विवर्त है। अर्थात् अतात्त्विक अन्यथा-भाव है। जिस प्रकार रज्जु में सर्प का भान, शुक्ति में रजत का भान और स्वप्न में विविध विषयों का भान अतात्त्विक अन्यथाभाव मात्र है, जिस प्रकार वस्तुतः रज्जु सर्प नहीं है, सर्प रूप में प्रतीतिमात्र है, जिस प्रकार शुक्ति रजत नहीं है अपितु

---

१. श्वेताश्वतरोपनिषद् - ४/५।

चाकचिक्य के कारण रजत के रूप में प्रतीतिमात्र है और जिस प्रकार स्वप्न में विषय नहीं हैं विषयों की प्रतीतिमात्र है ठीक उसी प्रकार समस्त जगत् अद्वितीय ब्रह्म का विवर्त है, अतात्त्विक अन्यथाभाव है। यह जगत् वस्तुतः सत्य नहीं। वेदान्तियों का कहना है कि ऐसा मानने पर ही "नेह नानास्ति किञ्चन", "सर्वं खलु इदं ब्रह्म" "एकेन विज्ञातेन सर्वम् इदं विज्ञातं भवति" इत्यादि श्रुतियाँ संगत होती हैं।

कार्य-कारणभाव के विषय में नैयायिक एवं वैशेषिक कहते हैं कि 'सतः असज्जायते' अर्थात् सत् कारण से असत् कार्य की उत्पत्ति होती है। उसके अनुसार कारण के व्यापार से पूर्व कार्य असत् है। सद्रूप मृत्तिका से उसमें न रहने वाला असद् घट उत्पन्न होता है। उनके अनुसार नित्य सूक्ष्म परमाणुओं से ही द्व्यणुकादि क्रम से अनित्य जगत् की उत्पत्ति होती है। नैयायिक और वैशेषिक कहते हैं कि जगत् की उत्पत्ति में नित्य परमाणुओं को यदि कारण न माना जाय तो जगत् की उत्पत्ति को आकस्मिक मानना पड़ेगा।

कार्य-कारण भाव के विषय में उपर्युक्त मतों के विपरीत सांख्य का कहना है कि 'सतः सज्जायते' भावरूप नित्य प्रकृति में अनागत अवस्था से विद्यमान जगत् रूप कार्य कारक-व्यापार के द्वारा अभिव्यक्त होता है। तात्पर्य यह है कि सुखदुःख-मोहात्मक कार्य को देखकर हम यह समझ सकते हैं कि उसका कारण भी अवश्य सुखदुःखमोहात्मक ही होगा। सुखदुःखमोहात्मक सत्त्व-रजस्तमःस्वभाव जगत् रूप कार्य अपने कारण प्रकृति की सत्त्वरजस्तमःस्वरूपता को बताता है। अर्थात् कार्य-लिङ्गक अनुमान से सांख्य प्रकृति को ही जगत् का कारण सिद्ध करते हैं। अपने इस मत की सिद्धि के लिए ही सांख्य ने सत्कार्यवाद की स्थापना की है।

कारण-व्यापार के पश्चात् जिस प्रकार कार्य विद्यमान रहता है ठीक उसी प्रकार कारण-व्यापार के पूर्व भी कार्य अपने उपादान कारण में विद्यमान रहता है। इस सिद्धान्त की पुष्टि के लिए सांख्य ने जो युक्तियाँ दी हैं वे इस प्रकार हैं—(१) शशशृङ्ग की भाँति पहले से अविद्यमान वस्तु का उत्पादन कभी सम्भव नहीं है। बौद्धों का यह जो कथन है कि बीज के नष्ट होने के बाद ही अंकुर की उत्पत्ति होती है और मृत्तिका-पिण्ड के ध्वंस के पश्चात् ही घट की उत्पत्ति होती है। अतः अभाव ही भाव की उत्पत्ति में कारण है यह उचित नहीं प्रतीत होता। हम देखते हैं कि अध्वस्त भावरूप तंतु ही पट के उत्पादन में कारण हो पाते हैं। ठीक इसी प्रकार अध्वस्त भावरूप परमाणु ही द्व्यणुक के प्रति कारण हुआ करते हैं। अतः यह नियम नहीं है कि कार्यमात्र के प्रति कारणप्रध्वंस ही कारण हो। अंकुर की उत्पत्ति

में भी भावरूप बीज के अवयव ही कारण है। क्योंकि कार्य के अव्यवहित पूर्व क्षण में उनकी उपस्थिति रहती है। बीज-प्रध्वंस तो अन्यथा सिद्ध है। मृत्तिका एवं जल के संयोगरूप निमित्त को पाकर स्थूल होने की क्रिया के द्वारा बीज के अवयव ही अपनी पूर्व आकृति का त्याग कर दूसरी आकृति को प्राप्त होते हैं और उस दूसरी आकृति वाले बीजावयव से अंकुर की उत्पत्ति होती है, बीजप्रध्वंसरूप अभाव से नहीं। अत: बीज ही अंकुर के प्रति उपादान कारण है और बीज-प्रध्वंस निमित्त कारण है। अत: भाव से ही भाव की उत्पत्ति मानना उचित है न कि अभाव से भाव की। यदि अंकुर की उत्पत्ति में बीजाभाव को उपादान कारण माना जाय तो वह अभाव सर्वत्र सुलभ है, यहाँ तक कि मरुभूमि में भी। ऐसी स्थिति में मरुभूमि में भी अंकुर की उत्पत्ति होनी चाहिए। आकाश में भी घट की उत्पत्ति होनी चाहिए, किन्तु होती नहीं। यह भी ध्यान देने योग्य बात है कि कारण-विनाश तो सर्वत्र एकसा ही रहता है। ऐसी स्थिति में क्या कारण है कि आम्रबीज से ही आम्र-अंकुर की उत्पत्ति होती है न कि पनस-बीज से। बीज-नाश तो चाहे आम्रबीज-नाश हो या पनसबीज-नाश, उभयत्र समान ही है। इसीलिए मानना होगा कि तत्-तत् कारणों में भिन्न-भिन्न शक्ति विद्यमान रहती है जिनसे भिन्न-भिन्न कार्य उत्पन्न होते हैं। वह विशेष प्रकार की शक्ति भावरूप कारण में ही रह सकती है न कि अभावरूप कारण में।

अभाव को भाव की उत्पत्ति के प्रति कारण न मानने में यह भी हेतु है कि विनष्ट कारणों से कार्योत्पत्ति सम्भव नहीं है। कार्योत्पत्ति के लिए कार्य के साथ कारण का सम्बन्ध होना आवश्यक है। कारण के नष्ट होने पर कार्य के साथ उसका सम्बन्ध कैसे होगा? कार्य के साथ कारण का सम्बन्ध नहीं है ऐसा भी हम नहीं कह सकते क्योंकि कार्य के साथ कारण का सम्बन्ध प्रमाणसिद्ध है। इस प्रकार बौद्धों का अभाव-कारणवाद सांख्य को स्वीकार्य नहीं है।

अद्वैतियों का विवर्तवाद भी सांख्य को स्वीकार्य नहीं है क्योंकि दृढ़तर बाधक प्रमाण के अभाव में प्रत्यक्ष अनुभूत शब्दादि प्रपञ्च को मिथ्या कहना सम्भव नहीं है। जिस प्रकार अंधेरे में पड़ी हुई रस्सी (रज्जु) में जब हमें सर्प-ज्ञान होता है तब प्रकाशरूप प्रबल प्रमाण के आते ही सर्प-ज्ञान बाधित हो जाता है। यह सर्प नहीं है— इत्याकारक उत्तरवर्ति विरोधि ज्ञान से पूर्ववर्ती ज्ञान नष्ट हो जाता है। ठीक उसी प्रकार शब्दादि प्रपञ्च-ज्ञान का किसी प्रबल प्रमाण से चूँकि बाध नहीं होता है, अत: उसे मिथ्या कहना युक्तिसंगत नहीं है।

न्याय-वैशेषिकों का 'सत: असज्जायते' रूप आरम्भवाद भी सांख्य को स्वीकार्य नहीं है। इस आरम्भवाद के निराकरण के लिए सांख्य ने 'कार्यं सत्' इस प्रकार प्रतिज्ञा कर इस प्रतिज्ञा की सिद्धि के लिए पाँच युक्तियाँ प्रदान की हैं।

१. शश-शृङ्ग के समान पहले से अविद्यमान वस्तु का उत्पादन कभी भी सम्भव नहीं है। कारण के व्यापार से पूर्व यदि कार्य असत् हो तो उस असत् कार्य को सत् बनाने का सामर्थ्य किसी में नहीं हो सकता। अतः कारण-व्यापार के पश्चात् कार्य जिस प्रकार सत् है ठीक उसी प्रकार कारण-व्यापार से पूर्व भी वह सत् है। कारण-व्यापार से कारण में पहले से विद्यमान कार्य की ही अभिव्यक्ति होती है। यदि आप कहें कि कारण-व्यापार से असत् कार्य की ही अभिव्यक्ति क्यों न मानी जाय तो उसका समाधान यह है कि अभिव्यक्ति पहले से विद्यमान वस्तु की ही होती है न कि असत् की। तिलों के रगड़ने से तिलों में पहले से विद्यमान तेल की ही अभिव्यक्ति होती है। धानों के कूटनें पर धानों में पहले से विद्यमान चावलों की ही अभिव्यक्ति होती है। दुहने पर गौ में पहले से विद्यमान दूध की ही अभिव्यक्ति होती है। असत् वस्तु की अभिव्यक्ति होने में कोई दृष्टान्त नहीं है। अर्थात् असत् की न ही अभिव्यक्ति सम्भव है न ही उत्पत्ति। यही बात 'नासदुत्पादो नृश्रृङ्गवत्'[१] सूत्र के द्वारा सांख्यसूत्रकार ने कही है। अतः नैयायिकों का असत्कार्यवाद अर्थात् 'सतः असज्जायते' यह मत उचित नहीं है।

२. कारण-व्यापार से पूर्व भी अपने उपादान कारण में कार्य की सत्ता विद्यमान रहती है। इसमें दूसरी युक्ति यह है कि कार्य को करने के इच्छुक व्यक्ति उसके उपादान कारण का ही ग्रहण करता है। दधि का निर्माण करने के इच्छुक व्यक्ति उसके उपादान कारण दुग्ध का ही ग्रहण करता है, अन्य वस्तु का नहीं। अतः उपादान के ही ग्रहण किये जाने से भी यह सिद्ध हो जाता है कि कार्य अपने कारण में पहले से ही विद्यमान रहता है। अन्यथा दध्यर्थी व्यक्ति दुग्ध के अतिरिक्त किसी अन्य वस्तु का भी ग्रहण कर सकता था। इससे स्पष्ट है कि उपादान कारण के साथ कार्य का सम्बन्ध है। जो जिस उपादान कारण में विद्यमान नहीं होता वह उससे सम्बद्ध भी नहीं होता। जैसे मिट्टी से घट सम्बन्ध होता है किन्तु पटादि नहीं। अतः यह कहना होगा कि कार्य अपने उपादान कारण में पहले से विद्यमान रहता है। कार्य से सम्बद्ध कारण ही कार्य का जनक होता है। जैसे मिट्टी अपने से सम्बद्ध कार्य घट का जनक है। यदि घटरूप कार्य मृत्तिका में असत् होता तो उससे मृत्तिकारूप कारण कैसे सम्बद्ध हो पाता। असत् वस्तु के साथ सम्बन्ध सम्भव नहीं है। जैसे खरगोश का सींग जो असत् है उससे किसी सद् वस्तु का संयोग या समवाय आदि सम्बन्ध नहीं सम्भव है। इस प्रकार कार्य से सम्बद्ध कारण से ही कार्य की उत्पत्ति होने से कार्य के इच्छुक व्यक्ति उसके उपादान कारण का अन्वेषण करता है। अतः सिद्ध है कि कार्य कारण-व्यापार के पूर्व भी अपने कारण में विद्यमान रहता है।

---

१. सांख्यसूत्रम् - १/११४।

३. यदि कोई कहे कि कारण के साथ असम्बद्ध कार्य क्यों नहीं उत्पन्न होता, तो इसका समाधान यह है कि घट पट आदि की असंबद्धता तो समान ही है। अर्थात् यदि घट को हम मिट्टी से असम्बद्ध मानते हैं तो उसकी जैसी असम्बद्धता मिट्टी से है वैसी ही असम्बद्धता तन्तु से भी है ऐसी स्थिति में कारण को कार्य से असम्बद्ध मानने पर सभी कारणों से सभी कार्य उत्पन्न होने चाहिए। तन्तु से भी घट की उत्पत्ति होनी चाहिए, किन्तु यह सम्भव नहीं। सभी कार्य सभी से सम्भव नहीं होते हैं, अपितु अपने-अपने नियत कारण से ही अर्थात् सम्बद्ध कारण से ही नियत कार्य = सम्बद्ध कार्य आविर्भूत होते हैं। जैसा कि कहा गया है—

असत्त्वे नास्ति सम्बन्धः कारणैः सत्त्वङ्गिभिः ।
असम्बद्धस्य चोत्पत्तिमिच्छतो न व्यवस्थितिः ।।[1]

अर्थात् यदि कार्य अपनी उत्पत्ति के पूर्व विद्यमान न हो तो उसका सत्त्व धर्म के आश्रयभूत कारण के साथ तादात्म्य सम्बन्ध हो ही नहीं सकता। कारण के साथ सम्बन्ध न मानकर कार्य की उत्पत्ति मानने वाले के मत में तन्तुओं से ही पट या दूध से ही दही के होने की व्यवस्था नहीं बन सकेगी। सभी से सभी की उत्पत्ति होने लगेगी। अतः नियत कारण से नियत कार्य की अभिव्यक्ति की व्यवस्था है तो कार्य को कारण से सम्बद्ध और कार्य को कारण में पहले से विद्यमान मानना ही उचित है।

४. कार्य से सम्बद्ध कारण ही कार्य का जनक है। सांख्य के इस सिद्धान्त पर आक्षेप करते हुए नैयायिक पुनः यह कहते हैं कि कार्य से सम्बद्ध रहता हुआ भी सत् कारण उसी कार्य को कर सकता है जिस कार्य में वह शक्ति-युक्त हो, अर्थात् सभी कारण सभी कार्यों को उत्पन्न करने में समर्थ नहीं होते। अतः मिट्टी से ही घड़ा उत्पन्न होता है क्योंकि मिट्टी में ही घट को उत्पन्न करने की शक्ति है। कार्य-नियामक किसी अतिशयविशेष अथवा सामर्थ्यविशेष को शक्ति कहते हैं। अतः सामर्थ्ययुक्त अथवा शक्तिमान् कारण को ही कार्यजनक मानने के कारण सभी से सभी की उत्पत्तिरूप अव्यवस्था नहीं होगी। असत्कार्यवादी नैयायिकों के इस तर्क के उत्तर में सांख्य तीसरी युक्ति प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि जिस कार्य में जो कारण समर्थ होता है उस समर्थ कारण का वही कार्य होता है दूसरा नहीं। अब प्रश्न यह है कि कारण में कार्य-जनन की जो शक्ति है क्या वह सर्वकार्यविषयक है अथवा उत्पादन के शक्यकार्यविषयक? यदि वह शक्ति सर्वकार्यविषयक है तो सभी की उत्पत्ति की अव्यवस्था यथावत् बनी रहेगी अर्थात् मिट्टी में सर्वकार्यविषयक

---

१. सांख्यतत्त्वकौमुदी, सांख्यकारिका ९ में उद्धृत ।

शक्ति स्वीकार करने पर जिस प्रकार मिट्टी से घट की उत्पत्ति होती है उसी प्रकार पट आदि की भी उत्पत्ति होने लगेगी और तब मिट्टी से ही घट की और तन्तु से ही पट की उत्पत्ति की व्यवस्था नहीं बन पायेगी। यदि शक्ति को उत्पादन के शक्यकार्यविषयक स्वीकार करते हैं तो शक्यकार्य जो विद्यमान नहीं वह विषय कैसे बनेगा। कारण-व्यापार से पूर्व कार्य जब कारण में है ही नहीं तो शक्यकार्यविषयक शक्ति कैसे हो सकती है? क्योंकि विद्यमान वस्तुओं का ही विषय-विषयीभाव सम्बन्ध सम्भव है। यदि इस पर असत्कार्यवादी ऐसा कहें कि शक्ति-भेद के कारण अर्थात् शक्तिविशेष के कारण कोई कारणविशेष ही कार्यविशेष को उत्पन्न कर पाता है सभी कार्यों को नहीं तो यह प्रश्न उपस्थित होगा कि कारण में विद्यमान वह शक्तिविशेष कारण से सम्बद्ध है अथवा असम्बद्ध? यदि सम्बद्ध कहें तो अविद्यमान कार्य के साथ विद्यमान कारणनिष्ठ शक्तिविशेष का सम्बन्ध कैसे सम्भव होगा। क्योंकि सत् और असत् का सम्बन्ध नहीं हुआ करता। चूँकि अविद्यमान कार्य के साथ शक्तिविशेष का सम्बन्ध होना सम्भव नहीं है। अत: कार्य उत्पत्ति से पूर्व भी अपने कारण में सत् है इस सिद्धान्त को स्वीकार करना होगा। कारण में अव्यक्त रूप से विद्यमान कार्य को ही अभिव्यक्ति-नियामिका शक्ति समझना चाहिए।

५. सत्कार्यवाद की सिद्धि में सांख्य पाँचवीं युक्ति यह प्रस्तुत करते हैं कि कार्य कारणात्मक होता है। कारण से भिन्न कार्य नहीं होता। जब कारण सत् है तब उससे अभिन्न कार्य असत् कैसे हो सकता है? पट तन्तु से भिन्न नहीं है। तन्तु ही आतान-वितानात्मक भिन्न-भिन्न अवयव संयोगों से अवस्थान्तर को प्राप्त कर पट नाम से व्यवहृत होता है। वास्तव में पट तन्तुओं से भिन्न नहीं हैं। तन्तुरूप कारण से अभिन्न पट आदि वस्तु में 'पट उत्पन्न होता है तन्तु उत्पन्न होता है' इस प्रकार का क्रिया-भेद 'पट नष्ट होता है, तन्तु नष्ट होता है' इस प्रकार का निरोधभेद, 'यह पट है, ये तन्तु हैं' इस प्रकार की बुद्धिभेद, 'पट और तन्तु' इस प्रकार का शब्दभेद और 'पट से शरीरावरणरूप क्रिया सम्भव है किन्तु तन्तु से नहीं' इस प्रकार का अर्थ-क्रियाभेद औपाधिक है वास्तविक नहीं। जिस प्रकार कछुए के शरीर में विद्यमान कर-चरणादि अङ्ग ही उसके शरीर के बाहर प्रकट हो जाते हैं और उसके शरीर के भीतर समाहित भी हो जाते हैं, उसी प्रकार मृत्तिका में पहले से विद्यमान घट का आविर्भाव और तिरोभाव होता है। सुवर्ण में पहले से विद्यमान मुकुट कुण्डलादि का आविर्भाव एवं तिरोभाव होता है। पहले से अविद्यमान वस्तु की उत्पत्ति सम्भव नहीं है और विद्यमान पदार्थों का निरोध भी सम्भव नहीं है। जैसा कि श्रीमद्भगवद्गीता में भी कहा गया है—

'नासतो विद्यतेभावो नाभावो विद्यते सतः'।[१]

एतावता कार्य कारण-व्यापार के पूर्व भी अपने कारण में अव्यक्तरूप में विद्यमान रहता है। सांख्य का यह सिद्धान्त सर्वथा युक्तिपूर्ण है। इसी सत्कार्यवाद सिद्धान्त के आधार पर सांख्य सुखदुःखमोहात्मक त्रिगुणात्मक जगत् की मूल कारण के रूप में त्रिगुणात्मिका प्रकृति को स्वीकार करते हैं न कि चेतन को।

सृष्टि-प्रयोजन

सत्कार्यवाद सिद्धान्त के द्वारा त्रिगुणात्मक जगत् की मूलकारण के रूप में त्रिगुणात्मिका प्रकृति को स्वीकार करने के उपरान्त यह जिज्ञासा स्वाभाविक है कि सृष्टि का प्रयोजन क्या हैं? किस कारण से प्रकृति सृष्टि में प्रवृत्त होती है? इसका उत्तर देते हुए सांख्यसूत्रकार कहते हैं— "विमुक्तमोक्षार्थं स्वार्थं वा प्रधानस्य"[२] अर्थात् पुरुष (आत्मा) के मोक्ष और भोग के लिए प्रकृति की सृष्टि में प्रवृत्ति होती है। तात्पर्य यह है कि स्वभाव से ही दुःखरूप बन्ध से विमुक्त पुरुष के प्रतिबिम्बरूप दुःख के मोक्ष के लिए अथवा प्रतिबिम्ब सम्बन्ध से दुःखमोक्ष के लिए प्रकृति की जगत्-सृष्टि में प्रवृत्ति होती है अथवा अपने पारमार्थिक दुःख के मोक्ष के लिए प्रकृति की सृष्टि में प्रवृत्ति होती है। यह उसका स्वार्थ है। योगसूत्रकार भगवान् पतञ्जलि ने भी "प्रकाशक्रियास्थितिशीलं भूतेन्द्रियात्मकं भोगापवगार्थं दृश्यम्"[३] सूत्र के द्वारा यही बात बताई है। यहाँ पर यह अवधेय है कि पुरुष या आत्मा नित्य शुद्ध बुद्ध है, वह प्रकृति से सर्वथा भिन्न है। अविवेक के कारण वह प्रकृति के सम्पर्क में आता है और वह अपने चेतन स्वरूप को अचेतन प्रकृति के रूप में तथा प्रकृति के अचेतन स्वरूप को अपने में अनुभव करता है।

सुखदुःखमोहरूप गुणों के स्वरूप का अनुभव वह अपने में करता है किन्तु यह अनुभव वास्तविक नहीं है। क्योंकि आत्मा का जो चेतन स्वरूप है, वह इस सुखदुःखमोहरूप अनुभव की दशा में भी सर्वथा अपरिवर्तित ही रहता है। आत्मा को इस भ्रान्त अनुभव की दशा से हटाकर उसे मोक्ष प्राप्त करा देने के लिए ही प्रकृति की सृष्टि में प्रवृत्ति होती है। अब प्रश्न यह उठता है कि यदि मोक्ष ही जगत्-सृष्टि का मुख्य प्रयोजन है, तो एक बार की जगत्सृष्टि के द्वारा ही सभी आत्माओं का मोक्ष हो जाना चाहिए, तब बार-बार सृष्टि करना निरर्थक ही कहा जायेगा। इसका

---

१. श्रीमदभगवद्गीता २/१६।

२. सांख्यसूत्रम २/१।

३. पातञ्जलयोगसूत्रम् २/१८।

समाधान देते हुए सांख्य कहते हैं कि एकबार सृष्टि कर देने मात्र से मोक्ष सम्भव नहीं है किन्तु अनेक बार जन्ममरण व्याधि आदि के विविध दुःखों से अत्यन्त तप्त रहने के कारण विरक्त हुए व्यक्ति को ही मोक्ष की प्राप्ति होती है। तात्पर्य यह है कि प्रकृति पुरुष की विवेकख्याति से उत्पन्न तीव्र वैराग्यसम्पन्न व्यक्ति को ही मोक्ष की प्राप्ति होती है।

एक बार की सृष्टि-रचना से ही वैराग्य उत्पन्न न होने में यह भी कारण है कि अध्यात्मप्रवचन का श्रवण भी अनेक जन्मार्जित पुण्य से होता है। केवल श्रवण करने मात्र से वैराग्य की उत्पत्ति नहीं होती अपितु साक्षात्कार से ही होती है। साक्षात्कार भी सहसा नहीं होता क्योंकि अनादि वासना बलवती होती है। साक्षात्कार योगनिष्ठा से होता है और योग में प्रतिबन्ध की बहुलता के कारण कदाचित् किसी को ही अनेक जन्मों के बाद वैराग्य और मोक्ष की प्राप्ति होती है। जैसा कि श्रीमद्भगवद्गीता में भी स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा है—

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद् यतति सिद्धये ।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः ।।[१]

वैराग्य की प्राप्ति के लिए पवित्र भावना से निरन्तर अभ्यास की आवश्यकता होती है। वैराग्य की उत्पत्ति में सबसे बड़ी बाधिका जो अनादि वासना है उसका क्षय श्रवण मनन और निदिध्यासन से शनैः शनैः हो पाता है। एक बार की सृष्टि-रचना से वासना का क्षय नहीं होता। यही कारण है कि सृष्टि-प्रवाह को अनादि अनन्त माना गया है।

सृष्टि के प्रवाह के बने रहने में एक अन्य हेतु प्रस्तुत करते हुए सांख्यसूत्रकार ने एक दृष्टान्त प्रस्तुत किया है। जिस प्रकार एक गृहस्थ व्यक्ति को अपने पर आश्रित परिवार के स्त्री, पुत्र आदि भेद से प्रत्येक व्यक्ति का भरण-पोषण करना पड़ता है ठीक उसी प्रकार सत्त्वादि गुणों पर भी असंख्य पुरुषों में से प्रत्येक पुरुष को मुक्त करने का भार है। अतः कतिपय पुरुषों के मुक्त हो जाने पर भी अन्य पुरुषों की मुक्ति के लिए सृष्टि का प्रवाह चलते रहना उचित ही है। यहाँ यह भी ध्यान देने योग्य है कि सांख्य सिद्धान्त में पुरुषबहुत्व स्वीकृत है अर्थात् बद्ध पुरुषों की अनन्तता है। योगसूत्रकार का यह सूत्र— "कृतार्थं प्रति नष्टमप्यनष्टं तदन्यसाधारणत्वात्"[२] भी सृष्टिप्रवाह की निरन्तरता को ही स्पष्ट करता है। तदनुसार मुक्त पुरुषों के प्रति नष्ट हो जाने पर भी अन्य पुरुषों की दृष्टि से यह दृश्य जगत् नष्ट नहीं होता। उनके

---

१. श्रीमद्भगवद्गीता ७/३।

२. पातञ्जलयोगसूत्रम् २/२२।

लिए यह ऐसा ही बना रहता है। संसार के असंख्य पुरुषों में से प्रत्येक के भोग और अपवर्ग के होने तक प्रकृति की प्रवृत्ति होती रहती है। अतः सृष्टिप्रवाह अनादि और अनन्त है।

प्रकृति ही स्रष्ट्री क्यों?

प्रकृति को ही सृष्टि की रचना करने वाली क्यों मानते हैं? तैत्तिरीयोपनिषद् ने तो "एतस्मादात्मन: आकाश: संभूत:"[१] अर्थात् अज्ञानरूपी उपाधि से उपहित आत्मा से आकाश की उत्पत्ति हुई। इस श्रुति वाक्य से आत्मा (पुरुष) ही सृष्टि करता है ऐसा प्रतीत होता है। अत: प्रकृति को स्रष्ट्री मानने में क्या हेतु है। इसका उत्तर देते हुए सांख्यसूत्रकार कहते हैं— "प्रकृतिवास्तवे च पुरुषस्याध्याससिद्धि:"[२] अर्थात् प्रकृति की सत्ता और उसके स्रष्टृत्व को वास्तविक मानने पर भी पुरुष में स्रष्टृत्व का अध्यास सिद्ध हो पाता है। पुरुष चेतन है चेतन पुरुष में अचेतन प्रकृति की और अचेतन प्रकृति में चेतन पुरुष की प्रतीति होना ही अध्यास है। यदि अचेतन प्रकृति की सत्ता को वास्तविक न मानकर कोरी कल्पनामात्र कहें तो पुरुष में स्रष्टृत्व का अध्यास कैसे सम्भव होगा। पुरुष का भोगापवर्ग प्रकृति के बिना सम्भव नहीं है "एतस्मादात्मन: आकाश: संभूत:" इस श्रुतिवाक्य का तात्पर्य उपासना में है क्योंकि "अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णाम्" इत्यादि अन्य श्रुतिवाक्य से स्पष्ट रूप में प्रकृति का स्रष्टृत्व बताया गया है अन्यथा पुरुष की कूटस्थ चिन्मात्रता के बोधक अन्य श्रुतिवाक्य के साथ इसका विरोध होगा। जिस प्रकार लोकव्यवहार में राजाओं के शक्तिरूप योद्धाओं के जय-पराजय का राजा में औपचारिक व्यवहार किया जाता है ठीक उसी प्रकार पुरुष की शक्तिरूप प्रकृति में विद्यमान स्रष्टृत्व का शक्तिमान् पुरुष में औपचारिक व्यवहार किया जाता है। प्रकृति के परिणाम को देखकर भोग और अपवर्ग की सिद्धि होने से प्रकृति के वास्तविक स्रष्टृत्व का निश्चय किया जाता है। अत: पुरुष को भोग और मोक्ष प्राप्त करा देना ही प्रकृति द्वारा सृष्टि-रचना का मुख्य प्रयोजन है। यहाँ पर यह ध्यान देने योग्य है कि चेतन के अनुसार ही प्रकृति की प्रवृत्ति होती है। अत: जिस प्रकार एक ही कंटक से अभिज्ञ चेतन दूर रहता है। फलत: अभिज्ञ चेतन के प्रति वह दु:खदायक नहीं होता है किन्तु अनभिज्ञों के प्रति वह कंटक दु:खदायक होता है ठीक उसी प्रकार अभिज्ञ चेतन के कृतार्थ होने से उसे वह त्याग देती है अर्थात् अभिज्ञ चेतन के लिए वह दु:खात्मिका नहीं होती किन्तु अनभिज्ञों के प्रति वह दु:खात्मिका होती है। अत: अभिज्ञ चेतन के लिए प्रकृति

---

१. तैत्तिरीयोपनिषद्, ब्रह्मवल्ली, प्रथम अनुवाक।

२. सांख्यसूत्रम् २/५।

अपवर्ग के साधनों को उपस्थित करती है और अनभिज्ञ चेतनों के लिए भोग के साधनों को। यही कारण है कि सभी चेतनों को एक साथ भोग या अपवर्ग की प्राप्ति नहीं होती। दूसरे शब्दों में कहें तो विवेकी पुरुष के लिए अपवर्ग एवं अविवेकी पुरुष के लिए भोग होते हैं।

सृष्टि की उत्पत्ति में पुरुष का सहयोग रहने पर भी उससे भोगापवर्ग साक्षात् सम्भव नहीं है, क्योंकि पुरुष स्वयं ही सृष्टि के रूप में परिणत नहीं होता। साक्षात् भोगापवर्ग तो उसी से सम्भव है जो सृष्टिरूप में विद्यमान हो। जिस प्रकार गरम लोहे को छूने पर वह हाथ को जला देता है किन्तु वस्तुतः दाह अग्नि से ही होता है न कि लोहे से फिर भी औपचारिक प्रयोग किया जाता है कि लोहे से जल गया ठीक उसी प्रकार प्रकृति के साथ पुरुष का सहयोग रहने पर भी भोगापवर्ग करने वाली प्रकृति ही है। अतः सृष्टि का मूल कारण प्रकृति ही है यह सांख्य का सिद्धान्त है।

अचेतन प्रकृति द्वारा सृष्टि कैसे?

प्रकृति अचेतन है। अतः वह चेतन ईश्वर से अधिष्ठित हुए बिना कैसे प्रवृत्त हो सकती है। स्वप्रयोजन या परप्रयोजन के उद्देश्य से वह स्वयं प्रवृत्त नहीं हो सकती। इसका समाधान करते हुए सांख्यकारिकाकार ने एक दृष्टान्त प्रस्तुत किया है—

वत्सविवृद्धिनिमित्तं क्षीरस्य यथा प्रवृत्तिरज्ञस्य ।
पुरुषविमोक्षनिमित्तं तथा प्रवृत्तिः प्रधानस्य ।।[१]

अर्थात् अचेतन पदार्थ की भी परप्रयोजनार्थ प्रवृत्ति हुआ करती है। जिस प्रकार बछड़े के सम्वर्धन हेतु बछड़े के स्वरूप से अनभिज्ञ अतएव जड़ होकर भी गो-दुग्ध की निःस्वार्थ प्रवृत्ति होती है, ठीक उसी प्रकार शरीरस्थ चेतन के मोक्ष के लिए जड़ प्रकृति की प्रवृत्ति होती है। इसी बात को सांख्यसूत्रकार ने भी "अचेतनत्त्वेऽपि क्षीरवच्चेष्टितं प्रधानस्य"[२] तथा "कर्मवद्दृष्टेर्वा कालादेः"[३] इन सूत्रों के द्वारा कहा है।

यहाँ पर प्रकृति के जड़ होने पर भी उसकी स्वतः प्रवृत्ति में दूध का उदाहरण विशेष अभिप्राय से दिया गया है। वह अभिप्राय यह है कि दुग्ध का प्रस्रवण सजीव माता के स्तन से ही हो सकता है निर्जीव माता के स्तन से नहीं। जैसे दुग्ध का

---

१. सांख्यकारिका ५७।

२. सांख्यसूत्रम् ३/५९।

३. वहीं, ३/६०।

प्रस्त्रवण सजीव मातृदेह से ही हो सकता है अर्थात् चेतन से प्रेरित होकर के ही हो सकता है वैसे ही प्रकृति की प्रवृत्ति भी चेतन से प्रेरित होकर के ही होती है। इसी अभिप्राय को "धेनुवद्वत्साय"[१] सूत्र के द्वारा सांख्यसूत्रकार नें बताया है। कुछ लोग इस दृष्टान्त का अभिप्राय यह बताते हैं कि अचेतन दुग्ध जिस प्रकार स्वत: प्रवृत्त होता है ठीक उसी प्रकार अचेतन प्रकृति भी स्वत: प्रवृत्त होती है किसी चेतन की प्रेरणा से उसकी प्रवृत्ति नहीं। किन्तु यहाँ पर इस दृष्टान्त के रहस्य पर ध्यान देना आवश्यक है। इस दृष्टान्त से यह सुष्पष्ट है कि जड़ दुग्ध की प्रवृत्ति करने वाला कोई चेतन अधिष्ठाता अवश्य है अन्यथा मृत गोशरीर से भी दुग्ध का प्रस्त्रवण होते रहना चाहिए किन्तु ऐसा होता नहीं है। अपने स्वयं के बच्चे के निमित्त ही माँ के स्तन में दुग्ध आकर प्रस्त्रवित होने लगता है। इससे स्पष्ट है कि मां के हृदय में बच्चे के प्रति जो अपार स्नेहभावना है, वही उसके दुग्ध की प्रवृत्ति में निमित्त होती है। अत: दुग्ध की प्रवृत्ति को चेतननिरपेक्ष बताना उचित नहीं है। प्रकृति के स्वत: परिणत होने का अभिप्राय यही है कि प्रकृति को किसी भी प्रकार के परिणाम या उसके विकार के लिए प्रकृति के अतिरिक्त अन्य तत्त्व की आवश्यकता नहीं है। अर्थात् प्रकृति ही एकमात्र परिणमनयोग्य है। चेतन का परिणाम नहीं होता।

प्रकृति की स्वत: प्रवृत्ति में सांख्यसूत्रकार ने काल आदि के अनुसार क्रियाओं के समान प्रकृति की प्रवृत्ति का जो दृष्टान्त दिया है उसका भी अभिप्राय यही है कि भिन्न-भिन्न ऋतुओं के अनुसार कृषकों के कर्म अपने-अपने समय पर स्वयं फलित होते हैं। कृषक द्वारा बोया हुआ बीज तत् तद् ऋतु के अनुसार अंकुर के रूप में परिणत हो जाता है। पश्चात् यथासमय वह वृक्ष आदि के रूप में परिणत होता है। इस प्रक्रिया में बीजवपन तक जिस प्रकार चेतन कृषक का सम्बन्ध रहता है ठीक उसी प्रकार प्रकृति की प्रवृत्ति में भी उसके सहायक किसी चेतन नियन्ता का होना निश्चित होता है। नियन्ता के रहने पर प्रकृति की भी चेष्टा स्वत: ही हो जाती है।

काश्मीर शैव दर्शन में सृष्टि

काश्मीर शैव दर्शन के अनुसार चित् या परासंवित् (शिव) ही एकमात्र परमतत्त्व है। इसके अतिरिक्त दृश्यमान समस्त विश्व उसी की अभिव्यक्तिमात्र है। समस्त परिवर्तनशील पदार्थों का निर्विकार रूप चित् या परासंवित् ही है, जिसमें अहम् और इदम् का, ज्ञाता और ज्ञेय का भेद नहीं रहता। यह प्रकाश और विमर्शमय है। काश्मीर शैव दर्शन इसे परमशिव या महेश्वर शब्द से अभिहित करते हैं। यह

१. सांख्यसूत्रम् २/३७।

केवल प्रकाशरूप नहीं है, विमर्शरूप भी है। प्रकाश वह होता है, जिसके द्वारा सब कुछ प्रकाशित होता है। उपनिषद् ने परमतत्त्व के प्रकाश से ही सबका प्रकाशित होना स्वीकार किया है। जैसा कि कठोपनिषद् में कहा गया है— "तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति"।[1]

अब प्रश्न यह उठता है कि सूर्य भी प्रकाशमय है और हीरा भी प्रकाशमय है। परमतत्त्व की प्रकाशमयता और सूर्य, हीरा आदि की प्रकाशमयता में क्या अन्तर है। शैव दर्शन के अनुसार परमतत्त्व प्रकाशमात्र नहीं है वह विमर्श भी है अर्थात् वह अपना ईक्षण भी करता है। यह अकृत्रिम अर्थात् शुद्ध अहम् का विस्फुरण है। जैसा कि क्षेमराज ने पराप्रावेशिका में कहा है— "अकृत्रिमाहं विस्फुरणम्"[2] अर्थात् यह अहम् और इदम् के व्यवधान से शून्य स्व का बोध है। यदि यह विमर्शरूप न होकर प्रकाशमात्र होता तब वह निरीश्वर और जड़ होता जैसा कि क्षेमराज ने कहा है— "यदि निर्विमर्शः स्यादनीश्वरो जडश्च प्रसज्येत"[3] इस विमर्श के द्वारा ही परमशिव जगत् की सृष्टि स्थिति और संहार करता है। यह परमशिवतत्त्व स्वयं को चिद्रूपिणी शक्ति के रूप में भी जानता है यही उसका विमर्श है। यह चित् होने के साथ-साथ चित्शक्ति भी है। यह विश्वोत्तीर्ण भी है और विश्वमय भी। तन्त्रालोककार ने इस परमशिवतत्त्व को पूर्ण-स्वभाव कहा है।[4]

इसे किसी अन्य की अपेक्षा न होने के कारण इसे स्वतन्त्र कहा गया है। जैसा कि अभिनवगुप्त पादाचार्य ने कहा है—

तस्य देवातिदेवस्य परापेक्षा न विद्यते ।
परस्य तदपेक्षत्वात्स्वतन्त्रोऽयमतः स्थितः ।।[5]

इस परमशिव की अनन्त शक्तियाँ हैं, जिनमें से निम्नांकित पाँच शक्तियाँ मुख्य है—

१. **चित्शक्ति** – यह आत्मप्रकाशन की शक्ति है।

२. **आनन्दशक्ति** – यह परमशिव की स्वातन्त्र्यशक्ति है। वस्तुतः चित् और आनन्द परमशिव का स्वरूप ही है।

---

१. कठोपनिषद् २/२/१५।

२. पराप्रावेशिका, पृष्ठ २।

३. वहीं, पृष्ठ २।

४. तावत्पूर्णस्वभावोऽसौ परमः शिव उच्यते ।

५. श्रीतन्त्रालोक १/५८-५९, पृष्ठ १०९।

३. इच्छाशक्ति – परमशिव की सिसृक्षा अर्थात् सर्जन की प्रवृत्ति इच्छाशक्ति है। इस प्ररूप में वह सदाशिव कहलाता है।

४. ज्ञानशक्ति – ज्ञानशक्ति के रूप में परमशिव ईश्वर कहलाता है।

५. क्रियाशक्ति – समस्त आकारों को ग्रहण करने की शक्ति क्रियाशक्ति है। यह सद्विद्या या शुद्धविद्या है। समस्त विश्व परमशिव की शक्ति का उन्मेष या प्रसरमात्र है, तदतिरिक्त कुछ भी नहीं है। जगत् उसी परमशिव की अभिव्यक्ति है। यदि परमशिव में अपने को प्रकट करने की या भिन्न-भिन्न रूप में अभिव्यक्त करने की क्षमता न होती तब तो वह संवित् ही नहीं कहलाता। यदि महेश्वर एकरूप में रह जाता तब वह महेश्वरत्व और संवित्त्व का त्याग कर एक जड़ घट के समान हो जाता। जैसा कि तन्त्रालोककार ने कहा है—

अस्थास्यदेकरूपेण वपुषा चेन्महेश्वरः।
महेश्वरत्वं संवित्त्वं तदत्यक्षद् घटादिवत् ।।[१]

जिस प्रकार एक बरगद का बड़ा वृक्ष अपने बीज में शक्तिरूप में विद्यमान रहता है ठीक उसी प्रकार चराचर विश्व परमशिव के विमर्श में शक्तिरूप में विद्यमान रहता है यही विमर्श उनकी स्वातन्त्र्य या अबाधित शक्ति है। परमशिव में समस्त विश्व के शक्तिरूप में विद्यमान रहने की स्थिति को मयूराण्डरस के उदाहरण से भी समझा जा सकता है। जिस प्रकार मयूर अपने समस्त चित्रित रूप के साथ मयूराण्डरस में संभाव्यता के रूप में विद्यमान रहता है ठीक उसी प्रकार समस्त विश्व परमेश्वर की स्वातन्त्र्य शक्ति में विद्यमान रहता है।

परमशिव विश्वोत्तीर्ण और विश्वमय है। उसकी सर्जनात्मक विश्वमयता ही शिवतत्त्व है। अब हम परमशिव की सृष्टि के छत्तीस तत्वों पर संक्षेप में विचार करते हैं—

१. शिवतत्त्व– परमशिव का एक पर्याय अनुत्तर भी है। वह अनुत्तर परमशिव जब अपनी इच्छा से इस अखिल विश्व के सर्जन के लिए स्पन्दमान हुआ तब उसका वह प्रथम स्पन्द ही परमशिव को जानने वालों द्वारा शिवतत्त्व नाम से अभिहित हुआ। जैसा कि "षट्त्रिशंतत्त्वसन्दोह" में कहा गया है—

यदयमनुत्तरमूर्तिर्निजेच्छयाखिलमिदं जगत्स्रष्टुम् ।
पस्पन्दे स स्पन्दः प्रथमः शिवतत्वमुच्यते तज्ज्ञैः।।[२]

---

१. श्रीतन्त्रालोक, ३/१००, पृष्ठ ४०३।

२. षट्त्रिशंत्तत्त्वसन्दोह, पृष्ठ १, श्लोक १।

२. शक्तितत्त्व– शक्ति शिव से भिन्न नहीं है। वह शिव की सर्जनोन्मुखतामात्र है। शिव ही अपने हृदय से इच्छा-ज्ञान-क्रियारूपी त्रिकोण के माधुर्य से परिवर्धित उल्लास द्वारा स्वयं में स्थित विश्व को ईक्षण करने के लिए जब उन्मुख होता है तब वही शिव शक्तिस्वभाव वाला कहलाता है। जैसा कि महार्थमञ्जरीकार ने कहा है—

स एक विश्वमेषितुं ज्ञातुं कर्तुं चोन्मुखो भवन्।
शक्तिस्वभावः कथितो हृदयत्रिकोणमधुमांसलोल्लासः।।[१]

जब शिव अपने हृदय में बीजरूप में विद्यमान अर्थतत्त्व को बाहर प्रकट करने के लिए उन्मुख होता है तब वह शक्ति कहलाता है। शक्ति चित् की क्रियाशीलता है।

काश्मीर शैव दर्शन में शिव को एक महान् कलाकार के रूप में देखा है। जिस प्रकार एक कलाकार अपने हृदय में विद्यमान आनन्द को हृदय में ही छिपाकर नहीं रख सकता वह उसे गीत कविता या चित्र में अभिव्यक्त कर देता है ठीक उसी प्रकार विश्व का सर्वोच्च कलाकार यह परमशिव अपने आनन्द को सृष्टि के रूप में अभिव्यक्त कर देता है। शिव की शक्ति ही आनन्द से उच्छलित होकर सृष्टि के रूप में अभिव्यक्त होती है। अतः समग्र सृष्टि स्वयं शिव की ही बाह्याभिव्यक्ति है। जैसा कि क्षेमराज ने कहा है—

"आनन्दोच्छलिता शक्तिः सृजत्यात्मानमात्मना।"

शिव और शक्ति पृथक् नहीं रह सकते। शिव ईक्षिता के रूप में और शक्ति आनन्द के रूप में परस्पर संयुक्त रहते हैं।

३. सदाशिवतत्त्व– इदम् के रूप में प्रतिज्ञापन की इच्छा ही सदाशिवतत्त्व है। इस अवस्था में इच्छा का प्राधान्य रहता है। सत् का अर्थ है होना और होने में इदम् अस्फुटतया विद्यमान रहता है। मैं क्या हूँ, के उत्तर में—मैं यह हूँ। इस प्रकार अहम् इदम् का जो अनुभव है उसमें अहम् मुख्य है और इदम् अस्फुट है। इस अवस्था में जगत् अस्फुट इदम् मात्र है। जिस प्रकार चित्र बनाने से पूर्व एक चित्रकार के मन में चित्र अस्फुट रूप में विद्यमान रहता है ठीक उसी प्रकार सदाशिव में यह विश्व (इदम्) अस्फुटरूप में विद्यमान रहता है। सदाशिव तत्त्व में इदन्तारूप विश्व अहंता से आच्छादित रहता है। सदाशिव प्रथम आभास है।

---

१. महार्थमञ्जरी, पृष्ठ ४०।

४. ईश्वरतत्त्व– यह परमेश्वर की वह अवस्था है जिसमें इदम् अंश अधिक स्फुट हो जाता है। इसमें ज्ञान का प्राधान्य रहता है। समस्त वेद्य ज्ञानशक्ति के उद्रेक के कारण अधिक स्फुट होता है। सदाशिव की अवस्था में अस्फुटतया विद्यमान विश्व ईश्वर की अवस्था में अधिक स्फुट हो जाता है। सदाशिव की अवस्था में 'अहम् इदम्' इस प्रकार का परामर्श होता है और ईश्वर की अवस्था में 'इदम् अहम्' इस प्रकार का परामर्श होता है। तात्पर्य यह है कि सदाशिव की अवस्था में जो इदम् अस्फुट था वह ईश्वर की अवस्था में अधिक स्फुट एवं प्रधान हो जाता है।

५. सद्विद्या या शुद्धविद्यातत्त्व– इस अवस्था में क्रियाशक्ति का प्राधान्य होता है। अहम् और इदम् का परामर्श समान रूप से होता है फिर भी दोनों की पृथक्-पृथक् स्थिति प्रतीत होती है। अत: इस अवस्था का अनुभव भेदाभेदविमर्शनात्मक होता है। सद्विद्या की इस दशा को परापर दशा कहते हैं, चूँकि इस अवस्था में पदार्थों के वास्तविक सम्बन्धों का परामर्श होता है। अत: यह सद्विद्या या शुद्धविद्या कहलाती है।

(६-११) मायातत्त्व एवं माया के पाँच कञ्चुक– शिवतत्त्व से लेकर शुद्धविद्यातत्त्व पर्यन्त यह पाँच शुद्धाध्वा कहलाता है क्योंकि यहाँ तक महेश्वर के स्वरूप का गोपन नहीं होता है। माया-तत्त्व वह है जिसमें आकर महेश्वर का स्वरूप-गोपन होता है। यही माया अपने पाँच कंचुकों के द्वारा महेश्वर के स्वरूप का गोपन कर अहं को इदम् से और इदम् को अहम् से पृथक् कर भेद उत्पन्न करती है। माया आत्मा पर आवरण डालकर भेदबुद्धि उत्पन्न करती है। कला, विद्या, राग, काल और नियति ये पाँच माया के कंचुक हैं।

१२. पुरुष– माया के पाँच कंचुकों से शिव का सार्वभौम ज्ञान एवं ऐश्वर्य जब संकुचित हो जाता है तब वह परिमित हो जाता है और शिव की इस अवस्था को शैवदार्शनिक पुरुष शब्द से अभिहित करते हैं। पूर्ण-शिव से परिमित हो जाने के कारण वह पुरुष अणु कहलाता है।

१३. प्रकृति– सद्विद्या की अवस्था में अहं च और इदं च की जो अनुभूति होती है उसमें से अहम् अंश की अभिव्यक्ति पुरुष है और इदम् अंश की अभिव्यक्ति प्रकृति है। पुरुष वेदक है और प्रकृति केवल वेद्य है। वह सत्त्व, रजस् और तमस् का साम्यावस्था है किन्तु शैव दर्शन की यह प्रकृति सांख्य दर्शन की प्रकृति से इस अंश में भिन्न है कि सांख्य के अनुसार प्रकृति एक है किन्तु शैव दर्शन के अनुसार प्रत्येक पुरुष की प्रकृति भिन्न है। यह शिव की सान्ता शक्ति है और इसके तीन गुण शिव की ज्ञान-इच्छा और क्रियाशक्ति के स्थूलरूप हैं।

(१४-१६) बुद्धि-अहंकार और मन– बुद्धि अहंकार और मन अन्त:करण हैं। अन्त:करण का अर्थ है आन्तरिक साधन। बुद्धि प्रकृति का प्रथम तत्त्व है। यह निश्चयात्मिका है। इसके द्वारा दो प्रकार के अनुभव होते हैं। एक बाह्य अनुभव जो इन्द्रियों द्वारा ग्राह्य होता है। जैसे— घट पट आदि। दूसरा आन्तरिक अनुभव जो संस्कारों द्वारा उद्‌बुद्ध है। अहं प्रतीति जिसके द्वारा होती है, वह अहंकार है। इसके कारण ही ग्राह्य या वेद्य वस्तु अभिमत होते हैं अर्थात् वे अपने माने जाते हैं। बुद्धि तत्त्व प्रकृति का परिणाम है और अहंकार बुद्धि का परिणाम। मनस्तत्त्व अहंकार का परिणाम है। संकल्प और विकल्प करना मन का कार्य है। इन्द्रियों के सहयोग से यह प्रत्यक्ष का अनुभव करता है।

(१७-२१) पञ्च ज्ञानेन्द्रिय– पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ या बुद्धीन्द्रियाँ अहंकार के परिणाम हैं। घ्राणेन्द्रिय, रसनेन्द्रिय, चक्षुरिन्द्रिय, स्पर्शनेन्द्रिय और श्रवणेन्द्रिय ये पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ हैं। इनके द्वारा क्रमश: गन्ध, रस, रूप, स्पर्श एवं शब्द के ज्ञान होते हैं।

(२२-२६) पञ्च कर्मेन्द्रिय– पञ्च कर्मेन्द्रियाँ भी अहंकार के परिणाम हैं। जो इस प्रकार हैं— वागिन्द्रिय, हस्तेन्द्रिय, पादेन्द्रिय, पायु एवं उपस्थ इन्द्रियाँ। इनके द्वारा क्रमश: वाणि, ग्रहण, विहरण, मलत्याग एवं आनन्दरूप क्रिया सम्पन्न होती हैं। ये सभी इन्द्रियाँ शक्तियाँ हैं, जो भिन्न इन्द्रियावयवों द्वारा अपना कार्य करती हैं।

(२७-३१) पञ्च तन्मात्र– पञ्च तन्मात्र भी अहंकार के परिणाम हैं जो इस प्रकार हैं— शब्दतन्मात्र, स्पर्शतन्मात्र, रूपतन्मात्र, रसतन्मात्र और गन्धतन्मात्र।

(३२-३६) पञ्च महाभूत– पञ्च महाभूत पञ्च तन्मात्रों के परिणाम हैं। शब्दतन्मात्र का परिणाम आकाश है, स्पर्शतन्मात्र का परिणाम वायु, रूपतन्मात्र का परिणाम अग्नि, रसतन्मात्र का परिणाम जल और गन्धतन्मात्र का परिणाम पृथिवी है। इस प्रकार शिवतत्त्व से लेकर पृथिवी पर्यन्त ये छत्तीस तत्त्व परमशिव की ही अभिव्यक्ति है।

स्वातन्त्र्यवाद एवं आभासवाद

इच्छा की निरपेक्ष पूर्णप्रभुता अथवा स्वातन्त्र्य चित् का स्वभाव है। यह शक्ति स्वतन्त्र इसीलिए है कि यह किसी बाह्य उपादान या उपकरण पर आश्रित नहीं है। यह कुछ भी करने में स्वतन्त्र है और देश-काल तथा कारण आदि से परे है। यह स्वातन्त्र्य परमात्मा का ऐश्वर्य है। जैसा कि अभिनवगुप्त पादाचार्य ने कहा है—

चितिः प्रत्यवमर्शात्मा परावाक् स्वरसोदिता ।
स्वातन्त्र्यमेतन्मुख्यं तदैश्वर्यं परमात्मनः ।।[1]

स्वातन्त्र्य की परिभाषा प्रस्तुत करते हुए कहा गया है कि, अपनी इच्छा के अनुसार बिना किसी रुकावट के सब कुछ करने का सामर्थ्य ही स्वातन्त्र्य है।[2] अभिनवगुप्त-पादाचार्य ने स्वातन्त्र्य का महत्त्व प्रस्तुत करते हुए कहा है कि प्रकाश-विमर्श-स्वरूप संवित् स्वभाव वाले परमशिव स्वातन्त्र्य के माहत्म्य से ही रुद्र से लेकर स्थावर पर्यन्त प्रमाता के रूप में नील, सुख आदि प्रमेय के रूप में प्रकट होता है। ये प्रमाता और प्रमेय उस परमशिव से अभिन्न होते हुए भी भिन्न के भाँति भासित होते हैं किन्तु ये उसके स्वरूप को कभी आच्छादित नहीं कर सकते। इस प्रकार स्वातन्त्र्यवाद का प्रस्तुतीकरण किया गया है।[3]

आभासवाद

काश्मीर शैव दर्शन में महेश्वर की सृष्टि की दृष्टि से एक ओर स्वातन्त्र्यवाद है, तो दूसरी ओर जगत् की अभिव्यक्ति की दृष्टि से आभासवाद है। जिस प्रकार मयूराण्डरस में समग्र सौन्दर्य के साथ चित्र-विचित्र मयूर अभिन्न रूप से विद्यमान रहता है ठीक उसी प्रकार समग्र विश्व महेश्वर में विद्यमान रहता है। चित् या संवित् ही जगत् का अधिष्ठान है। अनेक रूपों में आभासित परिवर्तनशील यह जगत् उस चित् का ही आभास या अभिव्यक्ति है। जिस प्रकार दर्पण में प्रतिबिम्बित विभिन्न आकार दर्पण से अभिन्न हैं, ठीक उसी प्रकार परमशिव के विमल संवित्रूपी दर्पण में भिन्न-भिन्नतया भासित यह विश्व भी परमशिव से अभिन्न है। जिस प्रकार चित्र-विचित्र पदार्थ दर्पण में प्रकट होते हैं, ठीक उसी प्रकार परम-संवित् में जगत् प्रकट होता है। अन्तर उतना ही है कि परम-संवित् को विमर्श-शक्ति के द्वारा उसका बोध रहता है किन्तु दर्पण में उस प्रकार अपने में प्रतिबिम्बित पदार्थ का बोध नहीं रहता। आभास महेश्वर की कल्पनाओं का बहिःप्रक्षेपमात्र है। अन्तःस्थित कल्पनाओं को बाहर आभासित कर देना ही परमशिव की सृष्टि है। स्वयं शिव ही प्रमाता एवं प्रमेयों के रूप में आभासित होता है। इस प्रकार काश्मीर शैव दर्शन के अनुसार सृष्टि परमशिव का आभास मात्र है।

---

१. ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी १, पृष्ठ २०।

२. स्वातन्त्र्यं च नाम यथेच्छं तत्रेच्छाप्रसरस्य अविघातः ।

३. तस्मादनपह्नवनीयः प्रकाशविमर्शात्मा संवित्स्वभावः परमशिवो भगवान् स्वातन्त्र्यादेव रुद्रादिस्थावरान्तप्रमातृरूपतया नीलसुखादिप्रमेयरूपतया च अनतिरिक्तयापि अतिरिक्तया इवस्वरूपानाच्छादिकया संविद्रूपनान्तरीयकस्वातन्त्र्यमहिम्ना प्रकाश इति अयं स्वातन्त्र्यवादः प्रोन्मीलितः। –ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृतिविमर्शिनी पृष्ठ ९।

पराशक्ति की दृष्टि से सृष्टि

पराशक्ति की दृष्टि से सृष्टि पर विचार करते हुए शैव दार्शनिक कहते हैं कि सृष्टि के मूल में नाद है। नाद ही अभिव्यक्ति या सृष्टि का मूल है। परा-अवस्था में शब्द और अर्थ वाचक और वाच्य एक रहते हैं। इसके बाद सृष्टि की छः अवस्थाएँ होती हैं जिन्हें काश्मीर शैव दार्शनिक षडध्वा कहते हैं। प्रथम अवस्था या अध्वा वर्ण और कला का है। परमशिव की जो विश्वोत्तीर्ण अवस्था है वह निष्कल है और उसकी विश्वमय अवस्था सकल है। परावाक् की अवस्था में जहाँ वाचक और वाच्य एक रूप थे कला की अवस्था में द्वन्द्व-भाव में वे भिन्न होने लगते हैं। इस विभिन्नता की पहली अवस्था वर्ण और कला की अवस्था है।

पराशक्ति की दृष्टि से सृष्टि पर विचार करने पर जो दूसरी अवस्था सामने आती है, वह है मन्त्र और तत्त्व की। मन्त्र तत्त्व का प्रक्रियारूप है और तत्त्व सूक्ष्म निर्मिति का अन्तर्निहित सूत्र है।

सृष्टि की तृतीय अवस्था पद और भुवन की अवस्था है। पद जगत् का शब्द द्वारा निरूपण है, तो भुवन भिन्न-भिन्न स्तरों पर प्रमाताओं के प्रतीति के योग्य जगत् है। इस प्रकार काश्मीर शैव दार्शनिकों ने पराशक्ति की दृष्टि से सृष्टि पर विचार करते हुए नाद को सृष्टि के मूल के रूप में स्वीकार किया है।

सांख्य एवं काश्मीर शैव दर्शन में सृष्टि-सम्बन्धी विचारों की तुलना

इसमें कोई सन्देह नहीं कि समग्र भारतीय दर्शनों का उत्स उपनिषद् है। उत्स की एकता के कारण विचारों में साम्य होना स्वाभाविक है, साथ ही व्याख्याभेद एवं दृष्टि-भेद से विचारों में वैषम्य होना भी उतना ही स्वाभाविक है। सांख्य अत्यन्त प्राचीन दर्शन है। काश्मीर शैव दर्शन के सिद्धान्त बीजरूप में निगम एवं आगम परम्परा में निहित होने पर भी इस दर्शन का जो विकसित रूप हमें मिलता है वह अवश्य ही सांख्यदर्शन से परवर्ती है। अतः काश्मीर शैव दर्शन पर सांख्य दर्शन के प्रभाव का होना सहज है। कहीं-कहीं सांख्यदर्शन के सिद्धान्तों को काश्मीर शैव दार्शनिक कुछ परिवर्धित रूप में प्रस्तुत करते हैं।

प्रकृति से लेकर पंचमहाभूत तक चौबीस तत्त्वों का जो विकासक्रम है, वह सांख्यदर्शन एवं काश्मीर शैव दर्शन में समान है, किन्तु विकासक्रम में समानता के होते हुए भी इतना अन्तर अवश्य है कि सांख्य के अनुसार बुद्धि से लेकर पञ्चमहाभूत तक तेईस तत्त्व प्रकृति के ही परिणाम हैं किन्तु काश्मीर शैव दर्शन के अनुसार ये तत्त्व प्रकृति के विकास होते हुए भी अन्ततः शिव की ही अभिव्यक्ति

है क्योंकि काश्मीर शैव दर्शन के अनुसार जगत् का मूल-कारण परमशिव (चेतन) है, जबकि सांख्य दर्शन के अनुसार जगत् का मूल कारण प्रकृति (जड़) है।

सांख्य द्वैतवादी दर्शन है। फलत: वह पुरुष और प्रकृति इन दो तत्त्वों को नित्य स्वीकार करता है। शेष तेईस तत्त्व प्रकृति के ही परिणाम हैं, जबकि काश्मीर शैव दर्शन अद्वैतवादी दर्शन है, उसके अनुसार समग्र जगत् परमशिव का लीलाविलासमात्र है। सांख्य दर्शन का पुरुष शुद्ध-बुद्ध-चैतन्य है। चैतन्य ही पुरुष का स्वरूप माना गया है।[१] जबकि काश्मीर शैव दर्शन के अनुसार शिव जब कञ्चुकों सहित माया को स्वीकार कर लेता है तब उसका सार्वभौम ज्ञान और ऐश्वर्य संकुचित हो जाता है और तब वह पुरुष कहलाता है। इससे स्पष्ट है कि काश्मीर शैव दर्शन का पुरुष सांख्य का बद्ध-पुरुष है। सांख्य का पुरुष जिसका स्वरूप चैतन्यमात्र है, वज तो काश्मीर शैव दर्शन की चित् या परा-संवित् ही है। सत्त्व, रजस् तमस् की साम्यावस्था को सांख्य एवं काश्मीर शैव दर्शन दोनों ने प्रकृति के रूप में स्वीकार किया है, किन्तु सांख्य की प्रकृति एक है और सभी पुरुषों के लिए वह सामान्य है जबकि काश्मीर शैव दर्शन के अनुसार प्रत्येक पुरुष की प्रकृति भिन्न है। पुरुष को भोक्ता और प्रकृति को भोग्य के रूप में दोनों दर्शन स्वीकार करते हैं। किन्तु सांख्य दर्शन के अनुसार बद्ध-पुरुष में प्रतिबिम्बविधया इस भोक्तृत्व के होने पर भी शुद्ध बुद्ध नित्य पुरुष में यह भोक्तृत्व नहीं है जबकि काश्मीर शैव दर्शन में यह भोक्तृत्व पुरुषमात्र में है क्योंकि उनके अनुसार पुरुष बद्ध-जीवमात्र है। यहाँ पर यह अवश्य ध्येय है कि सांख्य का पुरुष बद्ध जीवमात्र नहीं है। यहाँ पर पुरुष चेतनमात्र का वाचक है।

काश्मीर शैव दार्शनिक प्रकृति को शिव की सान्ता शक्ति के रूप में स्वीकार करते हैं। उनके अनुसार सत्त्व, रजस् और तमस् शिव की ज्ञान, इच्छा और क्रियाशक्ति के स्थूलरूप हैं जबकि सांख्य की प्रकृति मूलप्रकृति कहलाती है, क्योंकि समग्र विश्वरूप परिणाम का मूल उपादान-कारण प्रकृति है। उसका कोई कारण नहीं है। अर्थात् प्रकृति स्वयं किसी का कार्य नहीं है।[२] सांख्य के अनुसार प्रकृति कारण है और जगत् उसका कार्य है। इसकी व्याख्या वे कार्य-कारण-भाव के आधार पर अर्थात् सत्कार्यवाद के आधार पर करते हैं। जो गुण कार्य में परिलक्षित होते हैं वे कारण के ही होते हैं।[३] काश्मीर शैव दार्शनिक परमशिव से सृष्टि की

---

१. चैतन्यं पुरुषस्य स्वरूपम् – व्यासभाष्य ६/९।

२. मूलप्रकृतिरविकृतिः – सांख्यकारिका ३।

३. कारणगुणा हि कार्यगुणानारभन्ते ।

व्याख्या स्वातन्त्र्यवाद एवं आभासवाद के आधार पर करते हैं जिसकी चर्चा हम पूर्व में कर चुके हैं।

दोनों दर्शनों में पुरुष एवं शिव को चैतन्यरूप स्वीकार किया गया है किन्तु सांख्य दर्शन में चैतन्य को क्रियाशील नहीं माना गया है जबकि काश्मीर शैव दर्शन में शिव को क्रियाशील स्वीकार किया गया है। तदनुसार परमशिव अपनी स्वातन्त्र्यशक्ति से अपनी इच्छामात्र से शिवतत्त्व से लेकर पृथ्वीपर्यन्त अपने स्वरूपभूत प्रमातृ-प्रमेयादि विभिन्न रूपों में क्रीड़ा करता है। अत: समग्र विश्व शिव का लीलाविलासमात्र है। सांख्य की सृष्टि प्रकृति और पुरुष की परस्पर अपेक्षा से होती है। द्वैतवादी दर्शन सांख्य में पुरुष और प्रकृति दोनों नित्य हैं और सृष्टि दोनों के परस्पर प्रतिबिम्बन पर निर्भर है जबकि काश्मीर शैव दर्शन में सृष्टि शिव के स्वातन्त्र्य पर निर्भर है।

सांख्य एवं काश्मीर शैव दर्शन दोनों में सृष्टि सप्रयोजन है किन्तु दोनों के प्रयोजन भिन्न-भिन्न हैं। सांख्य के अनुसार पुरुष के भोग और अपवर्ग के निमित्त ही प्रकृति की प्रवृत्ति होती है। प्रकृति और पुरुष का संयोग परस्पर अपेक्षा से होता है। वह अपेक्षा इस प्रकार है। प्रकृति स्वयं भोग्य होने के लिए पुरुष की अपेक्षा करती है। भोक्ता पुरुष के बिना प्रकृति की भोग्यता सिद्ध नहीं हो सकती। अत: प्रकृति को भोक्ता पुरुष की अपेक्षा होना स्वाभाविक है। दूसरी ओर प्रकृति से अपने को पृथक् न समझ पाने वाला पुरुष प्रकृतिगत त्रिविध दु:खों को अपने में ही समझता हुआ त्रिविध दु:खों से छुटकारा पाने के लिए कैवल्य की इच्छा करता है किन्तु वह कैवल्य सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिनिमित्तक है। प्रकृति और पुरुष में भेद का ज्ञान ही सत्त्व-पुरुषान्यताख्याति है जो बिना प्रकृति के सम्भव नहीं है फलत: पुरुष को प्रकृति की अपेक्षा होती है। इस परस्पर अपेक्षा के कारण प्रकृति और पुरुष का संयोग होता है। और इस संयोग से ही महदादि सृष्टि होती है। महत्तत्त्वादि सृष्टिरूप साधन के बिना भोग सम्पादन सम्भव नहीं और प्रकृति के बिना सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिरूप विवेक ज्ञान और उससे कैवल्य सम्भव नहीं है। फलत: प्रकृति-पुरुष का संयोग भोगापवर्ग की निष्पत्ति के लिए सृष्टि को साधनरूप में प्रकट करता है। योगसूत्रकार पतञ्जलि ने भी द्रष्टापुरुष और दृश्यबुद्धि इन दोनों के संयोग को हेयहेतु अर्थात् संसार का कारण स्वीकार किया है। इस प्रकार सांख्य के अनुसार भोगापवर्ग सृष्टि का प्रयोजन है जबकि काश्मीर शैव दर्शन के अनुसार शिव की लीला ही सृष्टि का वास्तविक प्रयोजन है।

सम्पादकीय वक्तव्य

प्रस्तुत ग्रन्थ की लघु प्रस्तावना के पश्चात् यह बताना अप्रासंगिक न होगा कि ग्रन्थरूप में प्रकाशित करने के पूर्व इस शोधप्रबन्ध का सम्पादन क्यों आवश्यक था।

यह आवश्यक नहीं कि किसी शोधप्रबन्ध पर पी-एच्०डी० की उपाधि प्राप्त होने मात्र से वह प्रबन्ध उसी रूप में प्रकाशन-योग्य भी हो। प्रस्तुत प्रबन्ध का सम्पादन निम्नलिखित कारणों से अत्यावश्यक था—

१. शोधप्रबन्ध का शीर्षक 'काश्मीर शैव एवं सांख्य दर्शन में सृष्टि का स्वरूप' था। ऐतिहासिक दृष्टि से विचार करने पर सांख्य दर्शन काश्मीर शैव दर्शन से प्राचीन है, इसमें संशय नहीं रहता। अत: प्राचीन सांख्य दर्शन की दृष्टि से सृष्टि पर विचार करने के पश्चात् ही तदपेक्षया अर्वाचीन काश्मीर शैव दर्शन की दृष्टि से सृष्टि पर विचार करना उचित है। यही कारण है कि ग्रन्थरूप में प्रकाशित करते समय शीर्षक में परिवर्तन कर इसका नाम 'सांख्य एवं काश्मीर शैव दर्शन में सृष्टि' रखा गया है।

२. ग्रन्थरूप में शीर्षक के परिवर्तन के साथ ही शोधप्रबन्ध के अध्यायों का क्रमपरिवर्तन भी आवश्यक था। अत: ऐतिहासिक क्रम को ध्यान में रखते हुए प्रस्तुत ग्रन्थ में अध्यायों का क्रम निश्चित किया गया है।

३. भारतीय दर्शन की किसी भी शाखा के अध्ययन के लिए संस्कृत का ज्ञान अनिवार्य है। संस्कृत के ज्ञान के बिना मूल सिद्धान्तों को ठीक-ठीक समझना तथा आवश्यक सन्दर्भों को यथास्थान शुद्ध रूप में प्रस्तुत करना सम्भव नहीं है। प्रस्तुत प्रबन्ध के अनेक सन्दर्भ ऐसे थे जिनका भाषा की दृष्टि से तथा सिद्धान्त की दृष्टि से परिमार्जन आवश्यक था। इस कार्य के लिए मुझे अनेक बार ग्रन्थालयों एवं सम्बद्ध विद्वानों से सम्पर्क करना पड़ा।

४. प्रबन्ध के अनेक स्थल ऐसे थे जिनका शीर्षक से सीधा सम्बन्ध नहीं था। अत: उन स्थलों का सम्पादन कर ग्रन्थ को अधिकाधिक शीर्षकानुरूप बनाने का प्रयास किया है।

इस ग्रन्थ के सम्पादन के द्वारा मैंने यथासम्भव शुद्ध सन्दर्भ देने का प्रयास किया है, तथापि मनुष्य का प्रयास कभी भी पूर्ण नहीं हो सकता। अत: प्रयास के बाद भी यदि कुछ त्रुटियाँ रह गई हों तो सहृदय सुधी पाठक उन्हे शुद्ध कर मुझे अवगत कराने की कृपा करें।

१५ अगस्त, १९९७ — **कृष्णकान्त शर्मा**

भारत की स्वतन्त्रता की स्वर्णजयन्ती

विषयानुक्रमणिका

संकेत-सूची

अ०ब्र०सि०	:	अद्वैतब्रह्मसिद्धि
अमर०	:	अमरकोश
अनि०	:	अनिरुद्धवृत्ति
आ०वि०उ०भा०द०स्थान	:	आचार्य विभानभिक्षु और उनका भारतीय दर्शन में स्थान
ई०प्र०का०	:	ईश्वरप्रत्यभिज्ञाकारिका
ई०प्र०वि०	:	ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी
ई०प्र०वि०वि०	:	ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृतिविमर्शिनी
इ०फि०स्ट०	:	इण्डियन फिलासोफिकल स्टडीज
ए०क्रि०स०इ०फि	:	ए क्रिटिकल सर्वे ऑफ इण्डियन फिलासफी
ए०हि०इ०फि०	:	ए हिस्ट्री ऑफ इण्डियन फिलासफी
ऐ०उप०	:	ऐतरेय उपनिषद्
कठोप०	:	कठोपनिषद्
कूर्मपु०	:	कूर्मपुराण
गरुडपु०	:	गरुडपुराण
गौड०	:	गौडपादभाष्य
गीता	:	श्रीमद्‌भगवद्‌गीता
गीता रह०	:	गीतारहस्य
चर०	:	चरकसंहिता
छान्दो०उप०	:	छान्दोग्य उपनिषद्
जयम०	:	जयमङ्गला
तं०सा०	:	तन्त्रसार
तं०आ०	:	तन्त्रालोक
तर्कसं०	:	तर्कसंग्रह
तत्त्वकौ०	:	तत्त्वकौमुदी

तत्त्ववै०	:	तत्त्ववैशारदी
तत्त्वस०	:	तत्त्वसमाससूत्र
तैत०उप०	:	तैत्तिरीय उपनिषद्
द०सां०का०ई०	:	द सांख्यकारिका ऑफ ईश्वर कृष्ण
ना०का०	:	नादकारिका
न्याय०भा०	:	न्यायभाष्य
न्यायवा०	:	न्यायवार्तिक
न्यायम०	:	न्यायमञ्जरी
नै०सि०	:	नैष्कर्म्यसिद्धि
प०त्रि०वि०	:	परात्रिंशिकाविवरण
प्र०उ०	:	प्रश्नोपनिषद्
प्र०हृ०	:	प्रत्यभिज्ञाहृदयम्
प०सा०	:	परमार्थसार
प्रमाणमी०	:	प्रमाणमीमांसा
प्रमाणस०	:	प्रमाणसमुच्चय
ब्रह्मपु०	:	ब्रह्मपुराण
भा०द०	:	भारतीय दर्शन, (बलदेव उपाध्याय)
भा०द०	:	भारतीय दर्शन, (डॉ० राधाकृष्णन्)
भा०द०	:	भारतीय दर्शन, (उमेश मिश्र)
भा०द०रू०	:	भारतीय दर्शन की रूपरेखा
भा०	:	भास्करी (भाग १ से ३ तक)
भो०का०	:	भोगकारिका
भो०वृ०	:	भोजवृत्ति
मत्स्यपु०	:	मत्स्यपुराण
म०पु०सां०	:	महाभारत और पुराणों में सांख्यदर्शन
माठ०	:	माठरवृत्ति
मुण्ड०उप०	:	मुण्डक उपनिषद्
मृ०आ०	:	मृगेन्द्र आगम
मो०का०	:	मोक्षकारिका

युक्ति०	:	युक्तिदीपिका
योगभा०	:	योगभाष्य
यो०सू०	:	योगसूत्र
विज्ञा०	:	विज्ञानामृतभाष्यम्
वैशे०सू०	:	वैशेषिकसूत्र
वी०शै०	:	वीर शैव
श्वेता०उप०	:	श्वेताश्वतर उपनिषद्
शाङ्क०	:	शाङ्करभाष्य
शि०दृ०	:	शिवदृष्टि
शि०बो०	:	शिवज्ञानबोधम्
शि०सि०	:	शिवज्ञानसिद्धि
शि०सू०वि०	:	शिवसूत्रविमर्शिनी
शै०प०	:	शैव परिभाषा
शि०सू०वा०	:	शिवसूत्रवार्तिक
सां०द०	:	सांख्यदर्शनम्
सर्वद०	:	सर्वदर्शनसंग्रह
सां०ऐ०प०	:	सांख्यदर्शन की ऐतिहासिक परम्परा
सांख्यका०	:	सांख्यकारिका
सां०तत्त्वकौ०प्रभा	:	सांख्यतत्त्वकौमुदी प्रभा
सां०द०इ०	:	सांख्य दर्शन का इतिहास
सां०सा०	:	सांख्यसार
सां०सिद्धा०	:	सांख्यसिद्धान्त
सां०सू०	:	सांख्यसूत्र
स्प०का०	:	स्पन्दकारिका
स्प०नि०	:	स्पन्दनिर्णय
सुवर्ण०	:	सुवर्णसप्ततिशास्त्र

प्रथम अध्याय

वैदिक एवं आगमिक परम्परा में सृष्टिविचार

मनुष्य जब कभी क्षणमात्र के लिए भी जगत् प्रपंच की नाना लीलाओं को समझने का प्रयास करता है या उनमें अवस्थित ''स्व'' का चिन्तन करता है तो उसके समक्ष जीवन एवं जगत् के प्रश्न आ ही जाते हैं। वह यह समझने का प्रयास करने लगता है कि हम कौन हैं, कहाँ से आये हैं, हमारा वास्तविक स्वरूप क्या है, सृष्टि का रहस्य क्या है, सृष्टि से हमारा सम्बन्ध क्या है इसका मूल स्रोत क्या है? उपनिषद् का ऋषि उस तत्त्व की जिज्ञासा से प्रश्न करता है कि वह कौन-सा सूत्र है जिसको जान लेने से सबकुछ जान लिया जाता है?[१] वह कौन-सा सूत्र है, जिससे यह लोक, अन्य लोक और सब भूत ग्रथित हैं?[२] इस प्रकार भारतीय चिन्तन के इतिहास को देखने से यही ज्ञात होता है कि भारतीय मनीषियों ने इस विशाल सृष्टि को कार्यरूप में देखा और उसके कारण को जानने में अपनी सारी शक्ति लगा दी।

सृष्टि की समस्या प्राच्य एवं पाश्चात्य दर्शन की समस्याओं में से एक प्रमुख और अत्यन्त जटिल समस्या है। सृष्टि की उत्पत्ति कारणपूर्वक हुई है या नहीं? यदि कारणपूर्वक हुई है तो इसका वास्तविक कारण क्या है? इन समस्याओं से सम्बन्धित विभिन्न दार्शनिकों के विभिन्न सिद्धान्त मिलते हैं। भारतीय दार्शनिक परम्परा में मीमांसा जैसा आस्तिक सम्प्रदाय विश्व को शाश्वत मानता है, जबकि जड़वादी चार्वाक से लेकर वेदान्त तक के अन्य सम्प्रदाय इसे सृष्ट मानते हैं। सृष्टि की कारणपूर्वता के सम्बन्ध में मुख्य रूप से तीन विचार मिलते हैं। बौद्ध दार्शनिकों के अनुसार कारण के नष्ट होने पर कार्य की उत्पत्ति होती है। नैयायिकों के अनुसार कार्य उत्पत्ति से पहले भी सत् नहीं है, नष्ट होने पर भी सत् नहीं है, केवल बीच में ही सत् है। सांख्य, वेदान्त की परम्परा में अनादि कार्य का कारण तीनों कालों में सत् है और कार्य कारण से ही निःसृत हुआ है। निःसृत होने की प्रक्रिया के

---

१. कस्मिन्नु भगवो विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवतीति। – मु०उप०, १/१/३।

२. ... तत् सूत्रं येनायं च लोकः परश्च लोकः सर्वाणि च भूतानि सन्दृब्धानि भवन्तीति....। –बृ०उप०, ३..७.१।

सम्बन्ध में विभिन्न प्रकार की व्याख्याएँ भारतीय दर्शन में मिलती हैं। जिस कारण से जगत् की सृष्टि होती है, वह कारण एक है या अनेक, इस पर भी मतभेद है। सांख्य, न्याय, वैशेषिक इस कारण को एक से अधिक मानते हैं। वेदान्त इसे एक मानता है। इस एक और अनेक की समस्या का समाधान जटिल है।

आगमिक परम्परा के दर्शनों में भी इस समस्या की जटिलता को स्वीकार किया गया है। इस परम्परा के विचारक सृष्टि को कारणपूर्वक ही स्वीकार करते हैं और यह कारणपूर्वकता परमतत्त्व से है। निगम परम्परा से भिन्न आगम परम्परा के दर्शनों में परस्पर विरोधों में उलझे हुए अनेकत्ववाद अथवा द्वैत के निषेधवाद की प्रवृत्ति नहीं दिखायी देती, न हीं इसे स्वप्निल कहकर इसकी वास्तविकता को नकारा गया है। निगम एवं आगम परम्परा में अभिव्यक्त विभिन्न प्रकार की सृष्टिविषयक विचारधाराओं की न्यूनाधिक युक्तियुक्तता एवं संगतता स्पष्ट करने एवं उनकी वैज्ञानिक, धार्मिक तथा आध्यात्मिक दृष्टियों को स्पष्ट करने की दृष्टि से दोनों परम्परा के दर्शनों पर प्रकाश डालना आवश्यक है।

(१) वेद

वेद भारतीय धर्म एवं दर्शन का प्राण हैं। भारतीय धर्म में जो जीवन शक्ति है उसका मूल हेतु वेद ही हैं। वेद अक्षय विचारों का मानसरोवर हैं जहाँ से विचारधारा प्रवाहित होकर भारतभूमि के मस्तिष्क को उर्वरक बनाती हुई निरन्तर प्रवाहित है तथा अपनी सत्ता के लिए उसी उद्गम भूमि पर अवलम्बित रहती है। वे नित्य, निखिल ज्ञान के अमूल्य भण्डारागार एवं धर्म का साक्षात्कार करने वाले महर्षियों के द्वारा अनुभूत परमतत्त्व के परिचायक हैं। वेद वह ज्ञान है जिसका ऋषियों ने तपस्या के द्वारा साक्षात्कार किया था और शब्दों के द्वारा मन्त्र रूप में प्रकाशित किए। वेद श्रुति कहलाते हैं और अलिखित रूप में ही अनादि काल से गुरु-शिष्य परम्परा के द्वारा सुरक्षित रहे हैं।

जगत् की उत्पत्ति के सम्बन्ध में वेदों में भिन्न-भिन्न विचार दृष्टिगोचर होते हैं। इसका मुख्य कारण यह था कि साधक को अपने कार्य की सिद्धि के लिए जिस किसी देवता की अपेक्षा हुई, उसे उसने सबसे बड़ा बना दिया, यहाँ तक कि उन्हें ही जगत् का स्रष्टा बना दिया। जैसे— जगत् की उत्पत्ति कभी ''अग्नि'' से, पश्चात् सोम से पृथ्वी, अन्तरिक्ष, दिन, रात, जल तथा औषधियों की उत्पत्ति मानी गयी है। ''त्वष्टा'' ने समस्त जीवों को उत्पन्न किया। इन्द्र ने समस्त पृथ्वी तथा अन्तरिक्ष को उत्पन्न किया। इसी प्रकार कभी वरुण, कभी विश्वकर्मा आदि सृष्टि करने वाले कहे गये हैं।

सृष्टि की रहस्यमयी प्रक्रिया की व्याख्या ही वेदों का मुख्य विषय रहा है। वेद के महत्त्व को दर्शाते हुए एक प्रतिष्ठित विद्वान् ने कहा था कि ''वेद सृष्टि का दूसरा नाम है।'' **ऋग्वेद** में सृष्टि के कारण पर प्रकाश डालते हुए कहा गया है कि ''तीन अनादि स्वयम्भू पदार्थों अर्थात् परमेश्वर, जीव और प्रकृति के संयोग से सृष्टि का आविर्भाव होता है।[१] ये ही तीन पदार्थ सृष्टि के उद्भव और विनाश के कारण हैं। परमात्मा ने अपनी ईक्षण शक्ति से प्रकृति में प्रेरणा का संचार किया। प्रेरणा से गति और गति से आकर्षण उत्पन्न हुआ। आकर्षण से प्रकृति-परमाणुओं ने परस्पर मिलकर रात्रि के समान एक गम्भीर स्थिति पैदा की। वह स्थिति चक्राकार गति से घूमकर सघन हो गई और उसके चतुर्दिक आकाश उत्पन्न हो गया। उस रिक्त स्थान (आकाश) में वायु का समुद्र भर गया और वायु समुद्र में ही सूर्य उत्पन्न हुआ, जिससे मेघ, वर्षा, नक्षत्र, पृथ्वी, दिन और रात उत्पन्न हुए। इस प्रकार जीवों का कर्म और परमेश्वर की न्याय-व्यवस्था ही इस सृष्टि के मुख्य कारण हैं।[२] ऋग्वैदिक अनेक मन्त्रों के अनुसार सम्पूर्ण जगत् शक्ति की रचना है। स्रष्टा ने विश्व-निर्माण की इच्छा से अपने को ब्रह्म और शक्ति, इन दो रूपों में प्रकट किया और दोनों के संयोग से सृष्टि का आविर्भाव हुआ।

अथर्ववेद में भी काल, स्कम्भ आदि को मूर्त रूप देकर शक्तिशाली एकेश्वर के रूप में स्रष्टा का वर्णन है।[३] इसके अनुसार काल से ही सूर्योदय होता है और पुनः काल में ही सूर्य निविष्ट होता है। काल से ही जल, ब्रह्मा, तप तथा दिशाएँ हुई हैं। वात, पृथ्वी, द्यौ, भूत, भव्य आदि सभी काल के आधीन हैं।[४] परवर्ती धर्मशास्त्र में भी इसी अथर्ववेदोक्त भाव को पल्लवित करते हुए कहा गया है कि ईश्वर की ज्ञानगति का ही नाम काल है और इसी आन्तरिक गति से समस्त सृष्टि की रचना होती है।

''असत्'' को विश्व का उपादान कारण माना गया है।[५] विश्वकर्मा ने बिना किसी की सहायता से विश्व की रचना की। सायणाचार्य ने तो स्पष्ट कहा है कि परमात्मा ने अपनी शक्ति से समस्त ब्रह्माण्ड को रचा। इसी शक्ति को ''माया'' कहते हैं,

---

१. द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते ।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभि चाकशीति ।। –ऋग्वेद १/१६४/२०।

२. वहीं, १०/१९०/१-३, यजुर्वेद, ३१वाँ अध्याय।

३. अथर्ववेद, १०/७।

४. वहीं, १९/५४।

५. वहीं, १०/७२/२-४।

किन्तु यह देव-शक्ति है, नित्य है। शांकर वेदान्त की माया की तरह यह "अनिर्वचनीय" नहीं है।[१] यही बात **तैत्तिरीय ब्राह्मण** में भी स्पष्ट रूप से कही गयी है।

नासदीय सूक्त[२] में सृष्टि प्रक्रिया का विशद वर्णन है। यहाँ उल्लिखित है कि सृष्टि के आरम्भ में न "असत्" न "सत्", न "अन्तरिक्ष" और न "व्योम" था। मृत्यु का भी भय नहीं था, केवल वह "एक" था, उसके अतिरिक्त कोई भी नहीं था। अन्धकारमात्र सर्वत्र था, जल था प्रकाश नहीं था। वह "एक" "तपस्" से उत्पन्न हुआ। इस प्रकार सृष्टि के आरम्भ में एक कोई अव्यक्त चेतन था, जिससे कालान्तर में सृष्टि के वैचित्र्य अभिव्यक्त हुए। यह सर्वव्यापी शक्ति है। इसी से ज्ञानशक्ति, इच्छाशक्ति तथा क्रियाशक्ति की अभिव्यक्ति होती है। "पुरुषसूक्त"[३] में भी यही विचार स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है। वेदों में इन्द्र सबसे बड़े देवता माने गये हैं। सायणाचार्य के अनुसार यही इन्द्र कभी अग्नि, कभी सूर्य और कभी वायु के रूप में वेदों में वर्णित हैं, जिन्हें जगत् का स्रष्टा माना गया है।

अतः स्पष्ट है कि समय-समय पर जिस शक्ति को पूजा गया उसी को जगत् का स्रष्टा भी मान लिया गया। वेद किसी एक आधार के सम्बन्ध में तटस्थ नहीं हैं, परन्तु उनमें जहाँ कहीं भी सृष्टि की चर्चा हुई है वहाँ एक सर्वशक्तिमान् चेतना का वर्णन हुआ है। और जिसे सभी विचारकों ने स्वीकार किया है। अन्तर केवल इतना ही है कि भिन्न-भिन्न विचारकों ने इस शक्तिरूपी आधार को भिन्न-भिन्न नामों से विभूषित किया है। स्पष्ट है कि वेदों में सृष्टि-सम्बन्धी कोई एक विशेष मत नहीं है। इसके विपरीत वेदों में सृष्टि एवं सृष्टि-प्रक्रिया की आस्तिक-नास्तिक, जड़वादी, चेतनवादी, यथार्थवादी, अध्यात्मवादी आदि विभिन्न प्रकार की व्याख्याएँ सन्निहित हैं। इसका कारण यह है कि इसमें विभिन्न परम्पराओं के ऋषियों के मन्त्रों का संग्रह है। इसका यह तात्पर्य नहीं कि वेद में सृष्टि की व्याख्या को लेकर विसंगतियाँ एवं परस्पर विरोधी विचार मिलते हैं, बल्कि इसका सीधा तात्पर्य यह है कि वैदिक ऋषियों ने सृष्टि एवं सृष्टि-प्रक्रिया में निहित तत्त्वों का अन्वेषण करने में आधिभौतिक, आधिदैविक एवं आध्यात्मिक समस्त तत्त्वों का विश्लेषण किया एवं उन्हें विभिन्न मानसिक स्तर के शिष्यों को समझाने की दृष्टि से सिद्धान्त के रूप में उपदिष्ट किया। यही कारण है कि सृष्टि की व्याख्या को लेकर वेदों के विचारकों

१. अथर्ववेद, २/८/९।
२. वहीं, १०/१२९।
३. वहीं, १०/८०।

से प्रभावित समस्त भारतीय दार्शनिक सम्प्रदायों के संस्थापकों एवं अनुयायियों ने विभिन्न प्रकार की व्याख्याएँ की हैं। सृष्टि एवं सृष्टि-प्रक्रिया की जड़वादी एवं अध्यात्मवादी दोनों विचारकों ने वेदों में सन्निहित देववादी सिद्धान्त को लेकर सृष्टि की देववादी या ईश्वरवादी व्याख्या भी की है। उदाहरण के लिए न्याय-वैशेषिकदर्शन। कुछ विचारक सृष्टि को नित्य मानकर सृष्टि की व्याख्या की समस्या को ही महत्त्वपूर्ण नहीं समझते जैसा कि मीमांसा दर्शन में परिलक्षित होता है। चार्वाक एवं बौद्ध मतों में जड़वादी व्याख्या को ही महत्त्व दिया गया है। बौद्ध विज्ञानवाद, जैन एवं वेदान्त के विभिन्न सम्प्रदायों में वेदों के अध्यात्मवादी सिद्धान्त की ही विभिन्न प्रकार से व्याख्या प्रस्तुत की गयी है। सांख्य दर्शन को ईश्वरवादी कहना एक विवादास्पद बात हो सकती है, किन्तु उसकी सृष्टि की व्याख्या का आधार आध्यात्मिक है, ऐसा मानने में कोई विवाद उत्पन्न नहीं होता। हाँ, यह सत्य है कि अध्यात्मवादी व्याख्या वैज्ञानिक आधार पर की गयी है। काश्मीर शैवदर्शन भी वेदों एवं उपनिषदों के प्रभाव से वंचित नहीं है। शैव आगमों में अनेक स्थलों पर वेदों एवं उपनिषदों के वाक्यों को प्रमाणरूप में प्रस्तुत किया गया है। बाद के काश्मीर शैवाचार्यों पर उपनिषद् एवं शांकर वेदान्त का प्रभाव स्पष्ट ही प्रतीत होता है। सृष्टिसम्बन्धी व्याख्या का मूल आधार वेदों के बाद उपनिषद् हैं अत: तद्विषयक स्पष्ट अवधारणा के लिए औपनिषदिक विचारों की समीक्षा अपेक्षित है।

(२) उपनिषद्

भारतीय वाङ्मय में उपनिषदों का स्थान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है तथा वे दार्शनिक और धार्मिक विचारों से पूर्ण हैं। इनका प्रभाव इमर्सन और थोरो,[१] शॉपेन हावर के "सर्वेश्वरवाद"[२] तथा अमरीकन दार्शनिक रायस के ग्रन्थ "जगत् और व्यक्ति"[३] पर स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है। स्वामी विवेकानन्द का कहना है कि भारतवर्ष में जब कभी भी अध्यात्मवाद और विज्ञानवाद का प्रचार और प्रसार हुआ है तो वह उपनिषदों के सहारे हुआ।[४] आधुनिक युग में राजाराम मोहन राय, विवेकानन्द, स्वामी रामतीर्थ एवं महर्षि अरविन्द विशेष रूप से उपनिषदों की शिक्षाओं से प्रभावित थे।

भारतीय दर्शन के विभिन्न सम्प्रदायों का स्रोत उपनिषद् रहा है। जैसे— न्याय-वैशेषिक, सांख्य, योग, अद्वैत एवं विशिष्टाद्वैत वेदान्त आदि आस्तिक मत

---

१. देखिए, दासगुप्ता एस०एन०, इण्डियन आइडियलिजम।

२. स्वामी रामतीर्थ के लेख।

३. रायस, दि वर्ल्ड एण्ड दि इन्डीवीजुअल।

४. श्री अरविन्द, हेरेक्लिट्स।

तथा जैन और बौद्ध नास्तिक मत के मुख्य सिद्धान्त औपनिषदिक दर्शन में पहले से ही निहित हैं। जैसे— बौद्ध दर्शन का ''अनात्मवाद'' कठोपनिषद् में, सांख्य दर्शन के ''त्रिगुणमयी प्रकृति'' का वर्णन श्वेताश्वतर उपनिषद् में, शंकर का निर्गुण ''ब्रह्म'' सम्बन्धी विचार छान्दोग्य उपनिषद् में विद्यमान हैं तथा रामानुज दर्शन भी उपनिषदों पर आधारित है। अतः सम्पूर्ण भारतीय दर्शन का बीज उपनिषदों में है। जर्मन विद्वान् डायसन का कहना है कि समस्त विश्व के मूलतत्त्व को मानव आत्मा के निगूढ़तम प्रदेशों में खोजने का उपनिषद् प्रोक्त प्रयास सर्वथा मौलिक है और जगत् के इतिहास में यह एक चिरन्तन सत्य के रूप में सदैव सम्पूजित होगा।

औपनिषदिक ऋषियों ने स्वभाववाद का खण्डन कर समस्त नाशवान् जगत् के पीछे प्रजापति के ईक्षण का दर्शन किया था। इस सम्बन्ध में उपनिषदों में एक दृष्टान्त है जिसके अनुसार वरुण के पुत्र भृगु अपने पिता के पास जाकर उस यथार्थ सत्ता के स्वरूप का विवेचन करने को कहते हैं जिससे समस्त विश्व का विकास होता है और फिर जिसमें समस्त विश्व समा जाता है। इस जिज्ञासा के उत्तर में पिता ने कहा कि ''वह ब्रह्म है, जिससे इन सब भूतों की उत्पत्ति हुई और जन्म होने के पश्चात् जिसमें ये सब जीवन धारण करते हैं और मृत्यु के समय जिसमें ये विलीन हो जाते हैं। उपनिषदों में ब्रह्म ही परमतत्त्व माना गया है। वही जगत् का सार है जिससे विश्व की उत्पत्ति होती है और अन्त में विश्व उसी में विलीन हो जाता है।

तैत्तिरीयोपनिषद् में कहा गया है कि ''आनन्द'' ही ब्रह्म है, क्योंकि आनन्द से ही सारे प्राणी उत्पन्न होते हैं, आनन्द के आश्रय से जीते हैं और अन्ततः आनन्दस्वरूप में ही लीन हो जाते हैं। आनन्दस्वरूप एक ब्रह्म है और वही सबकी अन्तिम सीमा है। कहने का तात्पर्य यह है कि प्राणियों की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय में आनन्दस्वरूप ब्रह्म ही मुख्य कारण है।[१] यहाँ यह स्पष्ट करने की चेष्टा की गई है कि सृजन अथवा स्व-विस्तार का आनन्द ही सृष्टि का प्रेरक तत्त्व है। सृष्टि के मूल में ईक्षणशक्ति प्रेरणा, आकर्षण और परस्पर सम्मिलन की मधुराकांक्षा सन्निहित है। यह सृष्टि प्रज्ञात्मा एवं पुरुष के दाम्पत्य-अनुरंजन का परिणाम है, अर्थात् आत्मरूप पुरुष और अनात्मरूपा नारी का सुखद संयोग ही सृष्टि का रहस्य है।[२] उपनिषदों में वर्णित सृष्टि के आदि में कुछ नहीं था, केवल मृत्यु थी। बाद में मन, जल, तेजस्, पृथ्वी और अन्त में प्रजापति की सृष्टि हुई। उसके बाद सुर

---

१. आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात् । आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते। आनन्देन जातानि जीवन्ति। आनन्दं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति ।। –तैत्ति.उप., भृगुवल्ली, ६/१।

२. बृ०उप०, १/४/१।

और असुर हुए।[1] कहीं इस सृष्टि को आकाश से उत्पन्न और उसी में जगत् का लय बतलाया गया है।[2] **श्वेताश्वतरोपनिषद्** में कहा गया है कि सृष्टि, स्थिति और प्रलय इन तीन कार्यों के तीन कर्त्ता — ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र, ब्रह्म के ही तीन नाम हैं।[3] सृष्टि को उपनिषदों में उपमाओं के द्वारा भी बताया गया है। जैसे—प्रज्वलित अग्नि से चिन्गारियाँ निकलती हैं, सोने से गहने बनते हैं, मोती से चमक उत्पन्न होती है, बाँसुरी से ध्वनि निकलती है और मकड़े के अन्दर से उसके द्वारा बुने जालों के तागे निकलते हैं उसी प्रकार ब्रह्म से सृष्टि होती है। स्पष्ट है कि सबसे पहले एक अव्यक्त रूप था और उसी से व्यक्त रूप में जगत् की सृष्टि हुई है। यह अव्यक्त रूप ''पर ब्रह्म'' है और समस्त जगत् इसी से उत्पन्न हुआ है। जैसे पुरुष से केश, लोम उत्पन्न होता है, उसी प्रकार नित्य ब्रह्म से यह समस्त विश्व उत्पन्न होता है।[4] इसलिए इस सृष्टि का निमित्त तथा उपादान कारण ब्रह्म है।

प्राण से सृष्टि की उत्पत्ति बताते हुए **बृहदारण्यकोपनिषद्** में उल्लेख है कि ''प्राण ही वह सूत्र है जो समस्त लोकों को धारण किए हुए है। सूर्य, चन्द्र, नेत्रवागादि पृथ्वी आदि समस्त आधिभौतिक, आधिदैविक एवं आध्यात्मिक पदार्थ प्राण से उत्पन्न होते हैं। प्राण में ही अन्त में विलीन हो जाते हैं।[5] अन्यत्र प्राण और सूर्य से समस्त पदार्थों की उत्पत्ति कही गयी है।[6]

ब्रह्म से समस्त प्रपंच की व्याख्या तो उपनिषदों का प्रमुख प्रतिपाद्य ही रहा है। उपनिषद् के एक प्रकरण के अनुसार आरम्भ में ब्रह्म ही था वह एकाकी रमण नहीं कर पाया तो उसने पंचभूतात्मक सृष्टि को उत्पन्न किया। ब्रह्म (सगुण) से मिथुन सृष्टि की स्पष्ट व्याख्या भी उपनिषदों में देखने को मिलती है।[7]

---

१. बृ०उप०, १/३/१।

२. छान्दो०उप०, १/९/१।

३. एको हि रुद्रो न द्वितीयायतस्थुर्य इमांल्लोकानीशत ईशनीभिः ।
प्रत्यङ्जनांस्तिष्ठतिसञ्चुकोपान्तकाले संसृज्य विश्वा भुवनानि गोपाः।।
—श्वेत,उप० ३/२।

४. यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च यथा पृथिव्यामोषधयः सम्भवन्ति ।
यथा सतः पुरुषात्केशलोमानि तथाक्षरात्सम्भवतीह विश्वम् ।।—मु.उप., १/१/७।

५. बृ०उप०, ३/७/२।

६ प्र०उप०, १/८।

७. इसका विशद विवेचन अगले अध्याय में प्रस्तुत है।

ब्रह्मसूत्रकार ने भी 'जन्माद्यस्य यतः' सूत्र के द्वारा ब्रह्म से ही सृष्टि का संकेत दिया है।

उपरोक्त विवेचन के आधार पर यह कह सकते हैं कि **उपनिषदों** में सृष्टि की उत्पत्ति पञ्चमहाभूतों— पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश से मानी गयी है। इसके साथ ही आदित्य, चन्द्रमा और आदित्य चन्द्रमा, मिथुन, प्रजापति, विराट् आदि देवों से सृष्टि की व्याख्या की गयी है और साथ ही प्राण, चैतन्य, आनन्द, आत्मा से सृष्टि कही गयी है और अन्त में इस चैतन्य आनन्द या आत्मा को ब्रह्म का एकार्थक माना गया और उसे ''तज्जलान'' कहा गया। उसी से समस्त सृष्टि की उत्पत्ति उसी में निवेश एवं विलय माना गया।

सांख्य दर्शन में प्रकृति-पुरुष-संयोग से जो सृष्टि की व्याख्या की गयी है[1] अथवा काश्मीर शैव दर्शन में शक्ति-स्वातन्त्र्य से सृष्टि की व्याख्या की गयी है, उसके बीज उपनिषदों में स्पष्ट रूप से मिलते हैं। **श्वेताश्वतर** की यह श्रुति, ''मायान्तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनन्तु महेश्वरम्''[2] निश्चित रूप से काश्मीर शैवदर्शन की शिव और शक्ति (माया) से सृष्टि की बात को ही प्रकारान्तर से बतलाती है। पुनः ''रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते''[3] श्रुति अखिल ब्रह्माण्ड एवं उसमें निहित समस्त पदार्थों को इन्द्र या परमेश्वर की ही लीलामय अभिव्यक्ति की ओर संकेत देती है। इस प्रकार स्पष्ट है कि औपनिषदिक विचारों के प्रभाव में अन्य भारतीय सम्प्रदाय सृष्टि की अपने-अपने तरह से व्याख्या प्रस्तुत करते हैं। आगे चलकर परमेश्वर से सृष्टि की व्याख्या का समुचित रूप **गीता** में मिला। इस दृष्टि से **गीता** में सृष्टि की अवधारणा का विवेचन अनिवार्य है।

(३) गीता

उपनिषदों के ज्ञान का सार **गीता** है। जगत् की सृष्टि के सम्बन्ध में यहाँ तीन तत्त्वों का वर्णन किया गया है— ''क्षर'', ''अक्षर'' और ''पुरुषोत्तम''। इस संसार में सभी जड़ पदार्थ 'क्षर'' हैं। इसे ही ''अपरा प्रकृति'', ''अधिभूत'', ''क्षेत्र'' और ''अश्वत्थ'' भी कहते हैं। ये विकारों का, कारणों का तथा भूतों का मूल कारण हैं। आकाश आदि पाँच भौतिक परमाणु तथा पाँच तन्मात्राएँ ''विकार'' हैं। मन, अहंकार, बुद्धि, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ एवं पाँच कर्मेन्द्रियाँ ''करण'' कहलाती हैं। इनके

---

१. इसका विशद विवेचन तीसरे अध्याय में प्रस्तुत है।

२. श्वेत०उप०, ४/१०।

३. बृ०उप०, २/५/१९।

अतिरिक्त इनसे उत्पन्न राग, द्वेष, सुख, दुःख, परमाणुओं का संघात, चेतना तथा धृति, ये "क्षर" हैं। इनमें से पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश मनस्, बुद्धि और अहंकार ये आठ भगवान् की "अपरा प्रकृति" के रूप हैं।[१]

यह "अपरा प्रकृति" भगवान् के साथ अनादि काल से सम्बद्ध है। यह अविशुद्ध है। इससे बन्धन होता है। प्रलय के काल में समस्त भूत इसी में लीन हो जाते हैं और इसी से पुनः सृष्टि के आरम्भ में उत्पन्न होते हैं।[२] इस "प्रकृति" को अधिष्ठान मानकर भगवान् सृष्टि की रचना करते हैं।[३] इसीलिए **गीता** के चतुर्दश अध्याय में प्रकृति और पुरुष के संयोग से समस्त जगत् की उत्पत्ति बतलाते हुए श्रीकृष्ण भगवान् ने कहा है कि "मेरी महत् ब्रह्मरूप मूल प्रकृति सम्पूर्ण भूतों की योनि है अर्थात् गर्भाधान का स्थान है और उस योनि में चेतन-समुदाय-रूप गर्भ की स्थापना करता हूँ। उस जड़चेतन के सहयोग से सब भूतों की उत्पत्ति होती है। नाना प्रकार के सब योनियों में जितनी मूर्तियाँ अर्थात् शरीरधारी प्राणी उत्पन्न होते हैं, प्रकृति उन सबकी गर्भ धारण करने वाली माता है और मैं बीज की स्थापना करने वाला पिता हूँ।[४] सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुण प्रकृति से उत्पन्न होते हैं और अविनाशी ज़ीवात्मा को शरीर में बाँधते हैं।[५] परन्तु प्रकृति अपना खेल करने या सृष्टि का कार्य चलाने के लिए स्वतन्त्र नहीं है, उसे यह कार्य ईश्वर की इच्छा के अनुसार करना पड़ता है। "यह प्रकृति" भगवान् की "माया" से भिन्न है। इसीलिए भगवान् ने स्वयं कहा है कि अपनी "प्रकृति" को अधिष्ठान मानकर अपनी "माया" की सहायता से मैं संसार में अवतार लेता हूँ।[६]

"अक्षर तत्त्व" को "जीव", "परा प्रकृति", "अध्यात्म", "पुरुष" तथा "क्षेत्रज्ञ" भी कहते हैं। यह "अपरा प्रकृति" से ऊँचे स्तर का है और यही जगत्

---

१. गीता, ७/४-५।

२. वहीं, ९/७।

३. वहीं, ९/८।

४. मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन्गर्भं दधाम्यहम्। संभवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत।।
सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्तयः संभवन्ति याः। तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता।
–वहीं, १४/३-४।

५. सत्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसम्भवाः।
निबध्नन्ति महाबाहो देहे देहिनमव्ययम्।। –वहीं, १४/५।

६. प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय संभवाम्यात्ममायया। –वहीं, ४/६।

को धारण करता है।[१] यह भूतों का कारण,[२] और भगवान् का अंश,[३] है तथा मरने पर एक शरीर को छोड़कर दूसरे शरीर में प्रवेश करने वाला और इन्द्रियों के द्वारा विषयों का भोग करने वाला है। यह भगवान् की दूसरी "प्रकृति" है, केवल अविद्या के कारण यह तत्त्व भगवान् से भिन्न प्रतीत होता है।[४] यह "उपद्रष्टा", "साक्षी", "अनुमन्ता", "भर्ता", "भोक्ता", "महेश्वर" और "परमात्मा" भी कहलाता है। जीव और भगवान् में वास्तविक भेद न होने के कारण भगवान् के सभी गुण जीव में भी हैं, परन्तु अविद्या के प्रभाव से ये गुण जीवित-दशा में व्यक्त नहीं होते।

इनमें "पुरुषोत्तम" प्रधान तत्त्व है। इन्हें "ईश्वर", "वासुदेव", "कृष्ण", "प्रभु", "साक्षी", "ब्रह्म", "परमपुरुष" आदि भी कहते हैं। सभी भूतों को उत्पन्न तथा नष्ट करने वाला यही है। त्रिगुणमयी "माया" इनकी "दैवीशक्ति" है, जो सदैव इनके साथ रहती है। यह "माया", अचिन्त्य है, इसे न सत् और न असत् कहा जा सकता है। यह पुरुषोत्तम सर्वव्यापी है। यह निर्गुण होते हुए भी सर्वव्यापी है। यह साकार और निराकार दोनों रूपों में प्रदर्शित है। यह सभी के अति निकट होते हुए भी सबसे दूर है। समस्त जगत् इनमें लीन है। जगत् की सभी जड़ और चेतन वस्तुएँ "पुरुषोत्तम" के ही स्वरूप हैं। प्रलय काल में समस्त जगत् "प्रकृति" में लीन हो जाता है और "प्रकृति" भगवान् से अलग[५] होकर रहती है। यही भगवान् हैं और इन्हीं की विभूति अन्तः बाह्य सर्वत्र है।

गीता के उपरोक्त विचारों से यह प्रतीत होता है कि स्वयं भगवान् इस सृष्टि के निमित्त कारण हैं। उन्हीं के माध्यम से इस दृश्यमान जगत् की रचना हुई है। वे अपनी "माया" से कभी भी अलग नहीं होते। वे स्वयं "आप्त-काम" हैं, फिर भी स्वयं कर्म करते हैं और संसार के सभी प्राणियों को कर्म करने के लिए प्रेरित भी करते हैं। वह कर्म इसलिए करते हैं कि हर मनुष्य उनका ही अनुसरण करता है। **गीता** में ईश्वर ने स्वयं कहा है कि "मैं यदि निष्क्रिय होकर बैठ जाऊँ, तो सभी कर्म करना छोड़ देंगे और संसार में अनर्थ हो जायेगा।" इससे उत्पन्न दोष मेरे ही होंगे, क्योंकि लोग, मेरा ही अनुकरण करते हैं।[६] इससे प्रतीत होता है कि भगवान् स्वयं जगत् के स्रष्टा हैं।

---

१. गीता, ७/५।

२. वहीं, ७/६।

३. वहीं, १६/७।

४. वहीं, शांकरभाष्य, १५/७।

५. वहीं, ९/४-७।

६. वहीं, ३/२१-२४।

भारतीय चिन्तन के इतिहास में विचारों का विकास वेदों, उपनिषदों और **गीता** के क्रम से होता हुआ सूत्रों, स्मृतियों, पुराणों एवं आजतक होता रहा है। इस विकास प्रक्रिया में वेदों से ही अनेक प्रकार की धाराएँ निःसृत हुई हैं। उपनिषदों **गीता** तथा ब्रह्मसूत्रों का मूल तो वेद ही है। इस **प्रस्थानत्रयी** पर किये गये भाष्यों से भी वेदान्त के विभिन्न सम्प्रदायों का अभ्युदय भारतीय चिन्तन में हुआ है। इसके अतिरिक्त कुछ ऐसे दर्शन भी हैं जिन पर वैदिक विचारों का पूर्ण प्रभाव है लेकिन उनकी व्याख्या स्वतन्त्र है। ऐसे चिन्तनों में सांख्य, योग, न्याय, वैशेषिक प्रमुख हैं। मीमांसा तो वेदों को ही सर्वोच्च स्थान देती है। इसके साथ ही साथ भारतीय चिन्तन में ऐसे भी सम्प्रदाय हैं, जो वेदों के निरपेक्ष होने का दावा करते हैं। उदाहरण के लिए—चार्वाक, जैन, बौद्ध। इस बात को नकारा नहीं जा सकता है कि इन दर्शनों के बीज भी वेदों, उपनिषदों में मिलते हैं और उन्हीं बीजों की युगानुकूल व्याख्या इन दार्शनिकों ने प्रस्तुत की है।

मुख्य रूप से जिन दो धाराओं में भारतीय चिन्तन का विकास हुआ है उन्हें वेदानुकूल एवं वेद-निरपेक्ष चिन्तन के रूप में समझा जाता है और उन्हें प्रचलित शब्दावली में आस्तिक एवं नास्तिक नामों से जाना जाता है। इसके अतिरिक्त चिन्तन की एक तीसरी धारा भी देखने को मिलती है जिसे आगम साहित्य के नाम से जाना जाता है जिसकी विस्तृत एवं विशद व्याख्या शैव सम्प्रदाय के चिन्तक करते हैं। आगे सृष्टि प्रक्रिया से सम्बन्धित विचारों के विकास को स्पष्ट करने के लिए इन धाराओं का अलग-अलग विवेचन करना आवश्यक है।

नास्तिक सम्प्रदाय में सृष्टिसम्बन्धी चिन्तन

(१) चार्वाक

भारतीय धर्म दर्शन में जहाँ एक ओर वैदिक विचारधारा में अध्यात्म का महत्त्व है, वहीं दूसरी ओर अवैदिक विचारधारा के चार्वाक दर्शन में जड़वाद का। दर्शन के इतिहास में इसे शुद्ध रूप से भौतिकवादी माना जाता है।

सृष्टि की अवधारणा के सम्बन्ध में चार्वाक की मान्यता है कि पृथ्वी, जल, तेज, वायु इन चार पदार्थों से ही जगत् की सृष्टि हुई है। इनका विचार है कि जो पदार्थ हमारे प्रत्यक्ष हैं, वे ही सत्य हैं और इस जगत् में उन्हीं सत्य पदार्थों की सत्ता ही चारों तरफ विद्यमान है। इनके अतिरिक्त वह किसी प्रकार के स्वतन्त्र चेतन की सत्ता को स्वीकार नहीं करता। इसका विचार है कि ये अचेतन (जड़) तत्त्व किसी विशेष अवस्था में आकर, जो उन तत्त्वों के स्वाभाविक परिवर्तनों के कारण उपस्थित

होती है, एक ऐसे स्वरूप को ग्रहण करते हैं, जिसमें हम जड़ पदार्थों से कुछ विलक्षण स्थिति का अनुभव करते हैं। तत्त्व की इसी स्थिति को हम चेतन कहने लगते हैं। यह स्थिति किसी नियत काल तक रहती है, और परिवर्तित होकर पुन: अपनी जड़ अवस्था में चली जाती है।

भारतीय दर्शन पृथ्वी, वायु, अग्नि तथा जल के साथ-साथ आकाश की सत्ता को भी स्वीकार करता है। लेकिन चार्वाक उनके विचारों का खण्डन करता है और आकाश की सत्ता को अस्वीकार करता है। उसके अनुसार आकाश की सत्ता इसलिए स्वीकार नहीं की जा सकती; क्योंकि उसका हम प्रत्यक्ष नहीं कर पाते हैं। जिसका हमें प्रत्यक्षीकरण नहीं होता वह यथार्थ नहीं है, अत: उसका अस्तित्व नहीं है। उसे हम एक सम्भावना मात्र मानते हैं, उनका कोई प्रामाणिक ज्ञान नहीं होता। परन्तु चार्वाक के कुछ विचारकों ने आकाश, प्राण और मनस् को भी जगत् के पदार्थों में मान लिया है। उनके विचार में ''आकाश'' को ''आवरण'' का अभाव कहते हैं। यह हमारे शरीर में नहीं रहता।[१] ''प्राण'' और ''मनस्'' भौतिक पदार्थ हैं[२] और चार्वाक ने इनके भौतिक होने के ही कारण इन्हें पदार्थ रूप में स्वीकार किया है।

चार्वाक के सृष्टि-सम्बन्धी सिद्धान्तों के बारे में आक्षेप लगाया जाता है कि जब चार निर्जीव पदार्थों के कारण ही विश्व का निर्माण हुआ है तो इन निर्जीव पदार्थों से चेतना का आविर्भाव कैसे हो सकता है? इस शंका का समाधान चार्वाक दार्शनिक एक दृष्टान्त के माध्यम से करते हैं। उनका कहना है कि जैसे— पान, कत्था, कसैली और चूना मिलाकर खाने से लाल रंग का विकास होता है, उसी प्रकार पृथ्वी, वायु, जल और अग्नि जब आपस में मिलते हैं तो चेतना का विकास होता है। इस प्रकार चैतन्य के उदय की घटना भी अनुभव के आधार पर समझायी जा सकती है।[३]

चार्वाक दर्शन के विरुद्ध सबसे गम्भीर आपत्ति यह उठाई जाती है कि यदि चेतना शरीर का ही एक धर्म है तो इसका भी प्रत्यक्ष होना चाहिए किन्तु ऐसा नहीं होता। पुन: यदि चेतना की उत्पत्ति जड़ से होती है अथवा यह कहें कि चेतना यदि शरीर का गुण है और शरीर में चेतना की उत्पत्ति का सामर्थ्य यदि है तो चेतना के माध्यम से यह क्यों संचालित होता है?

१. सरस्वती मधुसूदन, सिद्धान्तबिन्दु, पृष्ठ-११९।

२. छान्दो०उप०, ६/५/१।

३. जडभूतविकारेषु चैतन्यं यत्तु दृश्यते ।
ताम्बूलपूगचूर्णानां योगाद् राग इवोत्थितम् । -स०सि०सं०, २/७।

पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु इन चार महाभूतों से सृष्टि की उत्पत्ति का सिद्धान्त उस अर्थ में असंगत प्रतीत होता है कि इनमें गति या शक्ति नहीं है कि ये निश्चित अनुपात में सदैव मिलकर नित्य नूतन सृष्टि की रचना करते रहें। यदि इनमें गति या शक्ति को इनका स्वरूप माना जाय तो संहार या विनाश की व्याख्या नहीं हो सकती। जड़ में गति या शक्ति आयी कहाँ से? इसका उत्तर चार्वाक के जड़वाद में नहीं मिलता। सांख्य जड़ प्रकृति को गतिशील मानता है किन्तु उसकी भी क्रियात्मकता तबतक अभिव्यक्त नहीं होती जबतक चैतन्य का सान्निध्य नहीं मिलता। इसीलिए काश्मीर शैव दार्शनिकों ने जड़-चेतनात्मक अखिल ब्रह्माण्ड की सृष्टि का मूल कारण चैतन्यशक्तिरूप शिव को स्वीकार किया है। इन ज्ञान-क्रिया-रूप शिवतत्त्व को मान लेने पर जड़वाद के विरुद्ध लगाए गए समस्त आरोप निरस्त हो जाते हैं। अध्यात्मवादी सृष्टि की व्याख्या जड़वाद की इसी प्रतिक्रिया का प्रतिफल है। इसकी स्पष्ट व्याख्या के लिए जैन एवं बौद्ध विज्ञानवाद में सृष्टि की व्याख्या अपेक्षित है।

(२) जैन

चार्वाक दर्शन के समान ही नास्तिक सम्प्रदाय में जैन दर्शन भी आता है। इसके महान् प्रवर्तक तीर्थंकर महावीर हैं। आस्थावान् जैनियों द्वारा ऐसा माना जाता है कि इन्द्रिय-निग्रह का जो मार्ग ऋषभ,[1] अजितनाथ तथा अरिष्टनेमि ने प्रवर्तित किया था, उसी की पुनः उद्घोषणा महावीर ने की। जैनधर्म के प्राचीन इतिहास में पार्श्वनाथ का अतिशय महत्त्व है। वे तपस्या के उग्र समर्थक और अहिंसा के पुजारी थे। उनकी नैतिक विचारधारा का नाम विनयवाद का शीलव्रत है। इसलिए यह दर्शन त्याग और वैराग्य प्रधान है। जैन-साधना-साहित्य में ज्ञान, त्याग, बैराग्य, अहिंसा, ब्रह्मचर्य आदि निवृत्ति-प्रधान तत्त्वों का ही विशेष प्रतिपादन किया गया है। भगवान् महावीर ने भी आत्मा से आत्मा को ढूँढ़ने का प्रयास किया था इसलिए उनका जीवनदर्शन धर्म का दर्शन है। धर्म उनकी वाणी का प्रवाह नहीं है। वह उनकी साधना से फूटा है।[2]

सृष्टि के सम्बन्ध में जैन दार्शनिकों ने इस जगत् के मूल में अनेक तत्त्वों की सत्ता को स्वीकार किया है। इसीलिए यह दर्शन बहुतत्त्ववाद के समर्थक के रूप में जाना जाता है। जैन दर्शन में विश्व के प्राकृतिक तथा अप्राकृतिक स्वरूपों का

---

१. ऋषभ का नाम यजुर्वेद में आता है। भागवतपुराण के अनुसार ऋषभ ही जैन मत के प्रवर्तक हैं।

२. मल मुनिनाथ, जैन परम्परा का इतिहास, पृष्ठ २८।

विचार कर सात प्रकार के मूल तत्त्वों का पता लगाया है। इन्हीं तत्त्वों के माध्यम से जगत् की समस्त वस्तुओं का आविर्भाव होता है। ये तत्त्व हैं— ''जीव'', ''अजीव'', ''आस्रव'', ''बन्ध'', ''संवर'', ''निर्जरा'' तथा ''मोक्ष''। विश्व के समस्त भूत-भौतिक जड़ जगत् इन्हीं तत्त्वों के विकार हैं। चेतन आत्म-तत्त्व इन सबसे अतिरिक्त है। चार्वाक दर्शन में आत्मा को भूत-विकार माना गया है, जबकि जैन-दर्शन में आत्मा को नित्य, चेतनस्वरूप स्वीकार किया गया है। जैसे अन्य भारतीय धर्म दर्शन में मोक्ष-प्राप्ति के साधनों को वर्णित करने की भावना से तत्त्व विवेचित किये गये हैं यह बात जैन दर्शन पर भी पूर्ण रूप से लागू होती है। मोक्ष-प्राप्ति के लिए इन्होंने तीन प्रकार के साधन बताये हैं जो ''सम्यक् दर्शन'', ''सम्यक् ज्ञान'' तथा ''सम्यक्'' चारित्र्य'', है।

जैन धर्म के अनुसार समस्त जगत्, जीव, अजीव रूप, चेतन व जड़ में विभाजित है। ये सत्ता सच्ची होने से ''अस्ति'' और ''देहादि'' के समान विस्तारयुक्त होने से ''काय'' है। चेतन जीवास्तिकाय और जड़ पुद्‌गलास्तिकाय है। भूत परमाणुओं का नाम पुद्गल है, जो जगत की उत्पत्ति और विनाश करते हैं। इस प्रकार पुद्गल रूप में चार प्रकार के परमाणु जड़-जगत् के उपादान हैं और जीव चेतना सर्वथा अनुत्पाद्य है। सृष्टि, विभिन्न प्रकार के द्रव्यों के संयोग से उत्पन्न हुई है। चूँकि द्रव्यों के गुण परिवर्तनशील नहीं होते इस आधार पर यह कहा जा सकता है कि संसार नित्य है। किन्तु उसके पर्याय बदलते रहते हैं। इस दृष्टि से परिवर्तनशील भी है।

जैन दार्शनिकों ने समस्त द्रव्यों को दो भागों में बाँटा है— (१) अस्तिकाय (२) अनस्तिकाय। काल ही एकमात्र अनस्तिकाय द्रव्य है। शेष सभी द्रव्य अस्तिकाय है। इन द्रव्यों को अस्तिकाय इसलिए कहा जाता है कि ये ''अस्ति'' और ''काय'' या शरीर की भाँति स्थान या आकाश में हैं।[१] अस्तिकाय दो प्रकार के होते हैं— जीव और अजीव। जीव आत्मा का ही एक दूसरा नाम है। जीव फिर दो प्रकार के होते हैं— जीव और अजीव मुक्त और बद्ध। मुक्त जीव वे हैं जिन्होंने मोक्ष पा लिया है अर्थात् बन्धन से मुक्त हो चुके हैं। बद्ध जीव वे होते हैं, जो अभी तक बन्धन में है। बद्ध जीव फिर दो प्रकार के होते हैं— त्रस और स्थावर। त्रस जीव गतिमान या ज़ंगम होते हैं और स्थावर गतिहीन होते हैं। स्थावर जीव का शरीर सबसे अपूर्ण है। स्थावर जीव क्षिति, जल, अग्नि, वायु या वनस्पति रूप शरीरों में रहते हैं।[२] स्थावर जीव को केवल स्पर्शेन्द्रिय होती है। अतः उसे केवल

---

१. द्रव्य-संग्रह, २४।

२. स्याद्वादमंजरी, २९ और षड्दर्शनसमुच्चय पर गुणरत्न की टीका, पृष्ठ-४९।

स्पर्शज्ञान ही हो सकता है। त्रस जीवों में न्यूनाधिक विकास पाया जाता है। उनमें क्रमश: दो, तीन, चार और पाँच इन्द्रियाँ पायी जाती हैं। उदाहरणार्थ— सीप, घोंघा आदि को दो इन्द्रियाँ होती हैं— त्वचा तथा जिह्वा। चींटी आदि को तीन इन्द्रियाँ होती हैं— त्वचा, जिह्वा तथा नासिका। भौंरे आदि को चार इन्द्रियाँ होती हैं— त्वचा, जिह्वा, नासिका तथा चक्षु। उच्च पशुओं , पक्षियों तथा मनुष्यों को पाँच इन्द्रियाँ होती हैं— त्वचा, जिह्वा, नासिका, चक्षु तथा कर्ण। अस्तिकाय उपजीव चार हैं— धर्म, अधर्म, आकाश और पुद्‌गल।

चेतन द्रव्य को जीव या आत्मा कहते हैं।[१] जीव में प्रत्येक क्षण चैतन्य विद्यमान रहता है। किन्तु भिन्न-भिन्न जीवों में इसका स्वरूप तथा इसकी मात्रा भिन्न-भिन्न होती है। मात्रा-भेद के अनुसार जीवों में एक तारतम्य है जिसमें सिद्ध आत्माओं का स्थान सर्वोच्च है। सिद्ध वे हैं जो कर्मों पर विजय पा लेते हैं और पूर्ण ज्ञानी हो जाते हैं। सबसे नीचे स्थान में ऐसे एकेन्द्रिय जीव हैं, जो क्षिति, जल, अग्नि, वायु या वनस्पति में वास करते हैं।[२] यों तो इन जीवों में चैतन्य का सर्वथा अभाव मालूम पड़ता है लेकिन वस्तुत: इनमें भी स्पर्श-ज्ञान वर्तमान रहता है। हाँ, यह ठीक है कि इनका ज्ञान या चैतन्य कर्मजनित बाधाओं के कारण अत्यन्त सीमित एवं अस्पष्ट रहता है।[३] जिन्हें दो से पाँच तक इन्द्रियाँ होती हैं उनका स्थान जीवों में मध्यम है। जैसे कृमि, पिपीलिका, भ्रमर, मनुष्य आदि।[४] जीव ही ज्ञान प्राप्त करता है, वही कर्म भी करता है। सुख-दु:ख भी वही भोगता है। जीव स्वयं प्रकाशमय है तथा अन्य वस्तुओं को भी प्रकाशित करता है। यह नित्य है, किन्तु इसकी अवस्थाएँ बदलती रहती हैं। यह शरीर से भिन्न है। इसका अस्तित्व आत्मानुभूति से ही प्रमाणित हो जाता है। यह चैतन्य शरीर के बाहर नहीं वरन् इसके अन्दर ही रहता है।

जैन दर्शन के अनुसार समस्त जड़ पदार्थ एक ही पदार्थ पुद्गल से उत्पन्न हैं और सभी जड़ पदार्थ एवं अणु धर्म (गुण) की दृष्टि से एक तरह के हैं। जब जैनी समस्त आत्माओं एवं अणुओं में धर्मात्मक भेद नहीं स्वीकार करते तब अनन्त प्रकार के भेदों को स्वीकार करना असंगत है। पुन: जैन दर्शन में जीव और पुद्गल, आत्मा और जड़, विषय एवं वस्तु के बीच किसी परम सत्ता में समन्वय स्थापित करने का कोई प्रयास नहीं मिलता। सांख्य में प्रकृतिपुरुष को दो निरपेक्ष सत्ता माना गया

१. षड्दर्शन-समुच्चय पर गुणरत्न की टीका, पृष्ठ-४७।

२. तत्त्वार्थाधिगम-सूत्र, २/२२।

३. षड्दर्शन-समुच्चय पर गुणरत्न की टीका।

४. तत्त्वार्थाधिगम, सूत्र २/२३।

है जिसमें परस्पर कोई सम्बन्ध नहीं होता किन्तु जैन दर्शन में जड़ चेतन के इस भेद को निरपेक्ष या परमनिरपेक्ष नहीं माना गया है। पुद्गल एवं आत्मा वास्तव में एक दूसरे से जुड़े रहते हैं। जीव को पुद्गल की आवश्यकता है और पुद्गल को जीव की आवश्यकता है। दोनों में से कोई एक उत्पत्ति नहीं कर सकता दोनों एक साथ प्राप्त होते हैं। किन्तु समस्या उठती है कि जड़ और चेतन वास्तविक रूप से एक साथ जुड़े कैसे हो सकते हैं? जीव विशुद्ध चैतन्य है, आनन्द है, शक्ति है जबकि पुद्गल अचेतन, जीवनरहित और बन्धनमात्र है। कर्म दोनों को जोड़ता है और कर्म वासनाजनित होता है और वासना अज्ञान से उत्पन्न होती है। इस स्थिति में प्रश्न उठता है कि विशुद्ध चैतन्य एवं शक्ति रूप चेतना अज्ञान (पुद्गल) वासना या कर्म से जुड़ेगी कैसे? अगर अज्ञान और कर्म आत्मा से पृथक् नहीं हो सकते तो मोक्ष सम्भव नहीं होता और यदि आत्मा से अज्ञान और कर्म का कोई सम्बन्ध नहीं तो बन्धन ही सम्भव नहीं होगा। जैनियों के अनुसार हमें सदैव जड़-चेतन का एक साथ होने का ही ज्ञान होता है। जड़ चेतन का संयोग (यूनियन) अनादि है इस स्थिति में अनादि बन्धन से छुटकारा पाना भी एक प्रश्नवाचक चिह्न होगा। इसके अतिरिक्त बौद्ध एवं वैशेषिक दर्शन भी जैन दर्शन की सृष्टि सम्बन्धी अवधारणा की आलोचना करते हैं जिसका वर्णन आगे प्रस्तुत है।

(३) बौद्ध

जैन दर्शन के साथ ही बौद्ध दर्शन का भी विकास हुआ था। इसलिए इन दोनों को समकालीन दर्शन के रूप में जाना जाता है। इन दर्शनों का उदय उस समय हुआ जिस समय वैदिक धर्म और दर्शन का चारों तरफ बोलबाला था। इस परिस्थिति में वेद और ईश्वर को न मानने वाले दर्शनों का विकास होना अपने आप में एक महत्त्वपूर्ण बात है। प्राचीन वैदिक धर्म आत्मवादी था; क्योंकि वह "चेतन आदि कारण" की सत्ता में विश्वास करता था। उस परिस्थिति में नवोदित बौद्धधर्म ने "चेतन आदि कारण" की सत्ता को अस्वीकार करके आत्मवाद के बदले अनात्मवाद का प्रतिपादन किया। उपनिषदों के लिए शाश्वत एवं आनन्दमय आत्मा, सर्वोत्कृष्ट तत्त्व था परन्तु बुद्ध के शाश्वत तत्त्व कुछ नहीं थे। वे सबको क्षणिक, परिवर्तनशील शून्यवत्[१] एवं दुःखमय मानते थे।[२] उनके विचार से आत्मा के नित्य, ध्रुव तत्त्व, शाश्वतता, नियन्ता आदि का अनुभव करना बालधर्म का अनुगमन करना है।

---

१. सेन, क्षितिमोहन, दी कॉन्सेप्शन ऐण्ड डेवलपमेण्ट ऑफ् शून्यवाद इन मेडिवल इण्डिया, पहला भाग।

२. राधाकृष्णन्, इण्डियन फिलॉसाफी, पृष्ठ २८९-९०।

बौद्ध दर्शन ने जगत् की सृष्टि के सम्बन्ध में किसी सद्रूप उपादान के अस्तित्व को स्वीकार नहीं किया है। उसके अनुसार केवल असत् अथवा शून्य ही वास्तविक और सब कुछ है। बौद्ध दर्शन की चार प्रसिद्ध शाखाएँ हैं— (१) माध्यमिक शून्यवाद, (२) योगाचार विज्ञानवाद, (३) सौत्रान्तिक (बाह्यानुमेयवाद) तथा (४) वैभाषिक-(बाह्य प्रत्यक्षवाद)। इनमें से दो इस दृश्यमान समस्त बाह्य अर्थ की सद्रूपता को स्वीकार करते हैं, पर अन्त में उनका भी तात्पर्य "असत्" में ही निहित होता है। शेष दो में से एक मुख्य शाखा सर्वात्मना "असत्" का प्रतिपादन करती है और दूसरी चित्त अथवा विज्ञान नाम से क्षणिक, अर्थात् प्रतिक्षण परिणामशील अस्तित्त्व को मानती है। उस चित्त के प्रतिक्षण परिणाम का यह चमत्कार है, कि बाह्य रूप में यह समस्त जगत् प्रतिभासित होता रहता है।[१]

माध्यमिक शून्यवादी शून्य को ही वास्तविक सत्य मानते हैं। यह अनिवर्चनीय तत्त्व का द्योतक है, जो न सत् है न असत् है और न इन दोनों से भिन्न है। इन चारों स्तरों में न होने के कारण इसे शून्यवाद कहा जाता है। इनकी यह मान्यता है कि इस दृश्य जगत् के परे पारमार्थिक सत्ता अवश्य है। लेकिन वह अवर्णनीय है। उसके सम्बन्ध में न कुछ जाना जा सकता और न कुछ कहा जा सकता है कि वह मानसिक है या बाह्य। इसलिए सामान्य विचारधारा से परे होने के कारण ही उसे शून्य कहते हैं। वैसे हमें वस्तुओं के अस्तित्व की प्रतीति तो होती है किन्तु जब हम उनके तात्त्विक स्वरूप को जानने के लिए प्रयत्नशील होते हैं तो हमारी बुद्धि काम नहीं देती। हम उस वस्तु के सम्बन्ध में ठीक से यह निश्चय नहीं कर पाते कि उसका जो स्वरूप है वह सत्य है, असत्य है या दोनों है अथवा न तो सत्य है और न तो असत्य है। तब हम इन कोटियों से भिन्न होने के कारण ही उसे शून्य कहते हैं। इससे यह प्रतीत होता है कि वस्तुओं का पारमार्थिक स्वरूप अवर्णनीय है। इस अवर्णनीयता को प्रमाणित करने के लिए वस्तुओं की परनिर्भरता की सहायता ली गयी है। नागार्जुन भी इस प्रतीत्यसमुत्पाद को शून्य मानते हैं।[२] वस्तुओं का कोई भी ऐसा धर्म नहीं है जिसकी उत्पत्ति किसी और पर निर्भर न हो। इसलिए जितने धर्म हैं सभी शून्य हैं।[३] उपरोक्त विचार से यह प्रतीत होता है कि वस्तुओं के परावलम्बन को, उनकी निरन्तर परिवर्तनशीलताा को, उनकी अवर्णनीयता को शून्य कहते हैं।

---

१. अयं भिक्खवेः केवलो परिपूरो ब्रह्मधम्मो। –मज्झिमनिकाय, १/१/२।

२. माध्यमिकशास्त्र, अध्याय २४, कारिका १८।

३. वही, कारिका, १९।

विज्ञानवाद के अनुसार चित्त की ही एकमात्र सत्ता है। विज्ञान के प्रवाह को ही चित्त कहते हैं। यह शरीर तथा अन्य पदार्थ जो हमारे मन से भिन्न प्रतीत होते हैं, वे सभी हमारे मन के अन्दर ही विद्यमान हैं। जिस प्रकार हम स्वप्न की अवस्था में वस्तुओं को बाह्य समझते हैं, जबकि वे हमारे मन के अन्दर ही रहती हैं, ठीक उसी तरह साधारण मानसिक अवस्थाओं में भी जो पदार्थ बाह्य प्रतीत होते हैं वे विज्ञानमात्र हैं। वस्तुत: किसी वस्तु में तथा तत्सम्बन्धी ज्ञान में कोई भेद सिद्ध नहीं किया जा सकता है। इसलिए बाह्य वस्तु का अस्तित्व बिल्कुल असिद्ध है। जिस प्रकार नीले रंग तथा नीले रंग के ज्ञान में कोई अन्तर नहीं है; क्योंकि दोनों का पृथक् अस्तित्व नहीं है, दोनों एक ही हैं उसी प्रकार किसी वस्तु का ज्ञान पूर्व ज्ञान के बिना नहीं हो सकता। अत: यह सिद्ध नहीं किया जा सकता कि ज्ञान से भिन्न वस्तु का कोई अस्तित्व है।

बाह्य वस्तुओं के अस्तित्व को स्वीकार करने से यह कठिनाई उत्पन्न होती है कि यदि कोई बाह्य वस्तु है तो वह या तो एक अणु है या अनेक अणुओं की बनी हुई है। किन्तु अणु तो इतने सूक्ष्म होते हैं कि उसका प्रत्यक्ष सम्भव नहीं हो सकता। एक से अधिक अणुओं से बनी किसी पूरी वस्तु का प्रत्यक्ष भी नहीं हो सकता। उदाहरण के लिए यदि हम एक घट को देखना चाहते हैं तो हमारे द्वारा सम्पूर्ण घट को एक साथ देखना सम्भव नहीं है। घट के जिस भाग को हम देखते हैं, घट का वही आंशिक भाग दृष्टिगोचर होता है। उसका दूसरा भाग हमें नहीं दिखाई पड़ता परन्तु हम उसके आंशिक भाग के द्वारा ही उसके सर्वस्व की जानकारी कर लेते हैं; क्योंकि घट के प्रत्येक भाग को एक साथ देखना सम्भव नहीं है। इसी प्रकार कोई वस्तु अणुमात्र है तो अत्यन्त सूक्ष्म होने के कारण वह हमें दिखाई नहीं पड़ती और यदि वह अनेक अणुओं के संयोग से बनी है तो फिर वही कठिनाई उत्पन्न होती है जो पूरे घट को एक साथ देखने में उत्पन्न होती है। उसी प्रकार मन के बाहर यदि वस्तु का अस्तित्व माना भी जाय तो उसका ज्ञान असम्भव है।

दूसरी बात यह है कि वस्तु का ज्ञान तब तक नहीं हो सकता जबतक उस वस्तु की उत्पत्ति नहीं हो जाती लेकिन यह भी सम्भव नहीं है; क्योंकि वस्तु तो क्षणिक है। उत्पत्ति के साथ ही उसका नाश हो जाता है। किसी वस्तु का ज्ञान एक ही क्षण में हो, यह भी नहीं कहा जा सकता; क्योंकि बाह्य वस्तुवादी वस्तु को ज्ञान का कारण मानते हैं। किन्तु कारण तो कार्य के पहले ही होता है। वे समसामयिक नहीं हो सकते। इसलिए किसी वस्तु के नष्ट होने पर उसका प्रत्यक्ष होता है — यह सम्भव नहीं हो सकता। अत: प्रत्यक्ष ज्ञान वर्तमान वस्तुओं का ही हो सकता

है। बाह्य वस्तुओं का ज्ञान सम्भव नहीं होता। इससे यह सिद्ध होता है कि ज्ञान के अतिरिक्त वस्तुओं का अस्तित्व नहीं है। योगाचारियों के इस मत को ही विज्ञानवाद के नाम से जाना जाता है, जो केवल विज्ञान को ही एकमात्र सत्ता स्वीकार करते हैं।

विज्ञानवादियों के विरुद्ध यह आक्षेप लगाया गया है कि अगर वस्तु का अस्तित्व ज्ञान पर निर्भर है तो वह अपनी इच्छा के अनुसार किसी वस्तु को उत्पन्न क्यों नहीं कर सकता? विज्ञानवादी इसका उत्तर देते हुए कहते हैं कि मन एक प्रवाह है। इस प्रवाह में अतीत अनुभव का संस्कार निहित है। जिस समय जिस संस्कार के लिए परिस्थिति अनुकूल रहती है उस समय उसी संस्कार की उत्पत्ति होती है जिसके परिणामस्वरूप उस समय उसी प्रकार का ज्ञान उत्पन्न होता है। इस प्रकार विशेष समय में विशेष प्रकार का ही ज्ञान सम्भव हो सकता है।

विज्ञानवादी मन को आलय-विज्ञान कहते हैं; क्योंकि वह विभिन्न प्रकार के विज्ञानों का भण्डार है। इसमें सभी ज्ञान बीज रूप में निहित हैं। लेकिन आलय-विज्ञान और आत्मा में बहुत बड़ा अन्तर है। क्योंकि आत्मा अपरिवर्तनशील या नित्य है जबकि आलय-विज्ञान परिवर्तनशील चित्तवृत्तियों का एक प्रवाह है। अभ्यास तथा आत्मसंयम के द्वारा विषय-विज्ञान की उत्पत्ति रोकी जा सकती है और इससे निर्वाण प्राप्त हो सकता है। आत्मसंयम तथा योगाभ्यास के मार्ग का अनुसरण यदि नहीं किया जाय तो तृष्णाओं तथा आसक्तियों से मुक्ति नहीं मिल सकती है। इसलिए केवल विज्ञान ही परिनिष्पन्न और स्वतन्त्र है। जगत् इसी पर आधारित है और परतन्त्र है। जैसे मिथ्या सर्प, स्वप्न आदि जगत् की वस्तु पर आधारित हैं।

सौत्रान्तिक चित्त तथा बाह्य जगत् दोनों को ही मानते हैं। उनके अनुसार यदि बाह्य वस्तुओं के अस्तित्व को नहीं माना जाय तो बाह्य वस्तुओं की प्रतीति कैसे होती है? इसको हम स्वयं निर्मित नहीं कह सकते। जिसने बाह्य वस्तुओं को कभी प्रत्यक्ष नहीं देखा है वह यह नहीं कह सकता कि भ्रमवश अपनी मानसिक अवस्था ही बाह्य वस्तु के सदृश प्रतीत होती है। उसके लिए "बाह्य वस्तु के सदृश" यह कहना उसी तरह अर्थहीन है जिस तरह बन्ध्यापुत्र। विज्ञानवादियों के अनुसार बाह्य वस्तुओं की न तो कोई सत्ता होती है और न तो उनके साथ किसी की तुलना की जा सकती है। सौत्रान्तिक कहते हैं कि यह सही है कि वस्तु के वर्तमान रहने पर ही उसका प्रत्यक्ष होता है, किन्तु वस्तु और उसका ज्ञान समकालीन है इसलिए अभिन्न है। यह युक्ति ठीक नहीं है। हमें जब घट का प्रत्यक्ष होता है तो घट हमारे बाहर है और ज्ञान अन्दर है इसका स्पष्ट अनुभव होता है इसलिए वस्तु को ज्ञान से भिन्न

मानना चाहिए। यदि घट में तथा मुझमें कोई भेद नहीं होता तो मैं कहता कि ''मैं ही घट हूँ'', यदि बाह्य वस्तुओं का कोई अस्तित्व नहीं होता तो ''घट-ज्ञान'' तथा ''पट-ज्ञान'' में भी कोई भेद नहीं होता। घट और पट दोनों यदि केवल ज्ञान हैं तो दोनों एक हैं। लेकिन ''घट-ज्ञान'' तथा ''पट-ज्ञान'' को हम एक नहीं मानते हैं। अतः इससे सिद्ध होता है कि दोनों में वस्तु-सम्बन्धी भेद अवश्य है।

उपरोक्त विचारों से यह प्रतीत होता है कि बाह्य वस्तुओं का अस्तित्व मानना नितान्त आवश्यक है। बाह्य वस्तुओं के अनेक आकार होने के कारण ही ज्ञान के भिन्न-भिन्न आकार होते हैं। इन विभिन्न आकार के ज्ञान से हम उनके कारण-स्वरूप विभिन्न बाह्य वस्तुओं का अनुमान कर सकते हैं। वैभाषिक भी चित्त तथा बाह्य वस्तु के अस्तित्व को मानते हैं। इनके अनुसार जिस जगत् का अनुभव हमें अपनी इन्द्रियों के द्वारा हो रहा है, उसकी बाह्य सत्ता अवश्य है।

योगाचार विज्ञानवाद एवं वैभाषिक सम्प्रदायों की सृष्टि-सम्बन्धी अवधारणा पर विचार करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि जगत् केवल संघात मात्र नहीं है अपितु एक चेतन तत्त्व (विज्ञान) की अभिव्यक्ति है। अन्तःबाह्य समस्त पदार्थ इस विज्ञान की ही अभिव्यक्ति है। अतः यह सिद्धान्त पूर्ण अध्यात्मावाद की तरफ संकेत करता है। अध्यात्मवादी दर्शनों में चैतन्य-स्वरूप परम कारण से समस्त सृष्टि की उत्पत्ति बतलायी गयी है। और इस प्रत्यक्ष जगत् से भी उसी चैतन्य को अभिव्यक्त स्वीकार किया गया है। किन्तु विज्ञानवाद के विरुद्ध आत्मगत सिद्धान्त होने का आरोप लगाकर यह दिखाया जाता है कि यह बाह्य वस्तुओं की सत्ता को तिरस्कृत करता है। किन्तु जगत् को क्षणिक विज्ञान की अभिव्यक्ति मात्र नहीं कहा जा सकता। जहाँ शून्यवाद जगत् की सत्ता का निषेध करता है वहीं शून्यवाद समस्त विश्व को एक परिवर्तनशील क्षणिक विज्ञान का प्रवाहमात्र स्वीकार करता है। दूसरी तरफ आलय विज्ञान से समस्त सृष्टि की उत्पत्ति एवं आलय विज्ञान की नित्यता का प्रतिवाद न करके बौद्धविज्ञानवादी उपनिषद् प्रतिपादित सिद्धान्त के काफी नजदीक चले जाते हैं। दूसरा स्पष्ट कारण यह है कि विज्ञानवादियों पर सांख्य एवं वेदान्त का स्पष्ट प्रभाव रहा है और विज्ञानवादियों के प्रभाव में अद्वैत वेदान्ती अपने सिद्धान्त की व्याख्या करते हैं।

आस्तिक सम्प्रदाय में सृष्टि-सम्बन्धी चिन्तन

(१) सांख्य

सांख्य दर्शन एक प्राचीन और महत्त्वपूर्ण दर्शन है। वेदान्त के बाद सांख्य को ही सबसे महत्त्वपूर्ण दर्शन माना जाता है। यह द्वैतवाद का समर्थक है। इसमें

दो प्रमुख सत्ता प्रकृति और पुरुष हैं। प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द ही इसके मुख्य प्रमाण माने जाते हैं। इसमें मौलिक तत्त्वों की संख्या बतायी गयी है। इन तत्त्वों की संख्या कहीं चौबीस, कहीं पच्चीस और कहीं छब्बीस मानी गयी है।[१] वस्तुतः इसकी संख्या पच्चीस ही सर्वमान्य है। इन तत्त्वों का ज्ञान प्राप्त कर लेने से किसी भी आश्रम का व्यक्ति चाहे व "जटी" हो, "मुण्डी" हो या "शिखी" हो, दुःखों से मोक्ष प्राप्त कर सकता है।[२]

सांख्य दर्शन, चार्वाक, बौद्ध और जैन दर्शनों के इस सिद्धान्त से सहमत नहीं है कि पृथ्वी, जल, तेज और वायु के परमाणु से जगत् की उत्पत्ति होती है। इसके अनुसार मन, बुद्धि, अहंकार जैसे सूक्ष्म तत्त्वों की उत्पत्ति भौतिक परमाणुओं से नहीं हो सकती। इसके लिए ऐसे मूल कारण की आवश्यकता है जो इन स्थूल पदार्थों के साथ-साथ सूक्ष्म तत्त्व जैसे— मन, बुद्धि, अहंकार की भी उत्पत्ति कर सके। प्रायः ऐसा देखा जाता है कि कारण कार्य की अपेक्षा सूक्ष्म और उसमें अन्तर्निहित रहता है। इसलिए इस सृष्टि का मूल कारण ऐसा होना चाहिए जो जड़ होने के साथ ही सूक्ष्मातिसूक्ष्म हो, जो अनादि, अनन्त और व्यापक रूप से जगत् के पदार्थों का कारण हो और जिससे विषय की उत्पत्ति होती रहे। इसी मूल कारण को सांख्य दर्शन में "प्रकृति" के नाम से सम्बोधित किया गया है। यह सभी विषयों का मूल कारण है। यह स्वयं अनादि है। यह अचेतन सत्त्व, रज और तम गुणों की साम्यावस्था से युक्त है। इसे "प्रसववन्ती" भी कहा गया है। यह वह तत्त्व है जो सबका कारण तो है, पर स्वयं किसी का कार्य नहीं है। समस्त विषयों का अनादि मूलस्रोत होने के कारण यह प्रकृति नित्य और निरपेक्ष है, क्योंकि सापेक्ष और अनित्य पदार्थ जगत् का मूल कारण नहीं हो सकता। मन, बुद्धि और अहंकार जैसे सूक्ष्म कार्यों का आधार होने के कारण प्रकृति एक गहन, अनन्त और सूक्ष्मातिसूक्ष्म शक्ति है जिसके द्वारा संसार की सृष्टि और संहार का कार्य सम्पादित होता रहता है।

प्रकृति के बाद सांख्य दर्शन का दूसरा तत्त्व पुरुष या आत्मा है।[३] इसका अस्तित्व निर्विवाद है। यह आत्मा, शरीर, इन्द्रिय, मन और बुद्धि से भिन्न है। यह सांसारिक

---

१. महाभारत, शान्तिपर्व, ३०३-३०८।

२. पंचविंशतितत्त्वज्ञो यत्र कुत्राश्रमे वसेत् ।
जटी मुण्डी शिखी वापि मुच्यते नात्र संशयः ।। --सं०सि०सं०,९/११।

३. वेदान्त सार, ५१/५९; कारिका और कौमुदी, १७-२०; प्रवचन-भाष्य और वृत्ति १/६६, १/१३८-६४, ५/६१-६८।

विषय नहीं है। यह सदैव ज्ञाता के रूप में रहता है, यह कभी ज्ञान का विषय नहीं हो सकता। यह पुरुष या आत्मा केवल द्रष्टा है, जो प्रकृति की परिधि से परे और शुद्ध चैतन्य है। इसमें कोई क्रिया नहीं होती। वह निष्क्रिय और अविकारी होता है। वह नित्य और सर्वव्यापी सत्ता है, जो सभी विषयों से पृथक् और राग-द्वेष से परे है।

सांख्य दर्शन के अनुसार इस प्रकृति और पुरुष के संयोग से ही सृष्टि होती है।[१] जब प्रकृति पुरुष के संसर्ग में आती है, तो उसकी साम्यावस्था भंग हो जाती है और उसमें विषमता उत्पन्न हो जाती है। इस स्थिति से प्रकृति गतिशील हो जाती है, जिसके परिणामस्वरूप महदादिक्रम से अन्य सभी तत्त्वों का विकास होने लगता है तभी संसार की उत्पत्ति होती है। यह प्रकृति पुरुष का संयोग एक विशेष प्रकार का होता है, जबतक इन दोनों का सम्बन्ध नहीं होता तब तक संसार की सृष्टि नहीं हो सकती। अकेला पुरुष सृष्टि नहीं कर सकता क्योंकि वह निष्क्रिय है। इसी तरह अकेली प्रकृति सृष्टि नहीं करती; क्योंकि वह जड़ है। प्रकृति की क्रिया पुरुष के चैतन्य से निरूपित होती है, तभी सृष्टि का विकास होता है।

इस प्रकार सांख्य दर्शन प्रकृति और पुरुष इन दो तत्त्वों के माध्यम से जगत् की उत्पत्ति मानता है। यह प्रकृति संसार का उपादान और निमित्त दोनों कारण है। यह सक्रिय और सदैव परिवर्तनशील रहती है, परन्तु साथ ही यह अचेतन और जड़ भी है। इस प्रश्न पर कि जड़ और अचेतन से जगत् की उत्पत्ति कैसे होती है? और जब प्रकृति साम्यावस्था में थी तब उसमें विकार क्यों उत्पन्न हुआ? इसके उत्तर में सांख्य दर्शन दूसरे तत्त्व पुरुष या आत्मा का सहारा लेता है। उसका कहना है कि पुरुष शुद्ध चैतन्यरूप आत्मा है जो नित्य और अविकारी है। वह चेतन होता है, परन्तु साथ ही निष्क्रिय और अपरिणामी होता है। इन्हीं चेतन पुरुष के सम्पर्क से जड़ प्रकृति संसार की सृष्टि करती है। सांख्य के अनुसार पुरुष के सान्निध्य या सामीप्य मात्र से प्रकृति में क्रियाप्रवर्तन हो जाता है। इस क्रिया के बाद भी पुरुष निर्विकार रहता है। इस प्रकार पुरुष का प्रतिबिम्ब ही जड़ बुद्धि पर पड़ने से उनमें ज्ञानादिक क्रियायों की उत्पत्ति हो जाती है।

सांख्य-सिद्धान्त की तर्कव्यवस्था जैन दर्शन की तरह ही विज्ञानवादी एक देववाद अथवा निरपेक्ष तत्त्ववाद की स्थापना का संकेत देती हुई प्रतीत होती है किन्तु अध्यात्मवादी बहुतत्त्ववाद एवं द्वैतवादी व्यवस्था में ही उलझ जाती है। इसका प्रमुख कारण यह है कि सांख्य प्रकृति और पुरुष दोनों तत्त्वों को पूर्ण निरपेक्ष तत्त्व स्वीकार करता है और इस प्रकार परस्पर दो निरपेक्ष तत्त्व अनुभूति के स्तर पर

---

१. कारिका और कौमुदी, २१-२४; प्रवचनभाष्य और वृत्ति, १/६४, ७४२/१०-३२।

केवल दो तरह के विचारों के अमूर्तीकरण रूप ही रह जाते हैं। क्योंकि अनुभव में तो जड़ चेतन, वस्तु-विचार दोनों एक दूसरे के सापेक्ष ही अनुभूत होते हैं। विषयी और विषय परस्पर निरपेक्ष नहीं अपितु सापेक्ष होते हैं। किन्तु सांख्य में विषयी विषय के द्वैत को स्वीकार कर तमाम विरोधों को स्थान दे दिया गया है सांख्य की तर्कीय व्यवस्था के अनुसार पुरुष को परम सत्ता के रूप में मानकर प्रकृति को उसकी अपरिहार्य शक्ति के रूप में स्वीकार करना चाहिए। इस स्थिति में पुरुष का प्रतिबिम्ब प्रकृति पर पड़ने पर अहंकार आदि का स्वामी जीव और बुद्ध्यादि विषय की व्यवस्था में विषयी विषय का अपरिहार्य सम्बन्ध बन पाता किन्तु सांख्य सिद्धान्त ऐसा नहीं मानता। पुरुष ही जीव एवं प्रकृति के द्वैत का कारण है जो दोनों से अतीत भी है। जीव भी मोक्षोपरान्त परमपुरुष रूप है और परमपुरुषरूपता का साक्षात्कार ही जीव का लक्ष्य है। ये बातें सांख्य की तार्किक व्यवस्था के परिणामस्वरूप निष्कर्षित होती हैं, किन्तु सांख्य इन सिद्धान्तों को तिरस्कृत करता है और अनेकों द्वन्द्वों को उत्पन्न कर देता है।

अगर प्रकृति पुरुष दोनों परस्पर निरपेक्ष और पूर्ण हैं तो दोनों एक दूसरे के सम्पर्क में कभी भी नहीं आ सकते, अतः सृष्टि सम्भव ही नहीं होगी। पुनः प्रकृति जड़ है और पुरुष असंग है और इन दोनों के बीच कोई तीसरा तत्त्व नहीं है तो दोनों में सम्पर्क नहीं हो सकता न तो संयोग ही सम्भव है, न संयोगाभास ही सम्भव है और इस स्थिति में पुरुषसान्निध्य का भी कोई अर्थ नहीं निकल सकेगा। अतः सृष्टि नहीं होगी। जड़ प्रकृति की सृष्टि यदि मान भी ले तो जड़ एवं अन्धी प्रकृति से यान्त्रिक एवं अन्धी (अव्यवस्थित) सृष्टि ही होगी, अतः संकल्प स्वतन्त्र नहीं हो सकता। यदि यह माने कि प्रकृति एवं महदादि विकार पुरुष के प्रयोजन की सिद्धि के लिए हैं तो प्रकृति को जड़ भी नहीं कह सकते और न ही निरपेक्ष मान सकते हैं। यदि प्रकृति जड़ और अन्धी है तो एकरस सामरस्यपूर्ण सृष्टि की कर्त्री नहीं हो सकती। क्योंकि चैतन्य (पुरुष) के बिना केवल ईंट-सीमेण्ट आदि ही भवन का निर्माण नहीं कर सकते। प्रकृति के गुणों में जीवन प्रदान करने के सूत्र की व्याख्या जड़ प्रकृति से नहीं की जा सकती। गाय के स्तर से बछड़े के लिए निकलने वाले दूध का दृष्टान्त भी संगत नहीं है; क्योंकि गाय में चेतना है और इसीलिए वात्सल्य के कारण दूध निकलता है। जड़ प्रकृति में इस तरह का वात्सल्य मानने पर वह जड़ नहीं रह सकती। जड़ प्रकृति एवं चेतन पुरुष दोनों का सामान्य लक्ष्य हो, ऐसा भी नहीं माना जा सकता। लोहे और चुम्बक का दृष्टान्त भी असंगत है; क्योंकि यहाँ दोनों जड़ हैं। अन्धे और लंगड़े का दृष्टान्त भी उपयुक्त नहीं है क्योंकि यहाँ दोनों चेतन हैं जबकि प्रकृति पुरुष क्रमशः जड़-चेतन हैं।

निरपेक्ष प्रकृति शब्द अपने आप में विरोधी है; क्योंकि यह पुरुष के सम्पर्क के बिना विकसित ही नहीं हो सकती। भले ही वह सम्पर्क वास्तविक हो, आभासिक हो या पुरुष की उपस्थिति मात्र ही हो। अगर यह पूर्ण है तो पुरुष के प्रयोजन के लिए क्यों सृष्टि करेगी? और अगर जड़ एवं अन्धी है तो इस प्रयोजन की पूर्ति कैसे करेगी? अगर प्रकृति नर्तकी, नारी की तरह है तो वह पुरुष के प्रयोजन की पूर्ति करती है वह (अन्धी है, शर्मीली है और ज्ञानी पुरुष के समक्ष पुनः उपस्थित नहीं होती है), वह इन्द्रधनुष के सात रंगों की तरह पुष्प को आकर्षित करती है तो प्रकृति निर्वैयक्तिक न होकर वैयक्तिक (परसनल) होगी, वह पूर्ण निरपेक्ष न होकर सापेक्ष होगी। प्रकृति ही नानारूपों से अपने को बाँधती है, संसरण करती है, मुक्त होती है, यह कथन क्या प्रकृति को सापेक्ष सिद्ध नहीं करता? अगर ज्ञाता पुरुष के लिए वह निवृत्त हो जाती है तो पूर्ण एवं नित्य व्याप्त कैसे होगी? प्रकृति के ये वर्णन वेदान्त की माया की तरह हैं और आचार्य शंकर ने इसी आधार पर प्रकृति को माया के रूप में रूपान्तरित कर मायावाद का तार्किक सिद्धान्त प्रस्तुत किया है।[१]

(२) योग

योग भारतीय दर्शन की गौरवपूर्ण उपलब्धि है। योग दर्शन में सृष्टि की प्रक्रिया सांख्य दर्शन में स्वीकृत तत्त्वों के आधार पर होती है। लेकिन दोनों दर्शनों में सृष्टि प्रक्रिया को लेकर जो मूलभूत अन्तर है वह यह है कि सांख्य दर्शन पुरुष और प्रकृति के संयोग से सृष्टि मानता है और उसमें संयोग को अपने आप मानता है वह किसी पर निर्भर नहीं रहता, परन्तु योग दर्शन सृष्टि को पुरुष और प्रकृति का संयोग अवश्य मानता है, लेकिन दोनों के संयोग के लिए वह ईश्वर पर निर्भर रहता है। उसका यह विचार है कि बिना ईश्वर की इच्छा से पुरुष और प्रकृति का संयोग कभी भी सम्भव नहीं है। अतः सृष्टि की प्रक्रिया में ईश्वर ही प्रमुख तत्त्व है और जितने भी तत्त्व सृष्टि के विकास में पाये जाते हैं, वह सब इसके अधीनस्थ हैं और उसी के निर्देश से सक्रिय होते हैं।

सांख्य दर्शन की तरह योग में भी प्रकृतिपुरुष-सान्निध्य से सृष्टि की उत्पत्ति स्वीकार की गयी है। पुरुष-सम्पर्क मात्र से प्रकृति के तीनों गुणों की साम्यावस्था में विक्षोभ उत्पन्न होता है। इस विक्षोभ की स्थिति में प्रत्येक गुण एक दूसरे पर आधिपत्य जमाने लगते हैं और सत्त्वगुण के आधिपत्य से महत् या बुद्धि-तत्त्व की उत्पत्ति होती है, तदनन्तर अहंकार, एकादश इन्द्रियों पञ्चतन्मात्राओं एवं

१. विस्तार के लिए देखिए तृतीय अध्याय।

पञ्चमहाभूतों की उत्पत्ति होती है। स्पष्ट है कि सांख्य की सृष्टि एवं सृष्टितत्त्व-विकास के सिद्धान्त को योग दर्शन में स्वीकार कर लिया गया है।

कभी ऐसा भ्रम भी होता है कि सांख्य तो ईश्वर को नहीं मानता किन्तु योगदर्शन में ईश्वर को माना गया है अत: ईश्वर ही सृष्टि का कर्ता, पालक एवं संहारक है। यहाँ यह बात स्पष्ट करना आवश्यक है कि योग ईश्वर की सत्ता को स्वीकार करता है किन्तु उसे जगत् का कर्ता पालक एवं सहांरक नहीं मानता है। वह एक पुरुष-विशेष है। वह तो जीवात्माओं के कर्मों के अनुसार पुरस्कार या दण्ड स्वरूप स्वर्ग नरकादि देने वाला भी नहीं है। वह मोक्ष प्रदान करने वाला भी नहीं हैं। वह तो मोक्ष मार्ग में निहित कठिनाइयों को मात्र दूर करने वाला है। इस प्रकार ईश्वर को सृष्टि का निमित्त कारण नहीं माना जा सकता। न ही सृष्टि के सम्बन्ध में ईश्वर एक तार्किक आवश्यकता के रूप में ही माना जा सकता। सांख्य की तरह योग दर्शन में भी प्रकृति तत्त्व सृष्टि का उपादान कारण है निमित्त कारण प्रकृतिपुरुष-सान्निध्य है। स्पष्ट है कि सृष्टि की व्याख्या को लेकर योग दर्शन में सांख्य के द्वैतवादी विचारों को यथावत् स्वीकार किया गया है। इस स्थिति में सांख्य सृष्टि के सन्दर्भ में जो आक्षेप लगाए जाते हैं वे सम्पूर्ण आक्षेप योग दर्शन पर भी उठाए जाते हैं। इसके अतिरिक्त यह भी कहा जा सकता है कि प्रकृतिपुरुष-सम्बन्ध के लिए ईश्वर को मध्यस्थ मान लेने पर योगदर्शन की सृष्टि-व्याख्या अधिक धार्मिक एवं संगत हो जाती किन्तु ऐसा नहीं है। पुन: सम्बन्ध के लिए ईश्वर को मान लेने पर सृष्टि की एकेश्वरवादी व्याख्या धार्मिक वृत्ति को अधिक पुष्ट भी कर सकती है। सांख्य के ही तत्त्वमीमांसीय आधार पर विवेक-ख्याति प्राप्ति के लिए आचारों का प्रतिपादन ही योग का ध्येय रहा है। इस स्थिति में योगदर्शन में सृष्टि की उत्पत्ति की अवधारणा को अधिक महत्त्व नहीं दिया गया है। योग में ईश्वर की अवधारणा के महत्त्व को न्याय-वैशेषिक सम्प्रदाय में सृष्टि से जोड़ने का प्रयास किया गया है। इस दृष्टि से न्याय-वैशेषिक में सृष्टि की अवधारणा पर विचार करना आवश्यक है।

(३) न्याय-वैशेषिक

न्याय-वैशेषिक षड्दर्शन का बहुत ही महत्त्वपूर्ण अंग है। ये दोनों दर्शन एक दूसरे से सम्बन्धित है। ये प्रत्यक्ष, अनुमान और उपमान के साथ आप्तोपदेश को भी प्रमाण मानते हैं। वात्स्यायन के शब्दों में न्याय विद्या समस्त विद्याओं का प्रदीप है। सब कर्मों का उपाय है। तथा समग्र धर्मों का आश्रय है। इतने अधिक गुणों को अपने अन्दर समाहित करने के कारण ही यह दर्शन जनमानस पर बराबर प्रभावी बना रहा। इसके पाँच अवयव— प्रतिज्ञा, हेतु, दृष्टान्त, उपनय तथा निगमन नामक

परार्थानुमान को ''आन्वीक्षिकी'' दर्शन के नाम से भी जाना जाता है। अन्वीक्षा का अर्थ है— प्रत्यक्ष तथा आगम पर आश्रित अनुमान प्रत्यक्ष तथा शब्द प्रमाण पर आश्रित ज्ञान या अनुमिति। इस दर्शन का प्रमुख उद्देश्य प्रमाणों के द्वारा प्रमेय वस्तु का मनन करना और प्रमाणों का बृहद् अध्ययन करना है।

सृष्टि-विचार के सम्बन्ध में सभी दर्शनों का अपना-अपना स्वतन्त्र क्षेत्र है। वे अपने-अपने दृष्टिकोणों के आधार पर सृष्टि की व्याख्या करते हैं। न्याय दार्शनिकों ने भी उसके सम्बन्ध में अपने विचार व्यक्त किये हैं। न्याय दर्शन के अनुसार ईश्वर ही एक मौलिक तत्त्व है। इसके द्वारा ही इस जगत् की रचना, पालन तथा संहार किया जाता है। ये असत् पदार्थों से विश्व की रचना नहीं करते, अपितु पृथ्वी, जल, तेजस् तथा वायु इन्हीं चार परमाणुओं के सहयोग से विश्व की रचना करते हैं, जो सूक्ष्म रूप से सदा विद्यमान रहते हैं और वह स्वयं उनको निर्देशित करते हैं। इसलिए इस जगत् का निमित्त कारण ईश्वर है। यह इस जगत् का उपादान कारण नहीं है। न्याय दर्शन का सृष्टि-सम्बन्धी विचार वेदान्त से भिन्न है; क्योंकि वेदान्त ईश्वर को इस जगत् का निमित्त तथा उपादान दोनों कारण मानता है जबकि न्याय केवल निमित्त कारण ही मानता है। उपादान कारण तो आत्मा एवं परमाणु है। इस प्रकार न्याय दर्शन में ईश्वर निमित्त कारण, आत्मा तथा परमाणु उपादान कारण माने गये हैं।

यह दर्शन अपने कारणता-सिद्धान्त में असत्कार्यवादी है; क्योंकि न्याय दार्शनिकों के अनुसार कार्य अपनी उत्पत्ति से पहले कारण में विद्यमान नहीं रहता अपितु कारण से कार्य की नयी उत्पत्ति होती है। अपने इसी विचार के द्वारा न्याय दार्शनिकों ने सृष्टि की उत्पत्ति परमाणुओं के संयोग से माना है। इसी से यह सृष्टि के निमित्त तथा उपादान कारण में भेद करता है। ये नित्य परमाणु के संयोग को विश्व का उपादान कारण मानते हैं, और पुनः परमाणुओं के अलग-अलग हो जाने से विश्व का संहार मानते हैं, इसलिए ये परमाणुओं के संयोग को सृष्टिरूपी नये कार्य की उत्पत्ति मानते हैं। इस नये कार्य के उत्पत्ति को ही आरम्भवाद का नाम दिया गया है।

न्याय दार्शनिकों के सृष्टि-सम्बन्धी असत्कार्यवादी मत की आलोचना करते हुए सत्कार्यवादी दार्शनिकों ने कहा है कि असत् से सत् की उत्पत्ति नहीं हो सकती है; क्योंकि तिल से ही तेल की उत्पत्ति होती है, किसी अन्य वस्तु से कदापि नहीं हो सकती। इसलिए हर कार्य अपने कारण में पहले से विद्यमान रहता है। न्याय दर्शन के इस दोष को सांख्य दर्शन ने अपने सत्कार्यवादी सिद्धान्त के माध्यम से कुछ हद तक दूर करने का प्रयास किया है। उसके अनुसार पुरुष और प्रकृति दो

नित्य तत्त्व हैं जिसमें पुरुष चेतन और प्रकृति जड़ है। इस जड़ प्रकृति की साम्यावस्था में ही पूरा विश्व अव्यक्त रूप से समाविष्ट रहता है। जब ये जड़ प्रकृति चेतन पुरुष के संसर्ग में आती है तो प्रकृति में अव्यक्त विश्व व्यक्त हो जाता है। इसलिए इस जगत् को नवीन उत्पत्ति न मानकर पहले से ही प्रकृति में विद्यमान माना जाता है। जो पुरुष के संसर्ग से व्यक्त हो जाता है।

जगत् की सृष्टि के सम्बन्ध में न्याय और वैशेषिक दोनों का एक मत है। वैशेषिक दर्शन ने अणुवाद का समर्थन किया है। इनके अनुसार ये अणु शाश्वत, अविभाज्य तथा अदृश्य हैं। वे सगुण हैं और उनके गुण नित्य हैं। किन्तु अणुवादी होते हुए भी वैशेषिक चार्वाकों की भाँति भौतिकवादी नहीं है। उनकी यह मान्यता है कि यद्यपि सृष्टि की रचना, गति तथा परिवर्तन के आधार अणु ही हैं, तथापि व्यापार में प्रवृत्त होने के लिए उन्हें अदृष्ट की अपेक्षा है। वैशेषिक दर्शन का अणुवाद प्राचीन भारतीय दर्शन का एक विलक्षण योगदान है। विश्व की रचना में अतीन्द्रिय पृथ्वी, परमाणु, अप्-परमाणु, अग्नि-परमाणु, वायु-परमाणु परमतत्त्व हैं, जो नित्य हैं। ये किसी कारण से उत्पन्न नहीं होते बल्कि संसार में जो कुछ उत्पन्न होता है, उनके माध्यम हैं। दार्शनिकों की मान्यता है कि जो इन अणुओं के माध्यम से उत्पन्न नहीं हो सकता वह कभी भी उत्पन्न नहीं हो सकता।[1]

अणु के माध्यम से सृष्टि को मानने पर अन्य दार्शनिक वैशेषिक मत पर आक्षेप करते हैं। उनका कहना है कि बिना शरीर के जीवात्मा भी कोई कार्य नहीं कर सकता तो ये अदृष्ट "परमाणु" जो सभी जड़ हैं, वह सृष्टि के लिए "क्रिया" कैसे उत्पन्न कर सकते हैं?

इस प्रश्न का उत्तर देते हुए वैशेषिक दार्शनिकों का कहना है कि जीवों के कल्याण के लिए परमात्मा में "सृष्टि करने की इच्छा" उत्पन्न हो जाती है। जिसके फलस्वरूप सृष्टि करते समय परमाणुओं में एक प्रकार की क्रिया उत्पन्न हो जाती है, जिससे एक परमाणु दूसरे परमाणु से संयुक्त हो जाता है। दो परमाणुओं के संयोग से एक "द्व्यणुक" उत्पन्न होता है। पार्थिव शरीर को उत्पन्न करने के लिए जो दो परमाणु इकट्ठा होते हैं, वे पार्थिव परमाणु हैं। वे दोनों उत्पन्न हुए "द्व्यणुक" के समवायिकारण हैं। उन दोनों का संयोग असमवायी कारण है और अदृष्ट ईश्वर की इच्छा आदि निमित्त कारण है।

---

१. इनकी नित्यता इनके एक विशिष्ट स्थानीय रूप को ग्रहण कर लेने के आधार पर समझना चाहिए। यह प्रतितन्त्र सिद्धान्त के अनुसार है।

– शास्त्री, उदयवीर, सांख्यदर्शन का इतिहास, पृष्ठ २२२।

यह स्पष्ट है कि ''सजातीय'' दोनों परमाणु मात्र से ही सृष्टि नहीं होती। इसके साथ एक-एक ''विजातीय'' परमाणु जैसे— जलीय परमाणु भी रहता है।[१] जिस प्रकार दो स्त्रियों या दो पुरुषों के संयोग से सृष्टि नहीं हो सकती उसी प्रकार दो सजातीय परमाणुओं के संयोग से भी सृष्टि कार्य नहीं हो सकता। उस सृष्टि के लिए सजातीय और विजातीय दोनों परमाणुओं की आवश्यकता पड़ती है।[२] अत: स्थूलभूत, वासना तथा चेतन जीव इन तीनों के सहारे सृष्टि होती है। न्याय-वैशेषिक में स्थूल द्रव्य या महत् परिमाण वाले द्रव्य से तथा तीन संख्या से उत्पन्न होता है इसलिए यहाँ ''द्व्यणुक'' की तीन संख्या से स्थूल द्रव्य ''द्व्यणुक या त्रसरेणु'' की उत्पत्ति होती है। इसी प्रकार चार त्र्यणुक से ''चतुरणुक'' उत्पन्न होते हैं। इसलिए इसी क्रम से पृथ्वी तथा पार्थिव द्रव्यों की उत्पत्ति होती है। द्रव्य के उत्पन्न होने के पश्चात् उसमें गुणों की भी उत्पत्ति होती है जिससे सृष्टि-प्रक्रिया का क्रम जारी रहता है।

इस प्रकार वैशेषिक दर्शन अणुओं के माध्यम से ही सम्पूर्ण सृष्टि की प्रक्रिया का वर्णन करता है, परन्तु उसमें ईश्वर की इच्छा को सर्वोपरि मानता है।

वैशेषिक अणुवाद जड़वादी नहीं है, क्योंकि इस सम्प्रदाय में आत्मा और ईश्वर (आध्यात्मिक तत्त्व) को स्वीकार किया गया है एवं इसके साथ ही कर्म सिद्धान्त को भी मान्यता दी गयी है। अणु सृष्टि के उपादान कारण हैं और ईश्वर (अदृष्ट शक्ति) निमित्त कारण है। ईश्वर सृष्टिविकास जीव के पुण्य-पाप के आधार पर करता है। वैशेषिक दर्शन में अणुओं के परस्पर गुणात्मक एवं परिमाणात्मक भेद को स्वीकार किया गया है। पृथ्वी, जल, अग्नि एवं वायु के अणु गुणात्मक रूप से भिन्न-भिन्न हैं। इनमें गौण गुण भी विद्यमान हैं। इस प्रकार ग्रीक दर्शन (ल्यूसियस एवं डेमोक्रेट्स) के अणुवाद से वैशेषिक अणुवाद भिन्न है। ग्रीक दर्शन अणुओं में गौण गुणों को नहीं मानता साथ ही अणुओं के परिमाणात्मक अन्तर को ही मानता है गुणात्मक को नहीं। पुन: ग्रीक अणुवाद से वैशेषिक अणुवाद इस अर्थ में भी भिन्न है कि वैशेषिक अणुवाद में अणुओं को निष्क्रिय और गतिरहित स्वीकार किया गया है। ग्रीक अणुवाद जड़वादी है और सृष्टि की व्याख्या ग्रीक अणुवाद में यान्त्रिक है जबकि वैशेषिक अणुवाद आध्यात्मिक एवं नैतिक नियमों पर आधारित है। पुन: वैशेषिक दर्शन ईश्वर को भी सृष्टि के निमित्त कारण के रूप में स्पष्टतया स्वीकार करता है।

---

१. मिश्र, उमेश, कॉन्सेप्शन ऑफ मैटर, पृष्ठ २६८।

२. मिश्र, उमेश, भारतीय दर्शन, पृष्ठ २३३।

जैन परमाणुवाद में भी अणुओं को नित्य, भौतिक तत्त्व की अविभाज्य इकाई स्वीकार किया गया है किन्तु वैशेषिक से भिन्न जैन दर्शन में भी अणुओं के परिमाणात्मक भेद को ही स्वीकार किया है। पुन: जैन दर्शन में अणुओं के गुणों को शाश्वत नहीं स्वीकार किया गया है जबकि वैशेषिक दर्शन में अणुओं के धर्म को शाश्वत स्वीकार किया गया है।

वैशेषिक परमाणुवाद असंगत एवं दोषयुक्त बतलाया गया है। अणुओं के गुणात्मक भेद को स्वीकार करना असंगत है। उदाहरण के लिए यदि पृथ्वी के अणुओं में महानतम गुण विद्यमान है और वायु के अणु में निम्नतम तो उनके भार एवं शक्ति में अन्तर होगा। अगर अणुओं में गन्ध, स्वाद, स्पर्श, रंग आदि के गुण हैं तो इन्हें नित्य कैसे कह सकते हैं? और यदि गुण नित्य है और द्रव्य से उन्हें अलग नहीं किया जा सकता तो यह कैसे कहा जा सकता है कि मोक्षावस्था में आत्मा के गुण अणुओं से पृथक् हो सकते हैं? कैसे कह सकते हैं कि द्रव्य गुण के बिना रह सकता है? यदि हम माने कि कारण अपने गुणों को कार्य में परिवर्तित करता है तो अणु अपने गोलाकार स्वभाव को द्विसंयोजक में क्यों नहीं बदलते? और द्विसंयोजक त्रस्रेणु में क्यों नहीं बदलते। पुन: अगर कार्य अपने कारण में पहले से विद्यमान नहीं होता तो किसी भी कारण से किसी भी कार्य की उत्पत्ति हो जाती अथवा कारण स्वयं खरगोश की सींग की तरह हो जाता। पुन: वैशेषिक के अनुसार प्राक्कल्पना के अनुरूप सृष्टि और प्रलय नहीं हो पाता। पुन: प्रश्न उठता है कि अणु स्वरूपत: निष्क्रिय है या सक्रिय या दोनों है या दोनों में से कोई नहीं है? अगर परमाणु सक्रिय है तो प्रलय नहीं हो सकता अगर निष्क्रिय है तो सृष्टि असम्भव होगी अगर दोनों है तो यह विचार ही आत्मघाती होगा; क्योंकि प्रकाश-अन्धकार की तरह सृष्टि-प्रलय या सक्रियता-निष्क्रियता एक साथ नहीं रह सकते। अगर दोनों नहीं है तो क्रिया कहीं बाह्य शक्ति से उत्पन्न मानी जाएगी। क्या वह बाह्य शक्ति दृश्य है या अदृश्य? अगर दृश्य है तो सृष्टि के पहले इसे नहीं होना चाहिए और अगर अदृश्य है तो अणुओं के साथ सदैव रहेगा, अत: सृष्टि ही नित्य हो जाएगी और यदि इस अदृश्य शक्ति को स्वीकार कर लें तो सृष्टि सम्भव नहीं हो सकेगी। अत: अणुओं से सृष्टि की उत्पत्ति स्वीकार करना असंगत है।

न्याय-वैशेषिक दर्शन में ईश्वर का महत्त्व भी नगण्य है। वह सृष्टि की उत्पत्ति नहीं करता, पुन: असंख्य अणु एवं आत्माएँ नित्य हैं और ईश्वर के साथ ही उनका अस्तित्व बना रहता है। पुरुषविशेष के रूप में स्वीकृत ईश्वर जीवों का नियन्ता भी नहीं हो सकता क्योंकि वह कर्म के नियम से बँधा हुआ है। वह अदृश्य के

बिना अणुओं में गति भी नहीं उत्पन्न कर सकता। सृष्टि तो अदृश्य की शक्ति से शुरु होती है। अगर यह माने कि सृष्टि अदृष्ट शक्ति से होती है और वह अदृष्ट शक्ति चैतन्य है और यह चैतन्य ईश्वर है तो ईश्वर को भी एक महानतम आत्मा के रूप में स्वीकार करना पड़ेगा और यदि ईश्वर को महानतम आत्मा मानें तो अन्य आत्माओं की तरह चैतन्य उसका भी आकस्मिक लक्षण माना जाएगा और बन्धनावस्था में ही आत्माएँ चैतन्य होती है अतः ईश्वर को भी नित्यबद्ध मानना पड़ेगा और नित्यबद्ध ईश्वर वदतोव्याघात है। इस प्रकार वैशेषिक परमाणुवाद में सृष्टि की व्याख्या तार्किक रूप में पुष्ट नहीं होती।

(४) मीमांसा

मीमांसा दर्शन वेद पर आधारित है इसलिए इसे आस्तिक परम्परा के दर्शनों में स्वीकार किया गया है। ''मीमांसा'' का शाब्दिक अर्थ है किसी वस्तु के स्वरूप की सत्यता का वर्णन। कुमारिल के बाद मीमांसाशास्त्र को पुष्पित और पल्लवित करने में सबसे महत्त्वपूर्ण योगदान उन्हीं के होनहार शिष्य प्रभाकर का था। वेदान्त दर्शन और मीमांसा दर्शन में कुछ अन्तर भी प्रतीत होता है। वेदान्त ज्ञान को नित्य मानता है। जबकि प्रभाकर और कुमारिल के अनुसार जब विषय के साथ आत्मा का सम्बन्ध होता है तब ज्ञान की उत्पत्ति होती है।[१]

न्याय-वैशेषिक की तरह ये लोग भी ''जगत्'' की सत्ता को मानते हैं, परन्तु अन्तर इतना है कि न्याय-वैशेषिक दार्शनिक अणुओं की सत्ता के साथ-साथ, ईश्वर को इस सृष्टि का निमित्त कारण मानते हैं, जबकि मीमांसा दर्शन सृष्टि की प्रक्रिया में ईश्वर को उपादान या निमित्त कारण मानने की आवश्यकता पर कोई बल नहीं देता। उसके विचार से यह सृष्टि नित्य है और सर्ग-प्रतिसर्ग की कल्पना असमीचीन है। यह ठीक है कि कतिपय देवताओं की सत्ता यज्ञीय प्रक्रिया में हविष्यान्न ग्रहण करने के लिए स्वीकृत की गई है किन्तु ये देवगण मानवों के कर्मविपाक के लिए उत्तरदायी नहीं हैं। कर्मों के अपूर्व[२] द्वारा उनका विपाक स्वतः होता रहता है। वह

---

१. ज्ञानशक्तिस्वभावोऽतो नित्यः सर्वगतः पुमान् ।
देहान्तरक्षमः कल्प्यः सोऽगच्छन्नेव योक्ष्यते ।। –श्लोकवार्तिक, आत्मवाद, ७३।

२. यद्यपि कर्मों में अपूर्व के द्वारा, स्वतः फल प्रदान करने की शक्ति है, इस मन्तव्य का बीज अथर्ववेद के इस मंत्र में अंशतः वर्तमान है–
यत्र तपः पराक्रम्य व्रतं धारयत्युत्तरम् ।
ऋतं च यत्र श्रद्धा चापो ब्रह्म समाहिताः ।। –अथर्ववेद, १०/७/११।

ईश्वर की सत्ता को इस सन्दर्भ में इसलिए नहीं मानता कि उसके मत के अनुसार उसका कोई प्रमाण नहीं है।

कुमारिल "प्रलय" और "सृष्टि" नहीं मानते, और सृष्टि के कर्ता के रूप में या परम्परा के सम्बन्ध को एक सृष्टि से दूसरी सृष्टि में क्रमबद्ध रखने के लिए एक सर्वज्ञ चेतना "ईश्वर" को ही मानते हैं। कुमारिल की मान्यता है कि "सर्वज्ञ" तो कोई हो ही नहीं सकता। इसलिए मीमांसकों के अनुसार ईश्वर को मानने की कोई आवश्यकता नहीं है। बाद में मीमांसा दर्शन के कुछ विद्वानों ने जगत् के स्रष्टा के रूप में तो "ईश्वर" को नहीं माना फिर भी "ईश्वर" को माना है। इसका कारण मात्र लौकिक व्यवहार है। प्रभाकर भी इसी मत के पोषक हैं।[1]

सृष्टि के तत्त्व पदार्थों को लेकर प्रभाकर, कुमारिल और मुरारि में मतभेद दृष्टिगोचर होता है। प्रभाकर इस जगत् की सृष्टि में आठ पदार्थों की सत्ता मानते हैं।[2] द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, परतन्त्रता, शक्ति, सादृश्य और संख्या। इसमें द्रव्य, गुण तथा कर्म के स्वरूप का वर्णन वैशेषिकों के समान ही है। सामान्य की सत्ता को अलग रूप से नहीं माना जाता, क्योंकि वह व्यक्ति में ही समाहित रहता है। यह नित्य नहीं है, क्योंकि वह अनित्य पदार्थों में भी रहता है केवल द्रव्य, गुण तथा कर्मों में कार्यजनकता नहीं है, शक्ति से सम्पन्न होने पर ही इनसे कार्य की उत्पत्ति होती है।

कुमारिल ने इन पदार्थों की संख्या केवल पाँच माना है। इन्होंने पदार्थों को दो भागों में विभाजित किया है— भावात्मक तथा अभावात्मक। वैशेषिकों के समान अभाव के चार प्रकार स्वीकृत किये गये हैं। भाव पदार्थों के चार भेद हैं— द्रव्य गुण, कर्म तथा सामान्य। वैशेषिक मत में नौ ही द्रव्य हैं। भाट्ट मत में अन्धकार और शब्द दो नये द्रव्यों का सृजन हुआ है।[3]

मुरारि मिश्र की पदार्थ-कल्पना दोनों दार्शनिकों से भिन्न है। इन्होंने माना है कि एक ही परमार्थभूत पदार्थ है, परन्तु लौकिक व्यवहार की उपपत्ति के लिए अन्य चार पदार्थ हैं— नियत आश्रय-धर्मिविशेष, नियत आधेय धर्म विशेष, अनियत आधार-विशेष, दैशिक आधार-प्रदेश-विशेष।[4] हमारी इन्द्रिय ही बाह्य वस्तुओं के

---

१. प्रकरणपञ्चिका, पृष्ठ १३७-४०।

२. द्रष्टव्य, तन्त्ररहस्य, पृष्ठ २०-२४।

३. मानमेयोदय (अड्यार सं०), पृष्ठ १५९।

४. मुरारि मिश्र-कृत, न्यायमाला।

ग्रहण का साधन है; इसलिए इनके सामने जिस रूप में जगत् दृष्टिगोचर होता है, वे उसी रूप में उसको सत्य मानते हैं।[1]

अत: सृष्टि-सम्बन्धी प्रक्रिया में जहाँ प्रभाकर और कुमारिल जैसे दार्शनिकों ने तत्त्व को ही आधार माना है, वहाँ मुरारि जैसे दार्शनिक ने तत्त्वों के साथ ब्रह्म को भी एक आधारभूत तत्त्व माना है मीमांसा के द्रव्य एवं पदार्थ का विचार सामान्य रूप से न्याय वैशेषिक के द्रव्य एवं पदार्थ विचार की तरह ही है जिसकी समीक्षा पूर्व भाग में की जा चुकी है।

(५) वेदान्त

भारतीय दर्शन परम्परा में वेदान्त सर्वाधिक प्राचीन दर्शन है। भारतीय मनीषियों के मस्तिष्क को जितना इस दर्शन ने प्रभावित किया है उतना शायद ही किसी भारतीय दर्शन ने किया हो।

अद्वैतवाद

निर्विशेष ब्रह्म से सविशेष जगत् की उत्पत्ति को स्पष्ट करने के लिए शंकराचार्य ने मायावाद की स्थापना की है। इनका यह माया तत्त्व ब्रह्म के समान त्रिकालाबाधित न होने के कारण सत् नहीं है तथा प्रत्यक्ष प्रतीयमान होने के कारण असत् भी नहीं है। यह सत् असत् से परे अनिर्वचनीय है। आवरण और विक्षेप इनकी दो शक्तियाँ मानी गयी हैं। आवरण-शक्ति से यह ब्रह्म के शुद्ध-स्वरूप को आच्छादित कर लेती है तथा विक्षेप-शक्ति से प्रपञ्चपूर्ण जगत्-जाल की रचना करती है। इस प्रकार मायोपाधिक ब्रह्म ही सृष्टि का कारण है। मकड़ी द्वारा निर्मित जाल के समान ब्रह्म भी जगत् का निमित्त और उपादान दोनों कारण है।

शंकर ने विश्व-सम्बन्धी विचार को स्पष्ट ढंग से समझाने के लिए तीन प्रकार की सत्ता को बताया है— "पारमार्थिकी", "प्रातिभासिकी" तथा "व्यावहारिकी"। पारमार्थिकी सत्ता वह है जिसमें वस्तु का अस्तित्व त्रिकाल में अबाधित होता है। ऐसी सत्ता एकमात्र "ब्रह्म" की है।

प्रातिभासिकी सत्ता के द्वारा हमें किसी वस्तु का आभास होता है। जैसे किसी वस्तु को अन्धकार में सर्प समझकर भयभीत होना और पुन: निरीक्षण करके उसके सही रूप को पहचान कर भय से मुक्त होना। व्यावहारिकी सत्ता के अस्तित्व को संसार में व्यवहार के लिए "सत्य" मानते है, जो स्वप्नभ्रम से भिन्न होता है।

---

1. श्लोकवार्तिक, पृष्ठ ४०४।

इस प्रकार अद्वैत वेदान्त में ब्रह्म को छोड़कर और सभी पदार्थ "असत्" हैं। इन पदार्थों का आरोप ब्रह्म पर होता है। "ब्रह्म" आरोप का अधिष्ठान है। माया के विक्षेप के कारण जो सृष्टि होती है, वह मायिक है, भ्रान्ति है। ब्रह्म को अधिष्ठान मानकर जितने कार्य जगत् में होते हैं, वे ही नहीं, प्रत्युत समस्त जगत् ही ब्रह्म का "विवर्त" है।

ईश्वर विश्व का निर्माण माया से करता है। यह जगत् ईश्वर से उत्पन्न होता है और फिर ईश्वर में विलीन हो जाता है। इस प्रकार ईश्वर जगत् का स्रष्टा, पालनकर्ता एवं संहर्ता है। शंकर के इस विचार पर कुछ दार्शनिकों ने यह आक्षेप किया है कि ईश्वर ने विश्व का सृजन किस प्रयोजन से किया है? यदि वह किसी स्वार्थ के वशीभूत होकर सृष्टि करता है तो उसकी पूर्णता नष्ट हो जाती है। शंकराचार्य इस समस्या का समाधान करते हुए कहते हैं कि यह सृष्टि ईश्वर का खेल है, जिसे वह आनन्द के लिए करता है। यह उसका स्वभाव है। इस सृष्टि के तहत उसका किसी प्रकार का स्वार्थ निहित नहीं है। शंकराचार्य के अनुसार ईश्वर से विभिन्न वस्तुओं की उत्पत्ति इस प्रकार होती है— तमः प्रधान विक्षेप शक्ति से युक्त, अज्ञानोपहित चैतन्य से सूक्ष्मतन्मात्र रूप आकाश की उत्पत्ति हुई, आकाश से वायु की, वायु से अग्नि की, अग्नि से जल की और जल से पृथ्वी की उत्पत्ति हुई। इन सूक्ष्म भूतों से सत्रह अवयव वाले (पाँच कर्मेन्द्रियाँ, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, वायुपंचक और बुद्धि-मन) सूक्ष्म शरीरों की और स्थूलभूतों की उत्पत्ति होती है। स्थूलभूत पंचीकृत होते हैं, अर्थात् प्रत्येक भूत में अपना अंश आधा होता है और अन्य चारों भूतों के अष्टम अंशों को मिलाकर आधा होता है। जैसे आकाश= १/२ आकाश+१/८ पृथ्वी+१/८ जल+१/८ तेज+१/८ वायु, प्रत्येक स्थूलभूत पंचात्मक होते हैं, यही सृष्टि का क्रम है।

आचार्य शंकर सांख्य के प्रकृति-परिणामवाद का खण्डन करते हैं। उनके अनुसार जगत् का स्रष्टा जगत् में सरसता एवं नियम को स्थापित करने वाला कोई जड़ पदार्थ नहीं हो सकता। प्रकृति स्वयं कार्य है वह अपना कारण स्वयं नहीं हो सकती। सृष्टि और प्रलय दोनों को स्वभाव मानना विरोधी है और दोनों में से किसी को प्रकृति का स्वभाव न माने तो भी सृष्टि नहीं हो सकती अतः सृष्टि के लिए प्रकृति में गति नियमादि उत्पन्न करने वाले चैतन्य तत्त्व को मानना आवश्यक है और इस चैतन्य को शंकर ब्रह्म कहते हैं। ब्रह्म से ही सृष्टि प्रलयादि होते हैं। इस चैतन्य को सांख्योक्त पुरुष भी नहीं माना जा सकता क्योंकि पुरुष निष्क्रिय माना गया है। निष्क्रिय पुरुष की सृष्टि में गति कैसे होगी? पुनः जड़ प्रकृति का सृष्ट्यादि में प्रयोजन क्या होगा? निष्क्रिय और पूर्ण पुरुष का सृष्टि में प्रयोजन कल्पनातीत है।

शंकर न्याय-वैशेषिक परमाणुवाद की भी आलोचना करते हैं। उनके अनुसार अणु द्व्यणु या त्रसरेणु में परिवर्तित कैसे हो सकता है? पुनः निष्क्रिय अणु सृष्टि में कैसे संलग्न हो सकते हैं अगर उन्हें सक्रिय माने तो सृष्टि नित्य हो जाएगी, प्रलय की व्याख्या नहीं हो सकती। अगर निष्क्रिय सक्रिय दोनों माने तो स्वविरोधी होगा अगर दोनों नहीं माने तो गति को किसी बाह्य शक्ति से उद्भूत मानना पड़ेगा। यदि यह बाह्य दृश्य है तो यह सृष्टि के पूर्व भी अस्तित्व में रहेगी जो वैशेषिक असत्कार्यवाद के विरुद्ध है। यदि अदृष्ट माने तो यह अणुओं के सामीप्य में सदैव रहेगी तो सृष्टि नित्य हो जाएगी। यदि इसकी सत्ता को न माने तो भी सृष्टि सम्भव नहीं होगी। पुनः अणु और आत्मा को नित्य माने तो ईश्वर का इन पर नियन्त्रण, आधिपत्यादि स्वीकार करना विरोधी बात होगी और ईश्वर के सर्वज्ञत्त्व एवं सर्वशक्तिमत्ता भी सीमित हो जाएगी।

शांकर वेदान्त में रामानुज के ब्रह्म परिणामवाद का भी खण्डन किया गया है। शंकर ब्रह्म को जगदादि का कारण मानते हैं एवं जगदादि को ब्रह्म का विवर्त कार्य मानते हैं इस स्थिति में वे ब्रह्मकारणवादी के रूप में अपनी स्थिति बनाते हैं। शंकर के अनुसार सृष्टि न तो ब्रह्म की वास्तविक रचना है न ही ब्रह्म का वास्तविक रूपान्तरण है। सतत्त्वतो अन्यथा प्रथा के अनुसार रूपान्तरण या सत् में परिवर्तन विकार या परिणाम है। जैसे सोने के आभूषण सोने के विकार या परिणाम हैं या दही दूध का परिणाम या विकार है। अतत्वतो अन्यथा प्रथा को मानने वाले शांकर वेदान्ती के लिए विकार या परिवर्तन दृश्यमात्र है वास्तविक नहीं जैसे रज्जु में सर्प की प्रतीति। जो श्रुति परिणामवाद का प्रतिपादन करती प्रतीत होती है वे वास्तव में परिणामवाद का प्रतिपादन न कर मात्र यही प्रदर्शित करती है कि सब कुछ ब्रह्म ही हैं।[१] श्रुतियाँ ब्रह्म में किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं सूचित करतीं। इस प्रकार परिणामवाद के तर्क श्रुति के अनुकूल नहीं हैं।[२]

ईश्वर इस विषम सृष्टि की रचना नहीं कर सकता। एक तो आत्मतृप्त पूर्ण होने की वजह से दूसरे विषमता-व्याप्त संसार के होने से। अगर उसे सृष्टिकर्ता माना जाय तो उसे निरपेक्ष नहीं कहा जा सकता। किसी को दुःखी और किसी को सुखी बनाने वाला ईश्वर पक्षपात के आरोप से मुक्त नहीं माना जा सकता। इस विषमता का कारण जीव के शुभाशुभ कर्म हैं। शुभाशुभ कर्मों के सापेक्ष होकर ईश्वर जीवों की उत्पत्ति करता है, ऐसा मानने पर भी ईश्वर कर्म-सापेक्ष हो जाएगा। अतः ईश्वर

१. शारीरकभाष्य, १/१/२।

२. वहीं, २/१/२७।

या ब्रह्म वास्तविक सृष्टि नहीं करता। यह सृष्टि ब्रह्म पर आरोपित है, उसका विवर्त है।

बौद्ध सृष्टि-अवधारणा का खण्डन

शंकर के अनुसार अचेतन क्षणिक अणु और क्षणिक स्कन्ध किसी सृष्टि की उत्पत्ति नहीं कर सकते। अगर यह कहा जाय कि क्षणिक विज्ञान सबको एक साथ मिलाकर सृष्टि करता है तो संगत नहीं है; क्योंकि विज्ञान को तब दो क्षणों में अस्तित्व में रहना आवश्यक मानना पड़ेगा। एक क्षण तो विज्ञान अस्तित्व में आएगा दूसरे क्षण अन्य विज्ञानों एवं स्कन्धों को जोड़ने के लिए भी उसका अस्तित्व में रहना आवश्यक होगा। इस स्थिति में विज्ञान क्षणिक नहीं माने जा सकते। अर्थ-क्रियाकारित्वरूपी बौद्ध सापेक्ष कारणता में इन स्कन्धों को एकत्रित करने का कोई तार्किक आधार नहीं मिलता; क्योंकि बौद्ध दर्शन में प्रत्येक परवर्ती कार्य का कारण उसका पूर्ववर्ती होता है। क्षणिक अणु स्वयं एकत्रित नहीं हो सकते।

बौद्ध दर्शन के अनुसार सत् असत् से उत्पन्न होता है। अंकुर आने के पहले बीज अवश्य नष्ट हो जाता है अथवा दही बनने के बाद दूध नष्ट हो जाता है। शंकर के अनुसार असत् से किसी भी पदार्थ की उत्पत्ति नहीं हो सकती। अगर ऐसा होता तो किसी भी पदार्थ से किसी भी पदार्थ की उत्पत्ति हो सकती है। किन्तु शशशृङ्ग से किसी भी पदार्थ की उत्पत्ति नहीं होती। बौद्ध दार्शनिक स्वयं स्वीकार करते हैं कि अणुओं से समुच्चय उत्पन्न होता है एवं स्कन्धों से मानसिक स्थिति उत्पन्न होती है। शंकर प्रश्न उठाते हैं कि क्या उत्पत्ति विनाश वस्तु का स्वरूप है (वस्तुतः स्वरूपमेव) या वस्तु का दूसरा रूप है या दोनों से भिन्न है (वास्तवान्तरमेव वा)? तीनों विकल्प असम्भव हैं। यदि पहली स्थिति माने तो उत्पत्ति विनाश वस्तु का पर्याय हो जाएगा। अगर यह कहा जाय कि उत्पत्ति आरम्भ है, वस्तु मध्य में है और विनाश अन्त में है तो तीन क्षणों में वस्तु की सत्ता माननी पड़ेगी अतः क्षणिक नहीं होगा। अगर उत्पत्ति विनाश को घोड़े और भैंस की तरह दो बिल्कुल भिन्न वस्तु माने तो उत्पत्ति विनाश से भिन्न होने की वजह से वस्तु स्थायी होगी। पुनः यदि उत्पत्ति विनाश को प्रत्यक्ष अप्रत्यक्ष के रूप में माने तो भी द्रष्टा मन के गुण होने के कारण प्रत्यक्ष अप्रत्यक्ष वस्तु के गुण नहीं होने की वजह से वस्तु स्थायी होगी। अतः बौद्ध दर्शन में सृष्टि असंगत है।

अगर यह कहा जाय कि वस्तु किसी कारण के बिना ही उत्पन्न होती है तो यह भी प्रतीत्यसमुत्पाद सिद्धान्त के विरोध में चला जाता है और अगर यह कहा

१. शारीरकभाष्य, २/२/२७।

जाय कि पूर्ववर्ती कारण परवर्ती कार्य की उत्पत्ति तक रहता है तो यह मानना पड़ेगा कि कारण एवं कार्य समकालिक हैं।

शंकर के अनुसार न तो प्रतिसंख्यानिरोध और न ही अप्रतिसंख्यानिरोध हो सकता है; क्योंकि ये न ही "सनातनगोचर" और न ही "भावगोचर" से सम्बन्धित हो सकते है; क्योंकि क्षणिकवस्तु पूर्णरूप से समाप्त नहीं हो सकती और उसका सापेक्ष अस्तित्व होता है।

विज्ञानवादियों के विरुद्ध आक्षेप लगाते हुए शंकर कहते हैं कि यदि आन्तरिक चेतना ही बाह्य पदार्थ के रूप में प्रतीत होती है।[१] यदि बाह्य जगत् नहीं है तो यह कैसे कहा जा सकता है कि चेतना ही बाह्य जगत् के रूप में दिखायी पड़ती है? शंकर कहते हैं कि यह कहना पागलपन होगा कि विष्णुमित्र बन्ध्यापुत्र की तरह दीखता है। शंकर के अनुसार शून्यवाद जगत् को पूर्व शून्य या अभाव के रूप में नकार नहीं सकता और सापेक्ष सत् के रूप में जगत् को माना जाय तो जिसके सापेक्ष यह जगत् है उस परमसत् को स्वीकार करना आवश्यक है।

शांकर वेदान्त में सृष्टि की उत्पत्ति स्थिति या वर्णन भी आरोप मात्र है और कार्य-कारणभाव में जगत् की व्याख्या से सन्तुष्टि ढूँढ़ने वाले मानव मस्तिष्क का ब्रह्म पर आरोपमात्र है। वस्तुतः न सृष्टि होती है और न प्रलय। ब्रह्म ही एकमात्र तत्त्व है। वह एकरस है। उसी पर तमाम सृष्ट्यादि का आरोप होता है। इस आरोप से भी ब्रह्म प्रभावित नहीं होता। अखिल ब्रह्माण्ड में चैतन्य रूप से व्याप्त एवं ब्रह्माण्डातीत ब्रह्म मायाग्रसित जीव को सृष्ट्यादि के रूप में प्रतीत होता है। ज्ञानोपरान्त तो "सर्वं खल्विदं" अथवा "ईशावास्यमिदं" स्वयं की ही अनुभूति होती है। जीवन को सृष्ट्यादि के मिथ्यात्व का बोध हो जाता है। किन्तु जब तक माया है, अज्ञान है, तब तक समस्त व्यवहार सृष्ट्यादि सत्य प्रतीत होता है। जैसे— सम्यक् ज्ञान न होने तक सर्पादि ज्ञान सत्य प्रतीत होता है।

विशिष्टाद्वैत

वेदान्त दर्शन में अद्वैतवाद के बाद रामानुज का विशिष्टाद्वैतवाद प्रमुख है। जहाँ शंकर ने जगत् को मिथ्या माना है वहीं रामानुज ने जगत् को सत्य माना है। जगत् की तत्त्व-मीमांसा में वे भी अद्वैतवाद के समर्थक हैं, किन्तु उनका अद्वैत विशिष्टाद्वैत है।

---

१. यदान्तरज्ञेयरूपम् तद् बहिर्वद् अवभासते । –शारीरकभाष्य, २/२/२८।

विशिष्टाद्वैत में ईश्वर ही चिदचिद्विशिष्ट है। इसमें चित् जीवात्मा का नाम है और अचित् प्रकृति का। ये चित् और अचित् ईश्वर के साथ अपृथक् रूप से जुड़े होते हैं। ''ब्रह्म'' में ''ईश्वर'', ''जीवात्मा'' एवं ''प्रकृति'' तीन भिन्न तत्त्व हैं। इसमें चित् और अचित् तत्त्व ईश्वर के समान नहीं है अपितु ये दोनों तत्त्व ईश्वर पर ही आश्रित हैं। सृष्टि के पहले जीव और प्रकृति दोनों ईश्वर में ही सूक्ष्म रूप में विद्यमान रहते हैं। जब जीव और प्रकृति ईश्वर के साथ संयुक्त होकर स्थूल रूप से प्रकट होते हैं तब सृष्टिक्रिया सम्पादित होती है। इस प्रकार ईश्वर सृष्टि का कर्ता है तथा जीव और प्रकृति उसके सहायक हैं।

ईश्वर सृष्टि करने के साथ ही उसका प्रेरक भी है। इसलिए रामानुज ईश्वर को जगत् का उपादान कारण भी मानते हैं और निमित्त कारण भी।[१] सत्कार्यवादी दार्शनिक होने के कारण ये जगत् का ईश्वर से कारण-कार्य सम्बन्ध मानते हैं। इनके अनुसार कार्य कारण में पहले से ही विद्यमान रहता है। कार्य कारण से भिन्न होते हुए भी उससे अलग नहीं होता। इसलिए ब्रह्म का कार्य-रूप जगत् कारणरूप ब्रह्म से भिन्न नहीं है। ऐसे सम्बन्ध को रामानुज ने शरीर-शरीरी-सम्बन्ध अथवा देह आत्म-सम्बन्ध के रूप में माना है।[२] ईश्वर जगत् की आत्मा है, और जगत् उसका शरीर है। जगत् में चित् अथवा जीव एवं अचित् अथवा प्रकृति दोनों ही सम्मिलित है। इनमें भी देह-आत्मा सम्बन्ध है।

जीवात्मा प्रकृति से भिन्न तत्त्व है। जीवात्मा चेतन है और प्रकृति जड़। ये नित्य चेतनद्रव्य है। इसकी सत्ता अव्यक्त, अचिन्त्य और अविकार्य है क्योंकि इसका ज्ञान नित्य एवं प्रकाश-रूप है। यह ज्ञाता[३] है और ज्ञान इसका धर्म है। यह स्वभाव से अविकारी होते हुए भी परिणामी है क्योंकि इसके ज्ञान में परिणाम या परिवर्तन होता है। इसलिए चित् तत्त्व को इस दर्शन में एक विशिष्ट व्यक्तित्व-सम्पन्न सत्ता मानते हैं। सांख्य की तरह रामानुज भी जीवों की अनेकता के समर्थक हैं। अर्थात् इन्होंने जीवात्मा को अनन्त माना है जिनकी संख्या कोई निश्चित नहीं है।

प्रकृति अथवा अचित् ज्ञानशून्य और परिणामी द्रव्य है जिसके कारण इसे जड़ कहा जाता है। यह न तो स्वयं को प्रकाशित करता है और न किसी अन्य पदार्थ को। यह स्वभाव से ही विकारी है। परन्तु विकारी होते हुए भी अचित् की सत्ता मिथ्या नहीं है। यह एक अनन्त और सनातन सत्ता है। ये तीन प्रकार का होता

१. वेदार्थ संग्रह, पृष्ठ २९।

२. वहीं, पृष्ठ १८।

३. अतो ज्ञातृत्वमेव जीवात्मनः स्वरूपम् । -श्रीभाष्य, २/३/३१।

है— शुद्ध सत्व, मिश्र सत्व एवं सत्व शून्य। शूद्ध सत्व एक अप्राकृतिक द्रव्य है जिससे आध्यात्मिक या ईश्वरीय लोकों एवं विग्रहों का निर्माण होता है। यह उत्पत्ति, विकार, ह्रास से परे होता है। मिश्र सत्व मूल प्रकृति को कहते हैं। यह जगत् का उपादान कारण है। इसे माया या अविद्या भी कहते हैं।[१] ये सत्व, रजस् और तमस् गुणों से संयुक्त होते हैं। इसलिए इसे मिश्र सत्व कहते हैं।

जिस प्रकार सांख्य दर्शन में त्रिगुणात्मिका प्रकृति को जगत् का मूल कारण माना गया है उसी प्रकार रामानुज भी सृष्टि का मूलभूत कारण प्रकृति को ही मानते हैं। लेकिन यह सांख्य की तरह पुरुष-प्रकृति के संयोग को ही सृष्टि नहीं मानते। ये प्रकृति को ईश्वर पर आधारित उसकी विशेष शक्ति मानते हैं। जिसके द्वारा वह जगत् का विकास करता है। माया ईश्वर की सृजन शक्ति है।[२]

प्रकृति के विकासक्रम को रामानुज भी सांख्य के समान ही प्रस्तुत करते हैं। इनके अनुसार अव्यक्त का प्रथम विकार महत्तत्त्व है। महत् से अहंकार की उत्पत्ति होती है। यह अहंकार सत्त्व, रजस् और तमस् गुणों से युक्त होता है। अहंकार के सात्त्विक रूप से पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ एवं मन की उत्पत्ति होती है जिसमें मन ज्ञानेन्द्रिय तथा कर्मेन्द्रिय दोनों का काम करता है। इसलिए इसे उभयात्मक कहा जाता है। इसे कई नामों से भी सम्बोधित किया जाता है। जब यह निर्णय करता है तो बुद्धि, उपज्ञान से जब आत्मा समझता है तो उसे अहंकार कहते हैं। सांख्य और रामानुज के सृष्टि-क्रम में एक महत्त्वपूर्ण भेद यह है कि सांख्य तामस् अहंकार से पंचतन्मात्राओं और इन तन्मात्राओं से पंचमहाभूतों की उत्पत्ति मानता है जबकि रामानुज के अनुसार पहले भूतादि से शब्द-तन्मात्र, शब्द-तन्मात्र से आकाश, आकाश (महाभूत) से स्पर्शतन्मात्र, स्पर्शतन्मात्र से वायु महाभूत, वायु से रूप-तन्मात्र की उत्पत्ति होती है जिससे तेज की उत्पत्ति होती है, तेज रसतन्मात्र को उत्पन्न करता है जो जल की उत्पत्ति करता है। जल से गन्ध तन्मात्र और गन्ध से पृथ्वी की उत्पत्ति होती है।

उपरोक्त चौबीस तत्त्वों के माध्यम से जीवात्मा और परमात्मा के लिए भोग्य के साधन और भोग्य के स्थानों का निर्माण होता है। यह कार्य ब्रह्म के द्वारा सम्पादित होता है। इस प्रक्रिया को सृष्टि का पंञ्चीकरण कहा जाता है।

पञ्चमहाभूतों का जब पूर्ण विकास हो जाता है तो उसमें दो समान भाग बँट जाते हैं। उसमें एक तो अपनी पूर्ववत् स्थिति में रहना है लेकिन दूसरा भाग पुनः

---

१. ज्ञानविरोधत्वादविद्या। -तत्त्वत्रय, पृष्ठ ७६।

२. परब्रह्मशक्तिरूपाया अजाया अवगतेः । -श्रीभाष्य, १/४/९।

चार समान भागों में विभक्त हो जाता है। ये चार भाग, जो अब पूर्ण के १/८ के बराबर है, एक-एक करके महाभूतों के अन्य अर्ध भागों से संयुक्त हो जाते हैं। इसको एक दृष्टान्त के माध्यम से और स्पष्ट किया गया है कि आकाश का एक अष्टमांश भाग वायु के अर्धांश भाग से मिलेगा, दूसरा अष्टमांश भाग तेज के अर्धांश भाग से, तीसरा अष्टमांश भाग जल के अर्धांश भाग से और चौथा अष्टमांश भाग पृथ्वी के अर्धांश भाग से मिल जायेगा। इस प्रकार प्रत्येक महाभूत दूसरे से युक्त हो जाएगा। इस क्रिया से सृष्टि की प्रत्येक वस्तु में पाँचों महाभूत उपस्थित हैं, जो महाभूत अधिक मात्रा में उपलब्ध हैं उसी नाम से किसी वस्तु को जगत् में जानते हैं, यद्यपि उसमें अन्य भूत भी सम्मिलित रहते हैं।

इस प्रकार उपरोक्त विचारों से यह स्पष्ट होता है कि रामानुज अचित् को एक नित्य-द्रव्य मानते हैं। यह दृष्ट जगत् इसी द्रव्य से निर्मित है। परब्रह्म इस सृष्टि की सर्वशक्तिमान् सत्ता है। इसलिए इस जगत् के उपादान और निमित्त दोनों कारणों की सत्ता नित्य एवं सत्य है। इसके अनुसार सत् कारण से सत्कार्य की उत्पत्ति होती है क्योंकि कारण और कार्य में अवस्था का भेद है। कारण स्वयं कार्य-रूप में बदल जाता है। एक ही पदार्थ एक अवस्था-विशेष में कारण कहलाता है और दूसरी अवस्था में कार्य। इसलिए इनका सिद्धान्त सत्कार्यवाद पर आधारित है। इनकी ये मान्यता है कि "चित्" और "अचित्" सृष्टि के पहले सूक्ष्मता तथा नाम-रूप-विहीनता के रूप में रहते हैं, जिससे इनको असत् के रूप में जाना जाता है, किन्तु जब ये विकसित होकर नामरूप धारण करते हैं तो इनको जगत् के रूप में जाना जाता है। ये जगत् ब्रह्मात्मक है। यद्यपि ब्रह्म का स्वरूप नित्य है, इसके स्वरूप में किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं होता, लेकिन उसके अंश रूप में प्रयुक्त होने वाले चित् एवं अचित् परिवर्तित होते हैं। अत: यह जगत् ब्रह्म में ही स्थित है, ब्रह्म ही उसका कारण है और वही उसका गन्तव्य भी है, ऐसी स्थिति में जगत् को "माया", "अविद्या" या "अध्यास" से उत्पन्न भ्रम कहना उचित नहीं है।

रामानुज शंकर द्वारा स्थापित जगत् की सत्ता को सत्य नहीं मानते। भेद (सृष्टि) की समस्या के समाधानार्थ भारतीय दर्शन में जो प्रयास हुए हैं उसमें रामानुज वेदान्त भी प्रमुख है। इस प्रयास में यथार्थवादी एवं अध्यात्मवादी दो प्रमुख धाराएँ हैं किन्तु इसके अतिरिक्त जैन, बौद्ध यथार्थवादी, अध्यात्मवादी प्रयास करते हैं एवं सांख्य योग, न्याय-वैशेषिक यथार्थवादी, ईश्वरवादी विचार प्रस्तुत करते हैं।

अन्य वेदान्त सम्प्रदायों की तरह रामानुज वेदान्त की समस्या भी तत्त्व एक है या अनेक से जुड़ी हुई है। शांकर वेदान्त तत्त्व की एकता का प्रतिपादन करने

के लिए तत्त्व को एक मानता है और भेद या द्वैत की सत्ता को किसी भी स्तर पर स्वीकार करने पर अद्वैत के खण्डन होने के भय से ग्रसित प्रतीत होते हैं। सृष्टि जो हमारे जीवन के साथ जुड़ी हुई है उसे मिथ्या या आभास प्रतीतिमात्र कहकर सन्तोष कर लेना रामानुज जैसे भक्तिमार्गी विचारक को स्वीकार्य नहीं है। रामानुज ने सृष्टि को मिथ्या नहीं माना। सृष्टि को भी नित्य शाश्वत ब्रह्मांश कहकर उन्होंने वेदान्त दर्शन में पहली बार सृष्टि के महत्त्व एवं उपयोगिता को सत् स्थान पर प्रतिष्ठित करने वाला प्रयास किया। उनके सामने प्रश्न यह था कि यदि जगत्, ब्रह्म एवं जीव सत् हैं तो अद्वैत कैसे सम्भव है? उनके लिए ब्रह्म भी सत् है और ब्रह्मांश चित् अचित् भी सत् है। यहाँ वे अंश-अंशी, अवयव-अवयवी, अंग-अंगी भावपूर्वक अद्वैत की मान्यता का प्रतिपादन करते हैं। इस ब्रह्म सत् से सृष्टि होती है और लीला-स्वरूप सृष्टि प्रलयकाल में ब्रह्म में ही समाहित हो जाती है।

रामानुज के विशिष्टाद्वैत के विरुद्ध गम्भीर आक्षेप लगाए गए हैं। यदि ब्रह्म या परमतत्त्व भी चित्-अचित् युक्त है तो वह चित्-अचित् संयोग से उत्पन्न समस्त विकारों से युक्त होगा। यह चित्-अचित् विशिष्ट जीव की तरह बद्ध होगा। यह अचित् तत्त्व ब्रह्म के प्रकाश चैतन्य को दूषित करेगा। वह सीमित होगा और अचित् भाव होने से बद्ध होगा। ऐसा परमतत्त्व, जिसमें जड़ता भी हो, सीमितता हो, बन्ध हो, तमाम विकारों का पिण्ड होगा और विकारी ईश्वर वदतोव्याघात है। पुन: सृष्टि भी अपूर्णता का द्योतक है। किस प्रयोजन की पूर्ति के लिए ब्रह्म सृष्टि करता है? लीला के लिए सृष्टि स्वीकार कर रामानुज इसका उत्तर देते हैं, जो स्वातन्त्र्यवाद में परिणत होता है किन्तु रामानुज वेदान्त में लीला अपूर्ण मानवीय प्राणियों की लीला से भिन्न नहीं है।

द्वैत

द्वैतवाद के प्रवर्तक मध्वाचार्य हैं इसलिए उसे माध्व मत की संज्ञा भी दी गयी है। मध्वाचार्य का द्वैतवाद शंकराचार्य के अद्वैत की प्रतिक्रिया में भक्तिवाद के प्रवर्तन का ही प्रतिफल है। मध्वाचार्य ने श्रुति तथा तर्कों के आधार पर सिद्ध किया है कि संसार मिथ्या नहीं है, जीव ब्रह्म का आभास नहीं है और ब्रह्म ही एकमात्र सत्य नहीं है। इस प्रकार मध्वाचार्य ने अद्वैतवाद का खण्डन करते हुए "पंच-नित्य-भेद-सिद्धान्त" का प्रतिपादन किया है, जिसके अनुसार ईश्वर का जीव से नित्य भेद है, ईश्वर का जड़ पदार्थ से नित्य भेद है तथा एक जड़ पदार्थ का दूसरे जड़ पदार्थ से नित्य भेद है। अपने मत के समर्थन में मध्वाचार्य ने अद्वैतवाद की स्पष्ट पुष्टि करने वाले उपनिषदों के बहुत से वाक्यों (यथा— "तत्त्वमसि",

"अयमात्मा ब्रह्म", "ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति", "एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म", "सर्वं खल्विदं ब्रह्म', आदि) की द्वैतवादी व्याख्या की है।[१]

माध्व मत में कुल दस पदार्थ मान्य हैं— द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, विशिष्ट, अंशी, शक्ति, सादृश्य और अभाव। इनमें प्रथम पाँच और अन्तिम वैशेषिक पदार्थ ही हैं। शेष माध्वमत की वैशेषिक मत से विशिष्टता है। इस मत में बीस प्रकार के द्रव्य मान्य हैं— परमात्मा, लक्ष्मी, जीव, अव्याकृत, आकाश, प्रकृति, गुणत्रय, अहंकार तत्त्व, बुद्धि, मन, इन्द्रिय, मात्रा, भूत, ब्रह्माण्ड, अविद्या, वर्ण, अन्धकार, वासना, काल और प्रतिबिम्ब, इनमें से अधिकांश तत्त्व सांख्य से प्राप्त हैं। जो सृष्टि के कारण हैं।

प्रलय के अन्त में सृष्टि करने की परमात्मा की इच्छा होती है। तब वह प्रकृति के गर्भ में प्रवेश कर उसे कार्योन्मुख करता है। बाद में तीन गुणों में परस्पर वैषम्य उत्पन्न होता है। इसके बाद महत् से लेकर ब्रह्माण्डपर्यन्त तत्त्वों की तथा उनका अभिमान रखने वाले ब्रह्मा आदि देवताओं की वह सृष्टि करता है। फिर चेतन और अचेतन अंशों को उदर में निःक्षेप कर परमात्मा ब्रह्माण्ड में प्रवेश करता है। तब देवताओं के मन से हजार वर्ष के अन्त में अपनी नाभि से पद्म (कमल) को उत्पन्न करता है। उस पद्म से चतुर्मुख ब्रह्मा उत्पन्न होते हैं और वे जगत् की उत्पत्ति के निमित्त हजार दिव्य वर्षपर्यन्त तपस्या करते हैं। उस तपस्या से प्रसन्न होकर भगवान् अपने शरीर से पंचभूतों की सृष्टि करते है। (पंचभूतों की सहायता से परमात्मा के द्वारा सूक्ष्म रूप में उत्पन्न किये हुए चतुदर्श लोकों को चतुर्मुख के अन्दर प्रवेश कर उन्हीं के नाम को धारण कर स्थूल रूप में परमात्मा उत्पन्न करता है।) बाद के सभी देवता अण्ड के भीतर से उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार क्रमशः अवशिष्ट सृष्टि होती है।

द्वैत दर्शन विशुद्ध रूप से धार्मिक आस्था के आधार पर जगत् की व्याख्या करता है। जगत् की व्याख्या में भक्ति तत्त्व को प्रमुखता दी गयी है। किन्तु दार्शनिक दृष्टि से परमतत्त्व (भगवान्) को शरीरी बताना एवं उनसे सृष्टि की व्याख्या करना संगत नहीं इसलिए कि शरीर विकार का द्योतक है, चाहे दिव्य शरीर ही क्यों न हो सीमितता का द्योतक है। इस स्थिति में शरीर बन्धन से भी जुड़ा हुआ है। अतः परमतत्त्व की निरपेक्षता एवं निर्विकार स्वरूपता का प्रतिपादन सम्भव नहीं जबकि श्रुतियाँ परमतत्त्व को निरपेक्ष एवं निर्विकार बताती हैं।

१. मध्वाचार्य ने उपनिषदों के इन वाक्यों की व्याख्या द्वैतवाद के रूप में करके अपने मत को पुष्ट किया है।

द्वैताद्वैत

द्वैताद्वैत मत का इतिहास बहुत प्राचीन है। भगवान् ने हंस के रूप में सबसे पहले इस सम्प्रदाय के सिद्धान्तों को सनक आदि को सिखलाया। उन सबने फिर कुमार को सिखाया। कुमार से नारद और नारद से निम्बार्काचार्य को ये उपदेश मिले।[१] इसलिए वह "हंस सम्प्रदाय" और "निम्बार्क सम्प्रदाय" दोनों नामों से प्रसिद्ध है।

रामानुजाचार्य के समान निम्बार्काचार्य ने भी परमतत्त्व के तीन रूप माने हैं— ईश्वर, जीव (चित्त) और जड़ जगत् (अचित्)। ईश्वर में अनन्त वस्तुओं को उत्पन्न करने की शक्ति है। ईश्वर अपनी शक्ति का अनुभव मात्र करने से नामरूपात्मक संसार का रूप धारण करता है। ब्रह्म के सगुण और निर्गुण दोनों रूप हैं। यह भीतर और बाहर सर्वत्र व्याप्त है। विशिष्टाद्वैतवादियों के समान निम्बार्काचार्य जीव और जगत् को ईश्वर का अंगभूत नहीं अपितु शक्ति मानते हैं। इनके मत में जीव ज्ञान-स्वरूप और ज्ञानाश्रय है। वह ज्ञाता, कर्ता और भोक्ता भी है। परिणाम में वह अणु है, विभु नहीं, कर्तृत्व की दृष्टि से जीव स्वतन्त्र है, किन्तु भोग प्राप्ति की दृष्टि से वह ईश्वराधीन है। अचित् अर्थात् जड़ जगत् के तीन रूप हैं— प्रकृति अथात् महत् तत्त्व से लेकर महाभूत तक प्रकृति से उत्पन्न जगत्, अप्रकृत अर्थात् प्रकृति के राज्य के बहिर्भूत तथा काल, इन त्रिवृत्यकरण-प्रक्रिया के अनुसार शरीर की सृष्टि मानी जाती है। इसलिए पृथ्वी से विष्ठा, मांस और मन, जल से मूत्र, शोणित, प्राण और तेजस् से हड्डी, मज्जा और वाक् शरीर में उत्पन्न होते हैं। इससे यह भी मालूम होता है कि "मन" पार्थिव वस्तु है।[२] अवस्थान्तर प्राप्त वायु ही "प्राण" है। महाभूतों के समान यह भी उत्पन्न होता है। यह जीव का उपकरण है। देव और इन्द्रियों का "विचारण", "प्राण" का असाधारण कार्य है। यह "अणु" परिमाण का है।[३]

यथार्थ में जाग्रत् जीव के वैराग्य के निमित्त ही संसार की गति मानी जाती है। "सृष्टि" भाव पदार्थ से होती है। इन्द्रिय भी एक प्रकार का तत्त्व है। जीव के साथ इनका स्वस्वामिभाव सम्बन्ध है। विषय का ग्रहण करना ही इनका मुख्य कार्य है।

शुद्धाद्वैत

शुद्धाद्वैतवाद के प्रवर्तक श्री विष्णुस्वामी भी दाक्षिणात्य वैष्णव आचार्य थे। इनके मतानुसार माया-रहित ब्रह्म ही अद्वैत तत्त्व है। ब्रह्म ही जगत् का उपादान

---

१. वेदान्त परिजात सौरभ, १/३/८; केशव स्वामी रचित गीता की टीका।

२. वेदान्त-पारिजात-सौरभ, २/४/१२,२०।

३. वहीं, २/४/७,९,१०,११,१३,१७।

तथा निमित्त कारण है। वह न केवल जगत् का कर्त्ता है अपितु जगत् ही है। यहाँ ब्रह्म ही एकमात्र तत्त्व माना गया है। अन्य सभी वस्तु ब्रह्म से अभिन्न है और इसलिए नित्य भी है।[१] यथार्थ में जगत् अक्षय और नित्य है, किन्तु विष्णु की माया से इसका आविर्भाव और तिरोभाव या उत्पत्ति और नाश होता है। सारा जगत्-प्रपंच उन्हीं का लीला-विलास है। इस सिद्धान्त में ब्रह्म ही सब कुछ है, मायिक नहीं।

बल्लभाचार्य ने श्रुति-स्मृति को एकमात्र प्रमाण मानकर सभी पदार्थों को ब्रह्मस्वरूप माना है। वह एक और अद्वितीय सत् है। वह सविशेष है, पर निर्विशेष भी है, सगुण है, पर निर्गुण भी है, अणु है पर महान् भी है, चल है पर कूटस्थ थी है, गम्य है पर अगम्य भी है। वह सत्, चित् और आनन्द है। उसके सभी गुण उससे स्वभावतः अभिन्न हैं, वे उसकी शक्ति या माया नहीं है। उसके स्वरूप में ही समस्त जगत् आविर्भूत होता है और ऐसा होने पर भी वह अविकृत रहता है। इस मत को ''स्वरूप-परिणामवाद'' कहा जाता है।

भगवान् में ससंार के पालन तथा नाश, दोनों की इच्छा रहती है। इन दोनों इच्छाओं से सत्, चित् तथा आनन्द रूप से क्रमशः ''सत्-अंश'' से जीव के बन्धन समूहभूत प्राण आदि जड़, ''चित्-अंश'' से जीव, ''आनन्द-अंश'' से जीव के नियामक तथा अन्तर्यामियों का स्फुलिंगों की तरह आविर्भाव होता है। जिन्हें भगवान् उस पूर्ण ज्ञान शक्ति को देता है, वे बद्ध जीव उस मोहिका माया को तथा प्रयत्न को छोड़ देते हैं, केवल अपने स्वरूप चित्-रूप में स्थित रहते हैं और अपराधीन भी हो जाते हैं। किन्तु उन जीवों में जगत्-कर्तृत्व नहीं होता। वह माया शक्ति उसमें नहीं रहती। उन जीवों में आनन्द का ही उत्कर्ष होने के कारण और दूसरा कोई उत्कर्ष नहीं रहता। आनन्द के साथ मिल जाने से यह भी आनन्दरूप हो जाता है। इसे बल्लभ मत में ''सृष्टि प्रकार'' कहा गया है।[२]

आगमिक परम्परा में सृष्टि-सम्बन्धी चिन्तन

भारतीय चिन्तन परम्परा में आगमों का विशेष स्थान है। आगमिक चिन्तन वैदिक परम्परा से यदि प्राचीन नहीं माना जाय तो कम से कम समानान्तर अवश्य है। वैदिक विचारधारा की तुलना में आगमिक परम्परा को विद्वानों ने अधिक समन्वयवादी एवं यथार्थवादी माना है। अन्य दार्शनिक परम्पराओं में निहित चिन्तन में जो द्वन्द्व एवं विरोधाभास है, आगम परम्परा में वे नहीं हैं। आगम परमतत्त्व

---

१. पुरुषोत्तम-प्रस्थान रत्नाकर, पृष्ठ ५४।

२. वहीं, पृष्ठ ५५।

को अविभाज्य, गतिशील एवं विमर्शात्मक ईकाई मानते हैं एक अद्वैत तत्त्व ही पुरुष और प्रकृति, शिव और शक्ति तथा प्रकाश और विमर्श के रूप में स्वयं को अपने स्वातन्त्र्यवश विभाजित करते हुए सृष्टिरूपी लीला अथवा क्रीड़ा करता रहता है।

वस्तुतः भेदवादी अभेदवादी तथा भेदाभेदवादी जैसे सभी आगमिक सम्प्रदायों में सृष्टि के प्रति एक स्वस्थ भावात्मक और यथार्थवादी दृष्टिकोण अपनाया गया है। इनके अनुसार सृष्टि में किसी प्रकार का द्वैत, मिथ्यात्व तथा विरोधाभास नहीं है। इसका मूल कारण सम्भवतः यह है कि वैदिक परम्परा की अपेक्षा आगमिक परम्परा में संसार अथवा सांसारिक मूल्यों के प्रति हेयवादी दृष्टिकोण नहीं अपनाया गया है। गति, परिवर्तन, जड़त्व तथा सांसारिकता त्याज्य नहीं है अपितु सभी एक शिव तत्त्व की मौलिक अभिव्यक्ति है।

शैव सिद्धान्त

शैव सिद्धान्त का दार्शनिक विकास आठवीं शती ईसवी से १३वीं शती ईसवी तक माना गया है। इस सिद्धान्त का प्रचार दक्षिण देश के तमिल में हुआ था। इस दर्शन के विकास में सर्वप्रथम नाम ''मेइकण्डदेव'' का है, जिन्होंने इस सिद्धान्त को सुव्यवस्थित दार्शनिक रूप प्रदान किया है। इन्होंने कई ग्रन्थों की रचना की, जो शैव सिद्धान्त के विकास में काफी सहयोगी रहे हैं। काश्मीर शैव की तरह यह केवल एक ही तत्त्व को प्रमुख न मानकर तीन तत्त्वों को प्रमुख मानता है।

इस दर्शन में पति, पशु और पाश ये तीन प्रमुख तत्त्व माने गये हैं। इसमें ईश्वर को पति, जीव को पशु तथा जगत् को पाश माना गया है। इन तीनों तत्त्वों में पति या शिव को उत्कृष्टतम तत्त्व माना गया है; क्योंकि वह सर्वज्ञ है।[1] दूसरा पाश या माया तत्त्व है, जो जड़ है तथा जगत् का उपादान कारण है। शिव इससे परे होता है। यह माया या पाश स्वयं सृष्टि नहीं करती, अपितु यह सृष्टि का साधन मात्र है। तीसरा तत्त्व पशु या जीव है, जो ससीम है। यह बन्धनग्रस्त है। यह अपने शक्तिप्रकाशन के लिए शिव पर आश्रित रहता है।

सृष्टि की व्याख्या शैव-सिद्धान्ती सत्कार्यवादी-कारणतावादी सिद्धान्त के आधार पर करते हैं। जहाँ काश्मीर शैव दर्शन सृष्टि की आभासवादी व्याख्या करते हैं, वहीं शैव सिद्धान्त सृष्टि की यथार्थवादी व्याख्या प्रस्तुत करता है। काश्मीर शैव दार्शनिकों का कहना है कि जगत् कार्य रूप होने से इसका कोई कारण भी होना

---

१. शिवज्ञान-सिद्धि, पृष्ठ ३।

चाहिए, जिससे वह कार्यभूत हो। शैव सिद्धान्त में यह कारण माया को माना गया है। कार्य को अस्तित्व में लाने के लिए एक कर्ता का होना आवश्यक है। शैव सिद्धान्त में यह कर्ता सर्वशक्तिमान् शिव ही है। शिव के बिना जगत् विकसित नहीं हो सकता।[१] क्योंकि शिव ही जगत् का निमित्त कारण है।

शैव सिद्धान्त में सृष्टि को ईश्वर का खेल या कलाकार की कलात्मक अभिव्यक्ति माना गया है। इस सृष्टि-कार्य को करने में उसका कोई प्रयोजन निहित नहीं रहता। इस सृष्टि के माध्यम से ईश्वर बन्धनग्रस्त आत्माओं, जिनका आणवमल के कारण वास्तविक स्वरूप आच्छादित हो गया है, की भलाई करना चाहता है इसलिए शैव सिद्धान्त में सृष्टि को एक दिव्य प्रयोजन माना जाता है। सृष्टि करने में इसका कोई स्वार्थ निहित नहीं रहता। केवल आत्माओं के कल्याण के उद्देश्य मात्र से शिव प्रेमविह्वल होकर सृष्टि कार्य करता है।

काश्मीर शैव दर्शन और शैव सिद्धान्त में शिव और जगत् के सम्बन्ध को लेकर थोड़ा मतभेद है। जहाँ काश्मीर शैव दर्शन शिव और जगत् में तात्त्विक अद्वैत मानता है वहीं शैवसिद्धान्ती शिव और जगत् में तात्त्विक द्वैत मानते हुए भी उनके बीच सम्बन्ध को अद्वैत कहता है। उसका यह विचार है कि जगत् जड़ है, इसलिए वह चेतन शिव से कोई सम्बन्ध स्थापित करने में असमर्थ है। शिव अपनी इच्छाशक्ति, उपस्थिति और कार्य से ही जगत् से सम्बन्धित है।

यद्यपि शैव सिद्धान्त में अद्वैत को स्वीकार किया गया है तथापि उसकी सृष्टि सम्बन्धी व्याख्या को द्वैतपरक ही माना जा सकता है। स्वयं शिव सृष्टि के रूप में विकसित नहीं होता बल्कि माया के द्वारा सृष्टि का विकास होता है और माया शिव से स्वतन्त्र तो नहीं है किन्तु भिन्न अवश्य है। शैव सिद्धान्त में माया एवं जीव दोनों नित्य हैं, ईश्वर माया को प्रेरित करते हैं और जगत् के छत्तीस तत्त्वों की सृष्टि विकसित होती है।

वीर शैव

काश्मीर शैव मत के अद्वैतवाद के प्रति होने वाली प्रतिक्रिया के परिणामस्वरूप बसव नामक शैव दार्शनिक ने "वीर शैव" मत का प्रतिपादन किया। ब्रह्मसूत्र पर श्रीकर-भाष्य और सिद्धान्त-शिखामणि वीर शैव सम्प्रदाय के प्रमुख ग्रन्थ हैं। शक्तिविशिष्टाद्वैतवाद इसका दार्शनिक सिद्धान्त है। इसमें स्थूल चिदचिच्छक्ति-विशिष्ट जीव और सूक्ष्म चिदचिद्विशिष्ट शिव का अद्वैत है। परमतत्त्व शिव को पूर्णाहन्ता

---

१. शिवज्ञानबोध, १/२।

रूप या पूर्ण स्वातन्त्र्य रूप माना गया है। इस सम्प्रदाय को लिङ्गायत सम्प्रदाय भी कहते हैं।

वीर शैव के अनुसार यह दृश्यमान जगत् सत्य है। इन दार्शनिकों का कहना है कि शक्ति-विशिष्ट परमशिव से उत्पन्न यह सर्वजगत् मिथ्या नहीं अपितु सत्य है। श्री रेणुकाचार्य ने भी अगस्त्य महर्षि को उपदेश देते हुए इस जगत् की नित्यता को स्पष्ट रूप से प्रदर्शित किया है।[१] उनका मत है कि जिस प्रकार पुष्प और फल वृक्षों से अलग नहीं है। उसी प्रकार शिव से निर्मित यह जगत् भी शिव से भिन्न नहीं, नित्य है।

विश्व की उत्पत्ति के सम्बन्ध में वेदान्त में प्रचलित परिणामवाद और विवर्तवाद से वीर शैव का मत किंचित् भिन्न है। उनका कहना है कि जैसे कछुआ एक समय में अपने पैरों को बाहर निकाल कर पानी में चलता है तथा दूसरे समय अपने पैरों को अपने में छिपा कर चुपचाप बैठा रहता है, ठीक उसी प्रकार परमशिव अपने में नित्य सम्बन्ध से रहने वाले जगत् का एक समय में विकास करता है और दूसरे समय में संकोच करता है। अत: ऐसे समय में जब कछुआ अपना पैर बाहर निकालता है तब उन पैरों की उत्पत्ति और जब पैरों को अन्दर समेट लेता है तो उन पैरों का नाश कहना अत्यन्त हास्यास्पद प्रतीत होता है। ठीक उसी प्रकार सत्य और नित्य इस प्रपञ्च की उत्पत्ति और नाश कहना अत्यन्त हास्यास्पद है। इस सम्बन्ध में उत्पत्ति और नाश की अपेक्षा ''शक्ति-विकास'' और ''शक्ति-संकोच'' कहना अधिक उचित प्रतीत होता है। श्रीरेणुकाचार्य ने इस दृष्टान्त को और स्पष्ट किया है।[२]

रेणुकाचार्य ने शक्तिविशिष्टाद्वैतवाद का प्रतिपादन किया है। कहना है कि शक्ति द्विविध है— सूक्ष्म शक्ति (पर-शिव) तथा स्थूल चिदचिद्विशिष्ट शक्ति (जीव)।

इस सृष्टि का कारण परमशिव है और जगत् कार्य। जगत् रूप शक्ति और महेश्वर का नित्य तादात्म्य है। शिव और शक्ति में अविनाभाव सम्बन्ध कहा गया है। जैसे— सूर्य में प्रभा का और चन्द्र में चन्द्रिका का सम्बन्ध है। इस सम्बन्ध से दोनों में अभेद है। परमशिव एकल ऐश्वर्यों से सम्पन्न है। परमशिव से ही जड़ और अजड़ जगत् की उत्पत्ति होती है। परम शिव जब कर्तृत्व की इच्छा करता

---

१. विस्तार के लिए द्रष्टव्य, रेणुकाचार्यकृत, सिद्धान्तशिखामणि।

२. आत्मशक्तिविकासेन शिवो विश्वात्मना स्थितः ।
कुटीभावाद्यथा भाति पटः स्वस्य प्रसारणात् ।।

है तब उसे शक्तितत्त्व कहा जाता है। इस प्रकार परमशान्त शिव में प्रथम इच्छाशक्ति, उसके बाद ज्ञानशक्ति तब क्रियाशक्ति उत्पन्न होती है। जगत् इस कारण शिव का परिणाम कहा जाता है। इसलिए वीर शैव द्वैताद्वैत का प्रतिपादक है— "द्वैताद्वैतमतं वीरशैवं मोक्षैककल्पम् ।" शक्तिविशिष्टाद्वैतवाद के अनुसार स्थूल चिदचिदात्मक शक्ति को विमर्श-शक्ति-रूपा कहते हैं। इसी विमर्श शक्ति से सृष्टि की रचना, स्थिति और संहार सम्भव है। परमशक्ति तत्त्व में विमर्श शक्ति के स्फुरण से जो छत्तीस तत्त्व उत्पन्न होते हैं वह काश्मीर शैव के समान ही हैं।

काश्मीर शैव

शांकर अद्वैत में परमतत्त्व को केवल ज्ञान माना गया है और यह ज्ञान क्रियाशून्यता है। क्रियाशून्यता की स्थिति में परमतत्त्व से सृष्टि कैसे होगी? सृष्टि क्रिया का द्योतक है और क्रियारहित परमतत्त्व से दूसरी सृष्टि नहीं हो सकती। इस कठिनाई को यथावत् स्वीकार कर शांकर अद्वैती सृष्टि को ब्रह्म पर आरोप मात्र बताकर जगत् की समस्या का समाधान करते हैं। आरोप से ब्रह्म में क्रिया व्यापार का वास्तविक होना नहीं सिद्ध होता है। अत: ब्रह्म निर्विकार भी सिद्ध हो जाता है। काश्मीर दार्शनिक इस समस्या का विधानात्मक (पाजिटिव) उत्तर प्रस्तुत करते हैं। शिव ज्ञान क्रिया दोनों है। पूर्ण अद्वैत शिव में स्वचेतना की व्याख्या इस क्रिया तत्त्व से ही होती है। अद्वैती भेदावस्था में अहंबोध स्वीकार करते हैं। इस स्थिति में वे ब्रह्म में भी स्वचेतना को स्वीकार नहीं करते किन्तु काश्मीर दार्शनिकों के अनुसार क्रिया अपूर्णता का द्योतक नहीं पूर्णता का द्योतक है। शिव में स्वचेतना उसकी अपूर्णता का नहीं अपितु उसकी पूर्णता का द्योतक है। अहं विमर्श चेतना की क्रियारूपता चेतना की शक्ति है। स्वयं ही स्वचेतना या अहंबोध है। यही शिव का स्वरूप है। अद्वैती भाषा में हम कह सकते हैं कि इच्छा ज्ञान क्रिया शिव का तटस्थ लक्षण है जबकि अहं विमर्श उसका स्वरूप लक्षण है। आत्मा की स्वप्रकाशरूपता की तरह क्रिया भी शिव का स्वरूप लक्षण है। यह क्रिया है कर्म नहीं है। कर्म सप्रयास होता है क्रिया चेतना का स्वाभाविक विमर्श है। कर्म सप्तयोज्य होता है। क्रिया प्रयोजन से बंधे बिना होती रहती है। कर्म अस्थायी होता है अत: अस्थाई फलोत्पादक भी होता है जबकि क्रिया नित्य है। अहं विमर्श का जागतिक प्रयोग से भिन्न परमार्थ अर्थ में भी प्रयोग हो सकता है किन्तु पारमार्थिक प्रयोग में यह चैतन्य का स्वरूप (विमर्श) है।

अगर शिव तत्त्व स्वचेतन है उसमें अहं विमर्श है तो निश्चित रूप से उसे क्रिया-स्वरूप स्वीकार करना पड़ेगा। काश्मीर विचारकों का कहना है कि शांकर

अद्वैती क्रिया और कर्म में भेद नहीं करते। दोनों को विकार अर्थ में मान लेते हैं और इसलिए परमतत्त्व को क्रियाशून्य बना देते हैं जो बौद्धों के शून्यवाद की तरह ही बना रह जाता है। जैसे शून्य से किसी चीज की सृष्टि नहीं हो सकती वैसे ही ब्रह्म भी क्रियाशून्य होने के कारण सृष्ट्यादि में प्रवृत्त नहीं हो सकता। शांकर वेदान्त ज्ञान और क्रिया को एक ही तत्त्व का दो पहलू स्वीकार करना परस्पर विरोधी समझता है। काश्मीर शैव दर्शन में ज्ञान क्रिया एक ही तत्त्व शिव के दो पहलू हैं। यहाँ स्मरणीय है कि काश्मीर शैव दर्शन में ज्ञान का प्रयोग सांसारिक ज्ञान के अर्थ में नहीं किया गया है और न ही क्रिया का प्रयोग सप्रयोजन सीमित जीव द्वारा किए जाने वाले कर्मों के लिए। शिव ज्ञान स्वरूप है और विमर्श ज्ञान का लक्षण है। यह भारतीय दार्शनिक चिन्तन को काश्मीर शैव दर्शन की प्रमुख देन है। शिव ज्ञान और क्रिया उसका विमर्श है। इसीलिए शिव को पूर्णाहन्ता भी कहा गया है। जगत् को मिथ्या मानने की आवश्यकता नहीं। मायावाद जगत् की व्याख्या में संगत नहीं है। जगत् शिव का विमर्श है और जगत् मिथ्या न होकर शिवाभास है और शिवाभास सत् है। इस स्थिति में जगत् को मिथ्या सिद्ध किये बिना ही काश्मीर शैव दार्शनिक अद्वैत की व्याख्या करते हैं। शिव अपनी क्रियाशक्ति से ही सदाशिव, ईश्वर, शुद्ध विद्या तत्त्व, अशुद्ध अध्वा अन्तःकरणादि की सृष्टि में उपादान कारण है। इस प्रकार जगत् को विवर्त या मिथ्या माने बिना काश्मीर शैव दार्शनिक शिव तत्त्व को जगत् का निमित्तोपादान कारण सिद्ध करते हैं। सृष्टि-विचार एवं सृष्टि-विकास सब कुछ शिव के विमर्श का परिणाम है। जिसकी विस्तृत एवं विशद व्याख्या दूसरे अध्याय में की जाएगी।

द्वितीय अध्याय

सांख्य दर्शन में सृष्टि-सम्बन्धी चिन्तन

उद्भव एवं विकास

प्राचीन काल से ही भारतीय दर्शनों में सांख्य का स्थान बहुत महत्त्वपूर्ण है। भारतवर्ष में अन्य दर्शनों की अपेक्षा सांख्य दर्शन का अपना एक विशेष स्थान है। अपनी विशेषता के कारण ही इस दर्शन ने अनेक दार्शनिकों को अपनी ओर आकृष्ट किया है। इन विचारों की पुष्टि महाभारत में भी होती है।[1] इस दर्शन से प्रभावित होकर ही वासुदेव शरण अग्रवाल ने अपनी पुस्तक **सांख्य दर्शन** में कहा है कि "भारतीय संस्कृति में किसी समय सांख्य दर्शन का अत्यन्त ऊँचा स्थान था। देश के उदात्त मस्तिष्क सांख्य की विचार-पद्धति से सोचते थे।[2]

सांख्य शब्द सम् पूर्वक "चक्षिङ्: धातु से बना है। इसका अर्थ है— "सम्यक् ख्यानम्" अर्थात् "सम्यक् विचार"।[3] अनेक विद्वान् सांख्य शब्द के अन्तर्गत 'संख्या' को गणनापरक मानते हैं और गणनार्थक "संख्या" शब्द से सांख्य की उत्पत्ति मानते हैं। रिचर्ड गार्वे का मत है कि संख्या शब्द का अर्थ गिनती से है और गिनती सांख्य में प्राप्त होती है।

सांख्य दर्शन की उत्पत्ति के बारे में उपरोक्त कथन की पुष्टि महाभारत के निम्न श्लोक से भी होती है—

सांख्यदर्शनमेतावत् परिसंख्यानुदर्शनम् ।
संख्याः प्रकुर्वते चैव प्रकृतिं च प्रचक्षते ।।
तत्त्वानि च चतुर्विंशत् परिसंख्याय तत्त्वतः ।
सांख्या सह प्रकृत्या तु निस्तत्त्वः पंचविंशकः ।।[4]

---

१. ज्ञानं च लोके यदिहास्ति किञ्चित् सांख्यागतं तच्च महन्महात्मन् ।
-महाभारत, शान्तिपर्व, ३०१/१०३।

२. अग्रवाल वासुदेव शरण, सांख्य दर्शन, भूमिका, पृष्ठ-१।

३. 'चर्चा संख्या विचारणा" । -अमरकोश, १/५/२।

४. महाभारत, १२/३०६/४२-४३।

इसमें सांख्य को ''परिसंख्या'' से युक्त माना गया है। डॉ०आद्या प्रसाद मिश्र का कहना है कि सांख्य दर्शन को ''संख्या'' शब्द से इसलिए विभूषित किया गया है कि उसके तत्त्वों का निर्धारण संख्या से किया गया है।[१]

सोमतिलकसूरि[२] का मत है कि इस दर्शन की सांख्य नाम पुरुषनिमित्तक है। ''संख'' या ''शंख'' नामक आदि पुरुष के नाम पर ही इसे सांख्य दर्शन कहा गया है।

यह एक पारिभाषिक शब्द है, जिसका आशय ज्ञान, विवेक, चिन्तन, विचार, चर्चा आदि है। सांख्य दर्शन का सांख्य नाम दोनों ही प्रकार से उसके बुद्धिवादी एवं तर्क-प्रधान होने का सूचक है। सांख्यों की अचित् प्रकृति तथा चित् पुरुष दोनों ही मूल-भूत तत्त्वों को आगम या श्रुतिप्रमाण से सिद्ध मानते हैं। प्रसिद्ध भाष्यकार विज्ञानभिक्षु ने भी सांख्य को आगम या श्रुति का सत् तर्कों द्वारा किया जाने वाला मनन ही माना है। इससे ज्ञात होता है कि सांख्यशास्त्र, मनन-शास्त्र भी है।

सांख्य दर्शन की प्राचीनता

प्राचीन काल से ही उपनिषदों, **महाभारत, गीता, रामायण,** स्मृतियों तथा पुराणों में सर्वत्र सांख्य का न केवल उच्च ज्ञान के रूप में उल्लेख मिलता है, अपितु उसके सिद्धान्तों का यत्र-तत्र विस्तृत विवरण भी दृष्टिगोचर होता है। **महाभारत** के शान्तिपर्व में एक स्थान पर कहा गया है कि ''लोक में जो सांख्य सम्प्रदाय से प्राप्त हुआ है, वह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।''[३] आगे भी कहा गया है कि ''सांख्य के समान कोई ज्ञान नहीं है और योग के समान कोई बल नहीं है।''[४] **श्रीमद्भगवद्गीता** में भी साख्य दर्शन के त्रिगुणात्मक सिद्धान्त को माना है। त्रिगुणात्मिका प्रकृति नित्य परिणामिनी है, उसके तीन गुणों में सदा ही कुछ न कुछ परिणाम होता रहता है। फलत: कोई न कोई उन्पन्न होते रहते हैं। पुरुष तो अकर्ता है— सांख्य का यह सिद्धान्त **गीता** के निष्काम कर्म-योग का आवश्यक अंग बन गया है।[५] इस प्रकार अन्यत्र भी सांख्य दर्शन के अनेक सिद्धान्त परवर्ती

---

१. सां०ऐ०प०, पृष्ठ-५।

२. ''सांख्य इति पुरुषनिमित्तेयं संज्ञा ।
संखस्य इमे सांख्याः, तालव्यो वा शकारः शंखनामादिपुरुषः।'' -लघुवृत्ति-४४।

३. शान्तिपर्व का मोक्षधर्म प्रकरण, ३०१/१०९।

४. नास्ति सांख्यसमं ज्ञानं नास्ति योगसमं बलम् । -वहीं, ३१६/२।

५. प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः ।
यः पश्यति तथात्मानमकर्त्तारं स पश्यति ।। -गीता, १३/२९।

दर्शनों के सिद्धान्तों के पूरक के रूप में प्राचीन संस्कृत वाङ्मय में दृष्टिगोचर होते हैं।

उपनिषदों, विशेष रूप से परवर्ती उपनिषदों में सांख्य का उल्लेख है। **कठोपनिषद्**[१] में प्रयुक्त अव्यक्त, व्यक्त, महद् आदि शब्द तथा **श्वेताश्वतर उपनिषद्**[२] में प्रयुक्त "सांख्य" "कपिल" आदि शब्द निश्चय ही सांख्य दर्शन से सम्बद्ध हैं। डॉ०बेवर के अनुसार सांख्य सभी भारतीय दर्शनों में प्राचीनतम है और बौद्ध दर्शन मूलतः सांख्य सिद्धान्त का एक रूप मात्र है।[३] श्री उदयवीर शास्त्री सांख्य दर्शन के उद्भावक कपिल के काल को सत्ययुग का अन्तिम चरण या त्रेता युग का प्रारम्भ स्वीकार करते हैं तथा अपने मत की पुष्टि के लिए **विष्णुपुराण** को उद्धृत भी करते हैं।[४]

परमर्षि कपिल

प्राचीन संस्कृत साहित्य और भारतीय परम्परा में महर्षि कपिल को आदि विद्वान् तथा सांख्य दर्शन का प्रवर्तक माना गया है। प्राचीन संस्कृत साहित्य में महर्षि कपिल का अनेकशः उल्लेख हुआ है। सर्वप्रथम **श्वेताश्वतर उपनिषद्** के एक मन्त्र में इनका उल्लेख किया गया है।[५] **भगवद्गीता** में भी भगवान् श्रीकृष्ण द्वारा कपिल के बारे में कहा गया है।[६]

महाभारत,[७] **विष्णुपुराण**,[८] **भागवत**,[९] तथा **गरुड़पुराण**[१०] आदि प्राचीन ग्रन्थ भी महर्षि कपिल को सिद्ध श्रेष्ठ और सांख्य दर्शन का प्रथम उपदेष्टा मानते

---

१. कठ०उप०, १/३/११।

२. श्वेता०उप०, ६/१३, ५/२।

३. गोर्वे, भूमिका, पृष्ठ-२।

४. सां०द०, पृष्ठ-४२।

५. "ऋषिं प्रसूतं कपिलं यस्तमग्रे ज्ञानैर्बिभर्ति जयमानं च पश्येत्"
–श्वेताश्वतर उपनिषद्, ५/२।

६. अश्वत्थः सर्ववृक्षाणां देवर्षीणां च नारदः ।
गन्धर्वाणां चित्ररथः सिद्धानां कपिलो मुनिः ।। –गीता, १०/२६।

७. महाभारत, १२/३३९/६८ तथा १२/३४९/६५।

८. वि०पु०, २/१४/९।

९. भाग०पु०, १/३/१०।

१०. गरुड़ पुराण, १/१/१८।

हैं। शंकराचार्य भी सांख्यशास्त्र को कापिलशास्त्र मानते हैं।[१] परन्तु इन्हें सगर के ६० हजार पुत्रों को भस्म करने वाले वासुदेव नामक वैदिक कपिल से भिन्न बताया है।[२] गार्वे ने भी कपिल के विषय में कहा है कि सांख्य के उपदेष्टा कपिल किसी एक कल्प में ब्रह्मा या हिरण्यगर्भ के पुत्र, किसी दूसरे में अग्नि के अवतार तथा किसी और कल्प में कर्दम और देवहूति के पुत्र भी हो सकते हैं।

उपरोक्त बात वाल्मीकि[३] **रामायण** में भी विस्तारपूर्वक वर्णित है कि, सगर-पुत्रों के यह कहने पर कि कपिल ने घोड़ा चुराया, सुनकर महर्षि कपिल क्रोधाविष्ट हुए और उन्होंने सबको भस्म कर दिया। **रामायण, महाभारत** के समान उपर्युक्त घटना का उल्लेख **विष्णुपुराण, वायुपुराण, पद्मपुराण, स्कन्दपुराण, गरुड़पुराण,** और **मत्स्यपुराण** में भी उपलब्ध होता है।[४] सांख्याचार्य कपिल मुनि के प्रशिष्य पञ्चशिखाचार्य ने भी कहा है कि सृष्टि के आदि में विष्णुरूप भगवान् ने योगबल से एक चित्त का निर्माण किया, और स्वयं एक अंश से उसमें प्रवेश कर कपिलरूप को धारण कर महर्षि कपिल के रूप में करुणा से युक्त होकर परमतत्त्व की जिज्ञासा करने वाले अपने प्रियशिष्य "आसुरि" को सांख्य दर्शन के तत्त्वों का उपेदश दिया।

इस प्रकार कपिल का उल्लेख अन्य प्राचीन साहित्य में भी देखने को मिलता है। जैसे प्रह्लाद-पुत्र असुर कपिल,[५] धर्मसूत्रकार कपिल,[६] उपपुराणकार कपिल,[७] और विश्वामित्र-पुत्र कपिल,[८] परन्तु इनमें से कोई भी सांख्य के प्रवर्तक नहीं हैं, केवल देवहूति **कर्दम प्रजापति** के पुत्र भगवान् कपिल ही सांख्य के प्रवर्तक हैं।

सांख्य विचारधारा में कपिल के बारे में अनेक भिन्न मत प्राप्त हाने के कारण कपिल को सांख्य दर्शन का प्रवर्तक मानने पर कुछ आधुनिक विद्वान् इन्हें ऐतिहासिक

---

१. गीता, शांक०, १८/१९।

२. ब्रह्मसूत्र पर शांकरभाष्य, २/१/१।

३. वा०रामायण, बालकाण्ड सर्ग ४०, श्लोक २५-३०।

४. वि०पु०, ४/४/१०-१३, २/३/४९, २/१४/७,९; वा०पु०, ८८/१४५/१४८; प०पु०, ८/१४७; स्क०पु०, १७५/२११।

५. बौद्धायन धर्मसूत्र, २/६/३०।

६. कपिलस्मृति।

७. कपिलस्मृति,
शैव सम्प्रदाय की सूत्र संहिता १/१२-१४; कूर्मपुराण, १/१९।

८. महाभारत, अनुशासनपर्व, ७/५६।

व्यक्ति मानने के पक्ष में नहीं है। कीथ, कोलब्रुक, जैकोबी तथा मैक्समूलर आदि प्रसिद्ध दार्शनिक इन विचारों में अग्रणी हैं। महामहोपाध्याय गोपीनाथ कविराज ने भी कहा है कि कपिल मुनि चित्तविहीन थे, अतः वे मनुष्य शरीर में पृथ्वी पर कभी भी वर्तमान नहीं थे। उन्होंने केवल जिज्ञासु आसुरि को सांख्य-तन्त्र का उपदेश देने मात्र के लिए योगबल से चित्त का निर्माण कर लिया था।[१] इस विचार का खण्डन करते हुए महान् दार्शनिक विज्ञानभिक्षु ने तो स्पष्ट कहा है कि "सर्ग के आदि में आदि विद्वान् स्वयम्भू के रूप में उत्पन्न विष्णु ने ही योगबल से स्वनिर्मित चित्त में अंशतः प्रविष्ट होकर कपिल नाम से जिज्ञासु आसुरि को तत्त्व का उपेदश दिया था।[२] पर शरीर बिना हुए निर्माण-चित्त का अधिष्ठान (आधार) क्या रहा होगा और तब उनका उपदेश देना कैसे सम्भव हुआ होगा? इससे तो यही सिद्ध होता है कि कपिल को काल्पनिक मानना उचित नहीं है। उदयवीर शास्त्री भी कविराज के मत से सहमत नहीं हैं।[३] राधाकृष्णन् भी कपिल को ऐतिहासिक पुरुष मानते हैं। उनकी मान्यता है कि कपिल नामक एक व्यक्ति अवश्य था, जो सांख्य वाङ्मय के लिए उत्तरदायी है।[४]

कपिल का समय

अनेक दार्शनिकों के भिन्न-भिन्न विचार होने के कारण इनके सही समय का निर्धारण करना अति दुरुह प्रतीत होता है लेकिन अनेक प्राचीन ग्रन्थों जैसे— **कठोपनिषद्**[५] और **श्वेताश्वतर**[६] उपनिषद् में सांख्य वाङ्मय दृष्टिगोचर होता है। श्वेताश्वतर में तो एक स्थान पर सांख्य-प्रवर्तक कपिल के नाम का स्पष्ट उल्लेख है।[७] महर्षि कपिल के समय का साधक एक उल्लेख पांचरात्र सम्प्रदाय की **अहिर्बुध्न्य संहिता**[८] में भी पाया जाता है। इसके आधार पर कपिल का समय सत्ययुग के

१. जप० (भूमिका), पृष्ठ-३।

२. "आदिविद्वान् स्वयंभूः सर्गादावाविर्भूतो विष्णुर्निर्माणचित्तं योगबलेन स्वनिर्मितं चित्तमधिष्ठाय स्वांशेन प्रविश्य कपिलाख्यपरमर्षिर्भूत्वा कारुण्याज्जिज्ञासव आसुरये तत्त्वं प्रोवाच।" – योगवा०, १/२५।

३. सां०द०इ०, पृष्ठ २५।

४. भा०द०, खण्ड-२, पृष्ठ-२५३।

५. कठ०उ०, १/३/१०-११।

६. श्वेता०उप०, ६/१३।

७. वहीं, ५/२।

८. अहिर्बुध्न्य संहिता अध्याय ११, श्लोक ५०-५४।

अन्त तथा त्रेता के आरम्भ में होना चाहिए। इस बात का समर्थन **रामायण** से भी होता है। **विष्णुपुराण**[१] से भी कपिल का जन्म सत्ययुग में सिद्ध होता है। विण्टरनित्ज[२] के अनुसार इनका उदय बुद्ध के समय से पहले हो चुका था। इस मत का समर्थन **महाभारत** और **गीता** में भी देखने को मिलता है। अतः इससे प्रतीत होता है कि महर्षि कपिल का समय बुद्ध के समय से पहले रहा होगा। राधाकृष्णन् भी कपिल का समय बुद्ध से पहले मानते हैं।[३]

महामहोपाध्याय कालीपद भट्टाचार्य ने **सांख्यकारिका** तथा उसकी व्याख्या **माठरवृत्ति, गौडपादभाष्य, जयमंगला** तथा **षड्दर्शनसमुच्चय** के आधार पर महर्षि कपिल और ईश्वरकृष्ण के बीच में २५ शिष्यों को ३०-३० वर्ष का समय देकर कपिल के समय का निर्धारण ७००ई०पू० के लगभग निश्चय किया है।[४] लेकिन इनके आधार पर भी कपिल के समय का निर्धारण उचित प्रतीत नहीं होता है। कपिल की प्राचीनता को अवश्य स्वीकार किया गया है, परन्तु उनके काल का सही निर्धारण करने में दार्शनिकों में बहुत मतभेद है।

सांख्य-प्रवर्तक कपिल की कृति

महर्षि कपिल की वास्तविकता का संक्षेप में विचार करने के बाद एक प्रश्न सामने आता है कि कपिल ने आसुरि को सांख्यशास्त्र का जो ज्ञान दिया, वह किस नाम से प्रसिद्ध हुआ? प्रमाण के अभाव में आज इन प्रश्नों का प्रामाणिक उत्तर देना असम्भव है, फिर भी इसका प्रयास अतिआवश्यक है।

सर्व प्रसिद्ध **पञ्चशिख-सूत्र** में कपिल के उपदेश के लिए "तन्त्र" शब्द का प्रयोग हुआ है।[५] इस आधार पर ६९वीं **सांख्यकारिका** के प्राचीन लेखक ईश्वरकृष्ण ने लिखा है— "पुरुषार्थज्ञानमिदं गुह्यं परमर्षिणा समाख्यातम्।" जिसका आशय है कि पुरुषार्थ अपवर्ग को सिद्ध करने वाला अत्यन्त गुह्य यह ज्ञान, सांख्यशास्त्र महर्षि द्वारा कहा गया है। इसी ज्ञान को ईश्वरकृष्ण ने तन्त्र कहा है। ७०वीं कारिका में भी यह कहा गया है कि कपिल मुनि ने इस तन्त्र को असुरि को दिया, आसुरि

---

१. वि०पु०, ३/२, ५४।

२. ए हिस्ट्री ऑफ इण्डियन लिटरेचर, पृष्ठ-२३४।

३. भा०द०, खण्ड-२, पृष्ठ-२५३।

४. स०सां०सां०, पृष्ठ १०-११।

५. "आदिविद्वान् निर्माणचित्तमधिष्ठाय कारुण्याद्भगवान् परमर्षिरासुरये जिज्ञासमनाय तन्त्रं प्रोवाच।"

ने पञ्चशिख को, पञ्चशिख ने इसका अधिक विस्तार किया। इससे यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि शिष्य-परम्परा से प्राप्त ज्ञान, **षष्टितन्त्र** नामक ग्रन्थ के ही मुख्य विषय हैं, अत: सांख्य शास्त्र के प्रथम प्रवर्तक कपिल थे और उनके द्वारा रचित ग्रन्थ **षष्टितन्त्र** था जो कि ''तन्त्र'' नाम से जाना जाता था। शंकराचार्य ने भी **षष्टितन्त्र** को कपिल-प्रणीत माना है।[१]

तत्त्व-समास की **सर्वोपकारिणी** नामक टीका से ज्ञात होता है कि **तत्त्वसमास** और **सांख्यप्रवचन सूत्र–** दोनों सूत्र-ग्रन्थों के कर्ता दो कपिल थे। परन्तु विज्ञानभिक्षु के **सांख्यप्रवचन-भाष्य** में दोनों ग्रन्थों के रचयिता एक ही कपिल को माना है, परन्तु कुछ दार्शनिक इनके विचारों से पूर्ण रूप से सहमत नहीं हैं। इनका कोई ध्यान न देते हुए **सांख्यसूत्र** के व्याख्याकार अनिरुद्ध, विज्ञानभिक्षु तथा महादेव वेदान्ती आदि दार्शनिकों ने **सांख्यसूत्र** को कपिल-प्रणीत मानकर उन पर व्याख्या प्रस्तुत की है।

कपिलकृत **षष्ठितन्त्र** पर भी बहुत से दार्शनिकों में मतभेद है। उदयवीर शास्त्री[२] एवं आद्याप्रसाद मिश्र[३] का यह विचार है कि **सांख्यसूत्र** में ही **षष्टितन्त्र** का सार विद्यमान है। किन्तु रामसुरेश पाण्डेय[४] **तत्त्वसमास** को ही **षष्टितन्त्र** मानते हैं। राधाकृष्णन् **सांख्यसूत्र** पर किसी प्राचीन भाष्य के न होने के कारण इसे चतुर्दश शताब्दी के लगभग की रचना मानते हैं।

आसुरि

आसुरि कपिल के शिष्य तथा प्रथित आचार्य पञ्चशिख के गुरु थे। हरिभद्र सूरि के समय से कई शताब्दी पूर्व के **महाभारत**[५] में भी आसुरि को पञ्चशिख का गुरु कहा गया है। **माठरवृत्ति**[६] में भी आसुरि को कपिलाचार्य का शिष्य कहा गया है। इससे प्रतीत होता है कि आसुरि एक ऐतिहासिक व्यक्ति थे।

---

१. ब्र०सू०शां०भा०, २/१/१।

२. सां०द०इ०, पृष्ठ-१०४।

३. सां०ऐ०प०, पृष्ठ-८८।

४. म०पु०सां०, पृष्ठ-७६।

५. द्रष्टव्य, शान्तिपर्व, अ०९। २१८ – आसुरेः प्रथमं शिष्यं तमाहुश्चिरजीविनम्।

६. द्रष्टव्य, माठरवृत्ति, चौखम्भा संस्कृत सिरीज प्रकाशन, पृष्ठ-२,

आसुरि की ऐतिहासिकता के विषय में मतभेद है। कीथ[1] ने कपिल के साथ-साथ आसुरि की भी ऐतिहासिकता को स्वीकार करने से इन्कार किया है। रिचर्ड गार्वे[2] ने कीथ की भाँति आसुरि की ऐतिहासिकता को सीधे-सीधे तो नहीं अस्वीकार किया है, तथापि उनके आसुरि-विषयक कथन का विशेष झुकाव उधर ही कहा जा सकता है। परन्तु उदयवीर शास्त्री[3] कहते हैं कि ''कपिलमुनि जिस ब्राह्मण-विशेष को अधिकारी समझ कर उपदेश देने गये वह ''आसुरि'' गोत्र का था। इस सारी परम्परा के विपरीत उन्हें अवास्तविक मानना अनुचित है।

आसुरि की कोई कृति आज उपलब्ध नहीं है, तथापि जैन आचार्य हरिभद्रसूरि के **षड्दर्शनसमुच्चय** नामक ग्रन्थ में आसुरि के नाम एक श्लोक उद्धृत हुआ है, जो इस प्रकार है—

विविक्ते दृक्परिणतौ बुद्धौ भोगोऽस्य कथ्यते।
प्रतिबिम्बोदयः स्वच्छे यथा चन्द्रमसोऽम्भसि ।।

इस प्रकार आसुरि का एकमात्र श्लोक उपलब्ध है।

पञ्चशिख

आसुरि के शिष्य प्रसिद्ध आचार्य पञ्चशिख थे, जिन्होंने आसुरि से प्राप्त ज्ञान-सम्प्रदाय को अपनी उत्कृष्ट मेधा और बुद्धि से अधिक विस्तृत और विकसित किया।[4] **महाभारत** में पञ्चशिख को ''पाञ्चरात्रविशारद'' कहा गया है। सांख्य के आचार्य को इस नाम से इसलिए विभूषित किया गया कि वे वेदों के यज्ञादि कर्म को श्रेयः-साधन और इसलिए करणीय मानते हुए भी उसकी अपेक्षा अहिंसा को ही ज्ञान-प्राप्ति के द्वारा मोक्ष-प्राप्ति में सर्वाधिक हितकर और अनिवार्य मानते थे। इसलिए आगे चलकर सांख्य में भी यही सिद्धान्त सर्वमान्य हुआ।

महाभारत के अनुसार पञ्चशिख पराशर गोत्र में उत्पन्न हुए थे।[5] उनकी माता कपिला नाम की ब्राह्मणी थी। इनका पञ्चशिख नाम इस कारण से पड़ा था कि वे अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय— इन पञ्चपुरुषों के शिख-स्वरूप,

---

१. सांख्य सिस्टम, पृष्ठ ४७-४८।

२. सांख्य ऐण्ड योग, पृष्ठ २-३।

३. अन्य प्राचीन सांख्याचार्य, पृष्ठ ४७४।

४. सांख्यका०, ७०।

५. पराशरसगोत्रस्य बुद्धस्य सुमहात्मनः ।
भिक्षोः पञ्चशिखस्याहं शिष्यः परमसम्मतः।।–महाभारत,शान्तिपर्व,३२०/२४।

पुच्छ-रूप, सर्वश्रेष्ठ ब्रह्म के ज्ञाता थे। **योगभाष्य** में व्यास ने तथा **सांख्यतत्त्व-कौमुदी** में वाचस्पति मिश्र ने पञ्चशिख का सर्वप्रसिद्ध वचन "स्यात् स्वल्पः सङ्करः, सपरिहारः सप्रत्यवमर्षः कुशलस्य नापकर्षायालम् । कस्मात् ? कुशलं हि मे बह्वन्यदस्ति यत्रायमावापं गतः स्वर्गेऽप्यपकर्षमल्पं करिष्यति" उद्धृत किया है। इस वचन से पञ्चशिख का हिंसाविषयक मत ज्ञात होता है।

यद्यपि आसुरि की ही भाँति आचार्य पञ्चशिख का लिखा कोई ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है तथापि उसके सिद्धान्तों एवं विशिष्ट मतों के उद्धरण सांख्य-योग के प्राचीन ग्रन्थों में उपलब्ध होते हैं, जो **पञ्चशिखसूत्र** कहे जाते हैं।[1] वाचस्पति मिश्र ने इन्हीं वाक्यों को पञ्चशिख का वचन कहा है, तो विज्ञानभिक्षु तथा अन्य टीकाकारों ने इन वाक्यों को पञ्चशिख की रचना माना है। इन सभी उद्धरणों तथा **महाभारत** में उपलब्ध पञ्चशिख के उपदेशों से ज्ञात होता है कि वे ब्रह्म को परमतत्त्व तथा प्रकृति और पुरुष की स्वतन्त्रता को सापेक्ष मानते थे। राधाकृष्णन् भी **महाभारत** में प्राप्त होने वाले पञ्चशिख के उपदेशों के अध्ययन से इसी निष्कर्ष पर पहुँचे थे।[2]

चीन देश की परम्परा के अनुसार पञ्चशिख ने **षष्टितन्त्र** की रचना की थी, किन्तु भारतीय विद्वानों को यह मान्य नहीं है। वाचस्पति मिश्र[3] तो **षष्टितन्त्र** का विषय योगशास्त्र कहते हैं और उसका प्रेरणा वार्षगण्य को मानते हैं। लेकिन राम अवतार शर्मा पञ्चशिख को आसुरि का शिष्य बताते हैं और उसी को **षष्टितन्त्र** का

१क. एकमेव दर्शनं ख्यातिरेव दर्शनम् । -योगभाष्य, १/४।

ख. आदिविद्वान् निर्माणचित्तमधिष्ठाय कारुण्याद् भगवान् परमर्षिरासुरये जिज्ञासमानाय तन्त्रं प्रोवाच । -वहीं, १/२५।

ग. तमणुमात्रमात्मानमनुविद्यास्मीत्येवं तावत् सम्प्रजानीते । -वहीं, १/३६।

घ. व्यक्तमव्यक्तं वा तत्त्वमात्मत्वेनाभिप्रतीत्य तस्य सम्पदमनुनन्दत्यात्मसम्पदं मन्वानस्तस्य व्यापदमनुशोचत्यात्मव्यापदं मन्यमानः स सर्वः प्रतिबुद्धः ।
-वहीं, २/५।

ङ. अपरिणामिनी हि भोक्तृशक्तिरप्रतिसंक्रमा च परिणामिन्यर्थे प्रतिसङ्क्रान्तेव तद्वृत्तिमनुपतति तस्याश्च प्राप्तचैतन्योपग्रहरूपाया बुद्धिवृत्तेरनुकारमात्रतया बुद्धिवृत्त्यविशिष्टा हि ज्ञानवृत्तिरित्याख्यायते। -वहीं, २/२०।

२. भा०द०, खण्ड-२, पृष्ठ-२५१।

३. तत्त्ववैशारदी, यो०सू०, ४/१३।

रचयिता कहते हैं। कीथ[१] भी पञ्चशिख के बारे में सन्देह व्यक्त करते हैं। इस प्रकार इन दार्शनिकों का पञ्चशिख के विषय में भ्रम दृष्टिगत होता है, किन्तु **महाभारत** के शान्तिपर्व[२] में पञ्चशिख और जनक संवाद से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि सांख्याचार्य पञ्चशिख और **महाभारत** का पञ्चशिख एक ही व्यक्ति है।

जैगीषव्य

महर्षि जैगीषव्य परमयोगी एवं प्रसिद्ध सांख्योपदेशक रूप में **महाभारत** में एक से अधिक स्थल पर उल्लिखित हैं। जैगीषव्य ने असितदेवल के सम्मुख अपनी योग-सिद्धि का प्रदर्शन किया था और रुद्र तथा उमा को भी छकाया था।[३] देवल ने सांख्य-ज्ञान जैगीषव्य से ही प्राप्त किया था। कीथ ने लिखा है कि **कूर्मपुराण** के वर्णन के अनुसार जैगीषव्य पञ्चशिख के सहाध्यायी थे। जैगीषव्य की कोई अपनी कृति थी, जिसमें उन्होंने प्रत्याहार; धारणा, ध्यान आदि योग-विषयों को स्पष्ट किया था।[४] योग एवं उसके साधन आदि के सम्बन्ध में जैगीषव्य का मत प्रामाणिक माना जाता है।

वार्षगण्य

याज्ञवल्क्य-जनक-संवाद में अन्य प्राचीन आचार्यों के साथ वार्षगण्य का भी उल्लेख हुआ है।[५] इनका नाम **महाभारत** की सांख्याचार्यों की सूची में भी प्राप्त होता है। **सांख्यकारिका** की **युक्तिदीपिका** नामक टीका में भी अन्य सांख्याचार्यों के साथ आचार्य वार्षगण्य का उल्लेख है। उदयवीर शास्त्री के अनुसार वार्षगण्य नाम वृषगण गोत्र में उत्पन्न होने के कारण है। नाथूराम प्रेमी ने लिखा है कि "वार्षगण्य सांख्यकारिका के कर्ता ईश्वरकृष्ण का दूसरा नाम है।"[६] शास्त्रीजी ने इस बात का खण्डन करते हुए कहा है कि ईश्वरकृष्ण और वार्षगण्य अलग-अलग सिद्धान्त को मानते हैं। ईश्वरकृष्ण का काल ई० शतक प्रारम्भ होने के पूर्व होने का अनुमान किया जाता है। वार्षगण्य का समय पाणिनि से प्राचीन है, सम्भवतः भारत युद्ध-काल से भी।[७] अतः वार्षगण्य तथा ईश्वरकृष्ण को एक व्यक्ति नहीं माना जा सकता।

---

१. सांख्य सिस्टम, पृष्ठ-४८।

२. महाभारत, शान्तिपर्व, २२०, २२, ३२४।

३. वहीं,

४. न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका, वाचस्पति मिश्र, ३/२/४२।

५. द्रष्टव्य, महाभारत, शान्तिपर्व, ३१८/५९।

६. प्रेमी नाथूराम, जैन साहित्य और इतिहास, पृष्ठ-११८।

७. सांख्यदर्शन का इतिहास, पृष्ठ-५०७।

वार्षगण्य का कोई ग्रन्थ आज उपलब्ध नहीं है, किन्तु उनके अनेक वाक्य **योगभाष्य,**[१] **तत्त्वकौमुदी,**[२] **भामती,**[३] तथा **युक्तिदीपिका**[४] में उपलब्ध हैं।

विन्ध्यवास

इन्हें विन्ध्यवास या विन्ध्यवासी दोनों कहा जाता है। ये ईश्वरकृष्ण के परवर्ती आचार्य हैं। प्रसिद्ध दार्शनिक लोकमान्य तिलक, तकाकुसु, कीथ आदि ने विन्ध्यवासी को नन्दकालीन वैयाकरण व्याडि से अभिन्न मानते हुए ईश्वरकृष्ण से पूर्ववर्ती बताया है।[५] विन्ध्यवासी के कुछ मुख्य सिद्धान्त **मनुस्मृति** के मेधातिथिभाष्य,[६] **श्लोकवार्तिक,**[७] **युक्तिदीपिका,**[८] **भोजवृत्ति,**[९] **स्याद्वादमंजरी** की हेमचन्द्रकृत टीका,[१०] **तर्करहस्यदीपिका**[११] में उद्धृत हैं।

देवल

महाभारतीय वचनों से स्पष्ट है कि देवल नाम के प्रसिद्ध आचार्य शान्तिपर्व के रचनाकाल से बहुत पूर्व हो चुके थे और परमयोगी भगवान् जैगीषव्य के साथ उनका संवाद भी हुआ था। देवल भी शाण्डिल्य गोत्र के थे।[१२] असित ऋषि उनके पिता थे। उनके सांख्याचार्य होने का समर्थन नारद-देवल संवाद से होता है। महाभारत के शान्तिपर्व से पूर्व देवल की स्थिति थी। इससे देवल की ऐतिहासिकता सिद्ध होती है। देवल का अन्य उल्लेख परवर्ती साहित्य में यत्र-तत्र मिलते हैं। **याज्ञवल्क्यस्मृति** की अपरादित्य व्याख्या में देवल का सांख्ययोग-विषयक सन्दर्भ उद्धृत है।[१३]

---

१. योगभा०, ३/५३।

२. तत्त्वकौ०, ४७।

३. भामती, २/१/३।

४. युक्ति०, ५,१७,२२,३२,४०।

५. शर्मा, तनुसुखराम, माठरवृत्ति, पृष्ठ-३, १६-२५।

६. मेधा०, १/५५।

७. श्लो०वा०, ५/६२।

८. युक्ति०, २२।

९. भोज०, ४/२२।

१०. स्याद०,हेम०, १५।

११. तर्कर०, ४१।

१२. भट्ट कमलाकर, निर्णयसिन्धु, पृष्ठ-३८६।

१३. याज्ञ०अप०, ३/४/१०९।

ईश्वरकृष्ण

ईश्वरकृष्ण सांख्य के मूल प्रवर्तक कपिल द्वारा प्रचलित एवं आसुरि पञ्चशिख आदि द्वारा संवर्धित मुख्य सांख्यीय विचारधारा के अनुयायी थे। ईश्वर कृष्ण का समय कुषाणकाल अर्थात् ईसवी प्रथम शतक के अन्त से पर्याप्त पूर्व सिद्ध होता है। गोपीनाथ कविराज, उदयवीर शास्त्री तथा अन्य अनेक विद्वानों के अनुसार ईश्वरकृष्ण का **''सांख्यसप्तति''** या **''सांख्यकारिका''** नामक ग्रन्थ है।

सांख्यकारिका नाम से आभास होता है कि यह सांख्यदर्शन का सर्वप्रथम ग्रन्थ नहीं हो सकता। स्वयं सांख्यकारिकाकार ने भी कहा है कि इसमें **षष्टितन्त्र** के **केवल सिद्धान्तों** को ग्रहण किया गया है और आख्यायिकाओं तथा परमत-खण्डन को छोड़ दिया गया है।[१] ६८ कारिकाओं में ही सांख्य-सिद्धान्त-विषयक सामग्री उपलब्ध है। ईश्वरकृष्ण ने शिष्य-परम्परा से प्राप्त हुए सांख्यशास्त्र को ७० कारिकाओं में संक्षिप्त करके रखा था।

अन्य प्राचीन आचार्य

माठरवृत्ति से चार अन्य आचार्यों के नाम प्राप्त होते हैं यथा भार्गव, उलूक, वाल्मीकि एवं हारित।[२] **महाभारत** के याज्ञवल्क्य-जनक संवाद[३] में अन्य प्राचीन सांख्याचार्यों के नाम हैं यथा असित, परासर, भृगु, शुक्र, गौतम, आष्टिषेण, गर्ग, नारद, पुलस्त्य, सनत्कुमार, कश्यप तथा रुद्र। इन आचार्यों के विषय में कुछ विशेष ज्ञात न होने के कारण इसका पृथक् विवरण नहीं दिया गया है। **सांख्यकारिका** की **युक्तिदीपिका** टीका में पौरिक,[४] पंचाधिकरण,[५] एवं पतंजलि[६] आदि प्राचीन सांख्याचार्यों के वाक्य उद्धृत मिलते हैं, इनके अतिरिक्त बद्धलि, ऋषभेश्वर, कौण्डिन्य एवं मूक आदि आचार्यों के नाम भी प्राप्त होते हैं।

सांख्यकारिका के टीकाकार

प्राचीन ग्रन्थों में ईश्वरकृष्ण की सांख्यकारिका जितनी प्रचलित हुई, उतना अन्य कोई ग्रन्थ नहीं। इसका कारण है कि ये कारिकाएँ सूत्रवत्, सारगर्भित एवं अत्यन्त

---

१. सांख्यका०, ७२।

२. माठ०, ७१।

३. महाभारत, १२/३१८/५९।

४. युक्ति०, ५६।

५. वहीं, २२, ३२, ३९।

६. वहीं, ३, २२, ३२।

मूल्यवती मानी जाती हैं। इससे प्रभावित होकर अनेक प्राचीन और आधुनिक विद्वानों ने टीकाएँ लिखी हैं जिनमें **युक्तिदीपिका, गौडपादभाष्य, जयमंगला, तत्त्वकौमुदी** इत्यादि तथा नारायणकृत **सांख्यचन्द्रिका** जैसी अपेक्षाकृत अर्वाचीन टीकाएँ भी हैं।

सुवर्णसप्ततिशास्त्रकार

सांख्यकारिका की सर्वाधिक प्राचीन टीका **सुवर्णसप्ततिशास्त्र** का अनुवाद उज्जयिनी के बौद्ध भिक्षु परमार्थ ने सन् ५५७ से ५६९ के बीच चीनी भाषा में किया था। यह ग्रन्थ छठीं शताब्दी के मध्य के पर्याप्त पूर्व लिखा गया होगा। इसके लेखक को लेकर अनेक दार्शनिकों में मतभेद है। लोकमान्य तिलक **सुवर्णसप्ततिशास्त्र** को **गौडपादभाष्य** की उपज मानते हैं तो बेल्वल्कर[१] तथा उदयवीर शास्त्री[२] **माठरवृत्ति** की।

माठरवृत्तिकार

माठरवृत्तिकार के समय के सम्बन्ध में विद्वानों में पर्याप्त मतभेद है। वेल्वल्कर,[३] आयास्वामी,[४] एवं महामहोपाध्याय उमेश मिश्र,[५] ने **माठरवृत्ति** का समय १०००ई० के आसपास माना है। जानसन[६] ने भी लगभग यही बात कही है। उदयवीर शास्त्री **माठरवृत्ति** का समय ईसवी सन् का प्रारम्भ मानते हैं।[७]

युक्तिदीपिकाकार

सांख्यदर्शन में **युक्तिदीपिका** का योगदान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। युक्तिदीपिकाकार जयमंगलाकार से प्राचीन तथा माठर और जयमङ्गलाकार के बीच की महत्त्वपूर्ण कड़ी है। युक्तिदीपिकाकार ने सांख्य के विविध विकास की अनेक टूटी कड़ियों को अपने व्याख्या-ग्रन्थों में पुनः प्रस्तुत किया। वार्षगण्य, सांख्याचार्य

---

१. सुवर्ण०, भूमिका, -पृष्ठ-१०।

२. सां०द०ई०, पृष्ठ-४६७।

३. भण्डारकर-स्मारक ग्रन्थ, पृष्ठ-१७२।

४. सुवर्ण-सप्ततिशास्त्र की भूमिका, पृष्ठ-६०।

५. आल इण्डिया ओरियण्टल कान्फरेन्स के छठे अधिवेशन में पठित "गौडपाद भाष्य एवं माठरवृत्ति" नामक लेख।

६. अर्ली सांख्य, पृष्ठ-११।

७. सां०द०इ०, पृष्ठ-४७३।

पतञ्जलि, पौरिक, पञ्चाधिकरण, विन्ध्यवासी आदि सांख्य दार्शनिकों के विस्मृत मतों को पुन: प्रकाशित किया।

युक्तिदीपिका का इतना महत्त्व होते हुए भी, सभी दार्शनिकों के समक्ष इसके समय और रचयिता का विषय विवादास्पद है। **युक्तिदीपिका** को वाचस्पति मिश्र[१] के समय से पहले माना जाता है, इसलिए इसे नवम शताब्दी के पहले का होना चाहिए। **युक्तिदीपिका** में कुमारिल के **श्लोकवार्तिक** और **तन्त्रवार्तिक, भर्तृहरि** के वाक्यपदीय तथा उद्योतकर के **न्यायवार्तिक** आदि प्राचीन ग्रन्थों से एक भी उद्धरण नहीं प्राप्त होता, जबकि शबर, दिङ्नाग,[२] वसुबन्धु के अनेक उद्धरण प्राप्त होते हैं। अत: ऐसा प्रतीत होता है कि इसका समय पंचम शताब्दी के आस-पास रहा होगा।

आचार्य गौड़पाद

सांख्यकारिका के तीसरे प्राचीन टीकाकार आचार्य गौड़पाद हैं। इनकी प्रसिद्ध टीका **गौड़पादभाष्य** है। उदयवीर शास्त्री इनका समय ५५०ई० निर्धारित करते हैं।[३] कालीपद भट्टाचार्य गौड़पाद का समय सातवीं शताब्दी मानते हैं।[४] लोकमान्य तिलक का मत है कि **गौड़पादभाष्य** प्रसिद्ध गौड़पाद (शंकराचार्य के परमगुरु) की ही कृति है।[५]

जयमंगलाकार

सांख्यकारिका की प्राचीन टीकाओं में **जयमंगला** भी एक है। यह शंकराचार्य के नाम से प्रचलित है। वाचस्पति मिश्र ने **सांख्य-तत्त्वकौमुदी** में **जयमंगला** का कई स्थलों पर उपयोग किया है।[६] इसलिए **जयमंगला** का समय नवम शताब्दी के आस-पास रहा होगा।

---

१. सां०द०इ०, पृष्ठ-४०५।

२. युक्ति०, १७।

३. सां०द०इ०, पृष्ठ-४७३।

४. सम प्राब्लम्स ऑफ सांख्य फिलासफी एण्ड सांख्य लिटरेचर, इण्डियन हिस्टारिकल क्वार्टरली, सितम्बर, १९३२, पृष्ठ-५०९।

५. गीतारहस्य, पृष्ठ-१५३।

६. तत्त्वकौ०, ११,२२,३०,४४,५१।

वाचस्पति मिश्र

वाचस्पति मिश्र समस्त दर्शन शास्त्रों में निष्णात थे, इसीलिए भारतीय पण्डित समाज उन्हें "द्वादश-दर्शन-पंचानन" कहकर उनके प्रति अपना असीम श्रद्धा-भाव एवं समादर प्रकट करता है। इनका जन्म मिथिला में हुआ था।

सांख्यकारिका की उपर्युक्त सभी टीकाएँ अपना कुछ न कुछ वैशिष्ट्य रखती हैं, परन्तु वाचस्पति मिश्र की **तत्त्वकौमुदी** टीका सबसे महत्त्वपूर्ण है। इसकी पाण्डित्यपूर्णता को देखकर सभी दार्शनिकों ने इसे सांख्य दर्शन के बहुत ही उपयोगी ग्रन्थ के रूप में स्वीकार किया है। आधुनिक काल में इस पर अनेक टीकाएँ लिखी गयी हैं, जिनमें बलराम उदासीन की **विद्वत्तोषिणी,** पण्डितराट् वंशीधर मिश्र की बृहट्टीका **सांख्य-तत्त्व-दिवाकर,** श्रीकृष्णवल्लभाचार्य की **किरणावली,** शिवनारायणशास्त्री की **सारबोधिनी** तथा हरिराम शुक्ल की **सुषमा** अधिक प्रसिद्ध हैं।

दार्शनिकों एवं विद्वानों में इस प्रश्न को लेकर काफी मतभेद है कि सांख्य आचार्य मूलतः निरीश्वरवाद का प्रतिपादन करते थे या ईश्वरवाद का। कुछ विद्वानों के अनुसार सांख्य मूलतः निरीश्वरवादी है और इसमें ईश्वरवादी मान्यताएँ बाद में विकसित हुई हैं, किन्तु इसके विपरीत कुछ अन्य विद्वानों के अनुसार सांख्य दर्शन मूलतया ईश्वरवादी है।

निरीश्वरवादी एवं ईश्वरवादी सांख्य

सांख्य दर्शन में ईश्वर के अस्तित्व के प्रश्न पर दार्शनिकों में काफी मतभेद है। इस प्रश्न को लेकर सांख्य दार्शनिक दो पक्षों में विभक्त हो गये हैं। कुछ विद्वान् जहाँ सांख्य को ईश्वरवादी मानते हैं, वहीं कुछ विद्वान् सांख्य को निरीश्वरवादी सांख्य की संज्ञा से विभूषित करते हैं। वैसे प्रमुखतः सांख्य दर्शन निरीश्वरवादी सांख्य के रूप में ही अधिक प्रतिष्ठित है। इस दर्शन के ग्रन्थों में ईश्वर को सृष्टि के उपादान की मान्यता नहीं मिली है। यह दर्शन सृष्टि के उपादान के लिए प्रकृति और पुरुष दो तत्त्वों को प्रमुख मानता है और इन्हीं दो पुरुष और प्रकृति तत्त्वों के आपसी संसर्ग से ही सृष्टि की उत्पत्ति होती है, इस विचार का प्रतिपादन करता है। निरीश्वरवादी दार्शनिकों का यह कहना है कि सांख्य में प्रकृति स्वतः परिणामिनी है। उसे किसी चेतन की सहायता की आवश्यकता नहीं है। साम्यावस्था में प्रकृति में क्षोभ उत्पन्न कर सृष्टि को आरम्भ करने के लिए यद्यपि चेतन की आवश्यकता है, किन्तु वह चेतन उस स्थिति में भी निर्लिप्त और निष्क्रिय ही है। इस प्रकार

सांख्य दर्शन में ईश्वर को स्थान नहीं मिला है। इसलिए इस दर्शन को मुख्य रूप से "निरीश्वरवादी सांख्य" के रूप में जाना जाता है।

सांख्य दार्शनिकों का दूसरा पक्ष जो साख्य को ईश्वरवादी बताता है, उनमें मुख्य रूप से आचार्य विज्ञानभिक्षु का नाम अग्रणी है। इसके अतिरिक्त उपनिषद्, **महाभारत, गीता, मनुस्मृति** तथा पुराणों में उल्लिखित सांख्य सिद्धान्त ईश्वरवादी हैं। इन दर्शनों में ईश्वर को प्रमुख माना गया है और प्रकृति तथा पुरुष को इनके आधीन माना गया है। इसप्रकार निरीश्वरवादी और ईश्वरवादी सांख्य की विचारधारा को क्रमशः निम्न प्रकार से व्यक्त किया गया है।

सांख्य का निरीश्वरवादी विचार

सांख्य दर्शन को सर्वप्रथम वार्षगण्य ने निरीश्वरवादी सांख्य के रूप में प्रतिष्ठित किया। उनके मतानुसार प्रकृति को सृष्टि के लिए परमेश्वर की आवश्यकता नहीं है। प्रवृत्ति की दृष्टि से वे प्रकृति को सर्वथा स्वतन्त्र मानते हैं।[१] उनके मत को मानने वाले अन्य दार्शनिक भी कहते हैं कि जिस प्रकार स्त्री और पुरुष के अचेतन शरीर की एक-दूसरे को लक्ष्य करके प्रवृत्ति होती है, उसी प्रकार प्रधान की भी प्रवृत्ति होती है।[२]

ईश्वरकृष्ण की **सांख्यकारिका** में भी निरीश्वरवादी सांख्य का विचार दृष्टिगोचर होता है। बालगंगाधर तिलक भी **सांख्यकारिका** के मत को निरीश्वरवादी सांख्य मानते हैं। ईश्वरकृष्ण अचेतन प्रकृति में स्वतः प्रवृत्ति ही स्वीकार करते हैं। प्रकृति की प्रेरणा के लिए वे किसी चेतन तत्त्व की अपेक्षा स्वीकार नहीं करते।[३] **सांख्यकारिका** की टीका **युक्तिदीपिका** में भी पुरुष के मोक्ष के लिए वे प्रकृति की ही प्रवृत्ति स्वीकार करते हैं, चेतन की प्रवृत्ति नहीं।[४] आचार्य गौडपाद का भी मत है कि ईश्वर तो निर्गुण है, उससे सत्त्व आदि गुणों वाली प्रजा (सृष्टि) की सृष्टि कैसे होगी? वाचस्पति मिश्र भी प्रकृति की अचेतन प्रवृत्ति को स्वीकार करते हैं।

---

१. तथा च वार्षगणाः पठन्ति प्रधानप्रवृत्तिरप्रत्यया पुरुषेणापरिगृह्यमाणादिसर्गे वर्तन्ते। –युक्ति०, १९।

२. वार्षगणानां तु "यथा स्त्रीपुंशरीराणामचेतनानामुद्दिश्येतरेतरप्रवृत्तिस्तथा प्रधानस्येत्ययं दृष्टान्तः।" –वहीं, ५७।

३. वत्सविवृद्धिनिमित्तं क्षीरस्य यथा प्रवृत्तिरज्ञस्य ।
पुरुषविमोक्षनिमित्तं तथा प्रवृत्तिः प्रधानस्य ।। –सांख्यका० ५७।

४. तस्माद्युक्तमेतत्पुरुषविमोक्षार्था प्रकृतेः प्रवृत्तिर्न चैतन्यप्रसङ्ग इति।–युक्ति०,५७।

उनका मत है कि प्रकृति की प्रवृत्ति स्वतः होती है, ईश्वर द्वारा अधिष्ठित होने पर नहीं; क्योंकि चेतन की प्रवृत्ति या तो स्वार्थवश स्वीकार की जा सकती है अथवा करुणावश। लेकिन ये दोनों को नहीं मानते। उनकी मान्यता है कि इस जगत् की सृष्टि में भगवान् का कोई स्वार्थ नहीं हो सकता; क्योंकि वे तो आप्तकाम हैं। करुणावश भी यह सृष्टि नहीं हो सकती; क्योंकि यदि ईश्वर करुणा से सृष्टि करते तो उन्हें केवल सुखी प्राणियों की ही सृष्टि करनी चाहिए, सुख-दुःख आदि को भोगने वाले जीवों की नहीं। **सांख्यचन्द्रिका** में भी वाचस्पति मिश्र के पूर्वोक्त मत का ही अनुसरण किया गया है।[१]

अनिरुद्ध का भी मत निरीश्वरवादी है। उनके विचार से **सांख्य-सूत्र** ईश्वर की सत्ता ही अस्वीकार करते हैं।[२] इन्होंने, ईश्वर जगत् का निमित्त कारण है, न्याय दर्शन के इस विचार का खण्डन किया और कहा कि ईश्वर या तो शरीरी होगा या अशरीरी और इन दोनों ही स्थितियों में उसका कर्तृत्व असम्भव है।[३] इसलिए ईश्वर इस जगत् का स्रष्टा नहीं हो सकता। इस प्रकार अनिरुद्ध न्याय दार्शनिकों के ईश्वर-सम्बन्धी विचार के विरोधी हैं और निरीश्वरवादी सांख्य के पोषक हैं। उनकी स्पष्ट मान्यता है कि न्याय दर्शन में ईश्वरकी सिद्धि का कोई प्रमाण नहीं है।[४] इन्होंने अपने **सांख्यसूत्र** के पाँचवें अध्याय की वृत्ति में उपरोक्त बात को स्पष्ट करते हुए कहा है कि ईश्वर यदि इस जगत् का स्वतन्त्र कर्त्ता है तो यह मानना होगा कि वह जीवों के कर्मों की अपेक्षा किए बिना ही सृष्टि कर सकता है। यदि यह माना जाये कि जीवों के कर्मों के आधार पर ईश्वर सृष्टि करता है तो फिर उस सृष्टि में उसका क्या योगदान है? अतः ईश्वर का जगत्-स्रष्टा होना स्पष्ट नहीं होता।

सृष्टि में ईश्वर की प्रवृत्ति का हेतु क्या है? ऐसा प्रश्न उठता है। वस्तुतः प्रवृत्ति के दो हेतु देखे जाते हैं। स्वार्थ एवं परार्थ। सृष्टि करने में ईश्वर का कोई स्वार्थ नहीं हो सकता, इसलिए कि वह अपने में पूर्ण है। यदि यह माना जाये कि उन्होंने सृष्टि परार्थ के वश की है तो इस सृष्टि के दुःखमय होने की व्याख्या नहीं की जा सकती।[५]

---

१. सांख्य०च०, ५७।

२. पूर्वसिद्धमीश्वरासत्त्वम् इदानीं न्यायमाह। –सां०सू०अनि०, ५/२।

३. वहीं, १/९२।

४. यद्यस्मदभिमत आत्मा ईश्वरो भवेत्, भवतु न्यायाभिमते तु प्रमाणं नास्ति। –वहीं, ३/५७।

५. वहीं, ५/२।

यदि यह मान लिया जाये कि सृष्टि करने में ईश्वर स्वयं अपने को ही प्रकट करता है तो उन्हें लौकिक ईश्वर अर्थात् शक्तिमान् संसारी जीवों की ही भाँति पूर्णता, आत्मकामत्व आदि से विरहित स्वीकार करना होगा और इस दशा में वह सर्वज्ञ नहीं रह सकता।[१] प्रकृति में प्रतिबिम्बित होने पर आत्मतत्त्व (पुरुष) उसके प्रकृतिगत कर्तृत्व से युक्त होने के कारण कर्ता कहा जाता है, उस कर्ता को ही ईश्वर कहते हैं। यह मान लेने पर ईश्वर एक पारिभाषिक शब्दमात्र रह जायेगा।[२] प्रकृति के शक्ति-संयोग से भी ईश्वर में कर्तृत्व नहीं स्वीकार किया जा सकता क्योंकि प्रकृति के संयोग से उसमें सङ्ग की आपत्ति होगी तथा उसके श्रुति में प्रतिपादित असङ्गत्व की हानि होगी।[३] यह कहना भी ठीक नहीं होगा कि प्रकृति की सत्तामात्र से पुरुष में ईश्वरत्व आ जाता है, क्योंकि ऐसा कहने पर प्रकृति की सत्ता सभी पुरुषों के लिए निर्विशेष रूप से होने के कारण सभी पुरुषों के ईश्वर हो जाने का प्रसंग उपस्थित होगा।[४]

अन्य दर्शनों में ईश्वर के तर्क का खण्डन करने के साथ ही अनिरुद्ध ने कहा कि श्रुति के आधार पर भी ईश्वर की सिद्धि नहीं होती क्योंकि श्रुति में प्रधान से जगत् की उत्पत्ति स्वीकार की गयी है।[५] न्याय दर्शन में ईश्वर की सिद्धि के लिए यह तर्क दिया जाता है कि ईश्वर वेद का रचयिता है।[६] किन्तु सांख्य दार्शनिक ईश्वर को वेद का कर्ता नहीं मानते क्योंकि ईश्वर की तो सत्ता ही असिद्ध है।[७] इस प्रकार अनिरुद्ध ने सांख्य को निरीश्वरवादी सांख्य का नाम दिया।

सांख्य का ईश्वरवादी विचार

दार्शनिक आधार पर सांख्य को ईश्वरवादी मानने में विज्ञानभिक्षु का नाम विशेष रूप से अग्रणी है। उनकी यह स्पष्ट मान्यता है कि सांख्य निरीश्वरवादी नहीं है। इनके अलावा उपनिषद्, **गीता, महाभारत,** पुराण आदि ग्रन्थों में ईश्वर की सत्ता को स्वीकार किया गया है।

---

१. वहीं, ५/३-४।

२. वहीं, ५/३-४।

३. वहीं, ५/८।

४. वहीं, ५/९।

५. वहीं, ५/१२।

६. न्यायमं०, २/१/६९, न्यायकु० ५।

७. वहीं, ५/४१, ४६।

उपनिषदों की सांख्य विचारधारा पूर्ण रूप से ईश्वरवादी है। यहाँ पर ईश्वर को मुख्य तथा प्रकृति और पुरुष को गौण माना गया है। उपनिषदों के सम्बन्ध में यह धारणा है कि यह द्वैत का प्रतिपादक है। इसलिए इनका सांख्य दर्शन के साथ विशेष सम्बन्ध है; क्योंकि इनमें भी कई स्थानों पर प्रकृति और पुरुष की व्याख्या की गयी है। यहाँ पर भोक्ता जीवात्मा, भोग्य प्रकृति तथा प्रेरयिता ईश्वर है। इससे स्पष्ट होता है कि जड़ प्रकृति ईश्वर की प्रेरणा के बिना कुछ नहीं कर सकती। ईश्वर सत्त्व आदि गुणों का प्रवर्तक है।[१] उपनिषद् में कहा गया है कि जगत् का कारणभूत परमात्मा प्रत्येक वस्तु के स्वभाव को निष्पन्न करता है, परिणामयोग्य पदार्थों को परणित करता है तथा सत्त्व, रजस्, तमस् की तुलना क्रमशः विष्णु, ब्रह्मा और रुद्र से की गयी है।[३] इस प्रकार उपनिषद् में विस्तृत सांख्य के विचार से स्पष्ट होता है कि सांख्य का ईश्वर से सम्बन्ध है।

गीता में भी व्यक्त सांख्य-सम्बन्धी विचारधारा में ईश्वर का स्थान सर्वोपरि है। यहाँ पर प्रकृति तथा पुरुष को परस्पर पृथक् तथा नित्य समझने की प्रवृत्ति दृष्टिगोचर होती है तथा इन दोनों को परमतत्त्व पर आश्रित नहीं माना गया है। यहाँ प्रकृति के अधिष्ठाता या प्रेरणा के रूप में ईश्वर का वर्णन किया गया है। एक स्थान पर श्रीकृष्ण ने अर्जुन को उपदेश देते हुए कहा है कि— समस्त जगत् का मूल कारण वे स्वयं अर्थात् भगवान् हैं[४] तथा उन्हीं के माध्यम से प्रकृति चराचर जगत् को उत्पन्न करती है।[५] मेरी महत् ब्रह्म रूप प्रवृत्ति सम्पूर्ण सूत्रों की योनि अर्थात् गर्भाधान का स्थान है और मैं उसमें चेतन-रूप बीज को स्थापित करने वाला पिता हूँ और इस जड़ और चेतन के संयोग से सृष्टि होती है।[६] अतः **गीता** में उद्धृत सांख्य भी स्पष्ट रूप से ईश्वरवादी सांख्य प्रतीत होता है।

महाभारत में भी सांख्य सिद्धान्त का विस्तृत विवेचन किया गया है। यहाँ पर भी सांख्य की तरह प्रकृति, सक्रिय एवं अचेतन है तथा पुरुष, चेतन, निष्क्रिय तथा उदासीन है, किन्तु यहाँ पर पुरुष और प्रकृति को दो निरपेक्ष तथा स्वतन्त्र तत्त्व नहीं अपितु ब्रह्म के दो धर्मों के रूप में माना गया है। एक प्रसंग में महर्षि

---

१. महान् प्रभुर्वै पुरुषः सत्त्वस्यैष प्रवर्तकः । –श्वेत०उप० ३/१२।

२. वहीं, ४/११।

३. मैत्रा०उप०, ५/२।

४. अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा ।। –गीता, ७/६।

५. मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम् ।। –वहीं, ९/१०।

६. वहीं, १४/३-४।

याज्ञवल्क्य देवरातिजनक को बताते हैं कि प्रकृति अचेतन है तथा परमतत्त्व द्वारा प्रेरित होकर ही सृष्टि और संहार करती है।[१] इसी प्रकार वशिष्ठ और कराल-जनक-संवाद में भी परमात्मा द्वारा सृष्टि होने का प्रतिपादन करते हुए कहा गया है कि परमात्मा ही प्रसवात्मिका प्रकृति को नानारूपों में परिणत करते हैं।[२] **महाभारत** में भी सांख्यसम्बन्धी विचारधारा में ईश्वरवादी सांख्य का ही महत्त्व दृष्टिगोचर होता है। इस प्रकार **महाभारत** में सांख्य दर्शन का शब्दत:[३] और अर्थत: उल्लेख ईश्वरवादी है।

पुराणों में भी उद्धृत मतों के आधार पर यह स्पष्ट कहा जा सकता है कि यहाँ पर भी सांख्य को ईश्वरवादी सांख्य के रूप में ही प्रतिष्ठित किया गया है। **विष्णुपुराण** के सृष्टिप्रकरण में काल के साथ-साथ प्रधान और पुरुष को भी भगवान् विष्णु के विभिन्न रूप बतलाये गये हैं।[४] इनके अनुसार "यह समस्त कार्य अर्थात् प्रपंच प्रलय के होने से लेकर सृष्टि के आरम्भ तक इसी प्रधान से व्याप्त था। **विष्णुपुराण** के वाक्यों की व्याख्या करते हुए टीकाकार श्रीधर स्वामी कहते हैं कि "प्राधानिकं प्रधानमेव प्राधानिकं ब्रह्म पुमांश्चेति त्रयमेव तदा प्रलये आसीत्" अर्थात् प्रलयकाल में परमात्मा, प्रकृति तथा पुरुष इन तीनों का अस्तित्व था। इस पुराण में प्रधान और पुरुष को परमात्मा का आश्रित बताया गया है। जगत् की सृष्टि में परमात्मा की प्रेरणा को मुख्य कारण स्वीकार करते हुए कहा गया है कि सर्वात्मा परमेश्वर ने स्वयं अपनी इच्छा के अनुसार परिणामी प्रकृति और अपरिणामी पुरुष में प्रविष्ट होकर उनको सृष्टि कार्य के लिए क्षोभित और प्रेरित किया।[५] जिस प्रकार गन्ध क्रिया न होते हुए भी सन्निधिकाल से ही मन को सूचित कर देता है, उसी प्रकार परमेश्वर अपनी सन्निधिमात्र से ही प्रधान और पुरुष को प्रेरित करते हैं।[६] **ब्रह्मपुराण** में भी ईश्वर के द्वारा प्रधान से जगत् की सृष्टि का सिद्धान्त स्वीकार किया

---

१. महाभारत, १२/३१४/१२।

२. बहुधात्मा प्रकुर्वीत प्रकृतिं प्रसवात्मिकाम् । -वहीं, १२/३०६/३६।

३. सांख्यदर्शनमेतावदुक्तं ते नृपसत्तम । -वहीं, १२/३०७/१।

४. तदैव सर्वमेवैतद् व्यक्ताव्यक्तस्वरूपवत् ।
तथा पुरुषरूपेण कलारूपेण च स्थितम् ।। -विष्णुपुराण, १/२/१४।

५. प्रधानपुरुषौ चापि प्रविश्यात्मेच्छया हरिः ।
क्षोभयामास सम्प्राप्ते सर्गकाले व्ययाव्ययौ ।। -वहीं, १/२/२९।

६. यथा सन्निधिमात्रेण गन्धः क्षोभाय जायते ।
मनसो गोपकर्तृत्वात्तथासौ परमेश्वरः ।। -वहीं, १/२/३०।

गया।[१] अत: यहाँ भी ईश्वरवादी सांख्य है। इसके अतिरिक्त **मनुस्मृति** में भी ईश्वरवादी सांख्य दृष्टिगोचर होता है। **चरकसंहिता** में उपलब्ध सांख्य भी सेश्वर है। इसके अतिरिक्त राधाकृष्णन् **बुद्धचरित** में सांख्य को ईश्वरवादी मानते हैं।[२] उपरोक्त विचारों से सांख्य पूर्ण रूप से ईश्वरवादी माना गया है।

उपरोक्त विचारों से सहमत होकर आचार्य विज्ञानभिक्षु ने ईश्वरवादी सांख्य को दार्शनिक रूप में प्रतिष्ठित किया और निरीश्वरवादी सांख्य दर्शन को ईश्वरवादी सांख्यदर्शन का रूप देने का प्रयास किया इनके समय में सांख्यदर्शन को शुद्ध रूप से निरीश्वरवादी माना जाता था। आचार्य विज्ञानभिक्षु स्वयं ईश्वरवादी थे तथा सांख्य के पच्चीस तत्त्वों के अतिरिक्त छब्बीसवें तत्त्व ईश्वर को वे स्वीकार करते हैं।[३] इनका मत है कि सांख्यदर्शन में कहीं भी ईश्वरवाद की निन्दा नहीं है।[४] उनका मत है कि आस्तिक दर्शनों में भी अंशत: श्रुतिविरोधी निरीश्वरवाद आदि का निरूपण इसलिए किया गया है कि पापी मनुष्यों को यथार्थ ज्ञान न हो सके।[५] इनकी दृढ़ मान्यता है कि ईश्वर के प्रतिषेध के कारण सांख्य दर्शन को अवैदिक दर्शन नहीं माना जा सकता; क्योंकि सांख्य में ईश्वर का प्रतिषेध अभ्युपगमवाद तथा प्रौढ़िवाद से किया गया है।[६]

परन्तु विज्ञानभिक्षु नैयायिकों के द्वारा ईश्वर की सिद्धि के लिए दिए गए तर्कों का अनिरुद्ध की ही भाँति खण्डन करते हुए कहते हैं कि कर्मफल की निष्पत्ति के लिए ईश्वर को अधिष्ठाता मानना ठीक नहीं है; क्योंकि कर्मफल की प्राप्ति तो कर्म के द्वारा भी हो सकती है।[७] उनका कहना है कि यदि ईश्वर को लौकिक ईश्वर के

---

१. अव्यक्तं कारणं यत्तन्नित्यं सदसदात्मकम् ।
प्रधानं पुरुषस्तस्मान्निर्ममे विश्वमीश्वरः ।। -ब्रह्मा०पु०, १/३३।।

२. भा०द०, खण्ड-२, पृष्ठ-२१६।

३. व्यवहारे वयं योगाः तद्वत्षड्विंशगोचरे ।
पञ्चविंशतितत्त्वानां षड्विंशे प्रविलापनात् ।। -विज्ञा०, १/१/३।

४. सेश्वरवादस्य न क्वापि निन्दादिकमस्ति । -वहीं, उपो०, पृष्ठ-३।

५. पापिनां ज्ञानप्रतिबन्धार्थमास्तिकदर्शनेष्वप्यंशतः श्रुतिविरुद्धार्थव्यवस्थापनम् ।
-सा०प्र०भा०उपो०, पृष्ठ-५।

६. सा०प्र०भा०, १/९२।

७. सा०प्र०भा०, ५/२।

सदृश ही मान लिया जायेगा तो वह लौकिक ईश्वर के लिए प्रयुक्त एक अन्य पारिभाषिक शब्दमात्र होगा, सृष्टिकर्ता ईश्वर नहीं।[१]

इस प्रकार विज्ञानभिक्षु के विचारों को देखकर अन्य दार्शनिक विज्ञानभिक्षु को ईश्वरवादी अवश्य मानते हैं, परन्तु उनके मत नित्येश्वर की सिद्धि तर्कों से नहीं की जा सकती।[२] इसके आधार पर तर्कप्रवण सांख्य दार्शनिक[३] सांख्यशास्त्र को निरीश्वरवादी मानते हैं। वे सांख्य में परमार्थतः ईश्वर के स्वीकार किये जाने पर भी सांख्य में सेश्वर और निरीश्वर का भेद प्रसिद्ध है, ऐसा स्वीकार करते हैं।[४] इनकी मान्यता है कि विज्ञानभिक्षु ईश्वरवादी थे परन्तु परम्परा में प्राप्त सांख्य को वे सदैव निरीश्वरवादी मानते थे।[५] अतः उन्हें ईश्वरवादी सांख्य दार्शनिक नहीं मानते।

उपरोक्त व्याख्या के आधार पर सांख्यदर्शन की रूपरेखा निरीश्वरवादी प्रतीत होती है। यहाँ पुरुष-प्रकृति के अतिरिक्त ईश्वर की सत्ता को स्वीकार नहीं किया गया है। यद्यपि सांख्य की निरीश्वरवादी ईश्वरवादी विचारधारा आजतक विवादास्पद है, परन्तु अधिकांशतः दार्शनिकों ने सांख्य के निरीश्वरवादी विचारधारा को उत्कृष्ट स्थान प्रदान किया है। अतः मूलरूप से सांख्य चाहे ईश्वरवादी रहा हो लेकिन आधुनिक दार्शनिक ने इसे अपनी व्याख्या के आधार पर निरीश्वरवादी सांख्य के रूप में घोषित किया है। विश्लेषण के आधार पर इसे निरीश्वरवादी सांख्य ही कहना उचित प्रतीत होता है।

किन्तु कोई सांख्य में ईश्वरवादी विचार ढूंढ़ने का प्रयास करें तो पुरुष (जो ज्ञानस्वरूप, विशुद्ध चैतन्य है) को ईश्वर के स्थान पर रख सकता है तब प्रश्न उठेगा ईश्वर की दयालुता, प्रभुता आदि गुणों की स्थिति क्या होगी? क्योंकि पुरुष गुणातीत है अतः इस प्रयास में पुरुष वेदान्त (अद्वैतवेदान्त) के ब्रह्म के स्थान पर ही तार्किक रूप से स्थापित हो सकता है, विशिष्टगुणसम्पन्न ईश्वर के स्थान पर नहीं। सांख्य में केवल पुरुष और प्रकृति की नित्यता स्वीकार की गयी है। इन दो नित्य तत्त्वों के अतिरिक्त अन्य कोई ईश्वर जैसी सत्ता स्वीकार नहीं की गयी है। ये दोनों तत्त्व एक-दूसरे से तात्त्विक दृष्टि से स्वतन्त्र हैं।

---

१. वहीं, ५/४-५।

२. नित्येश्वरे च प्रमाणाभावात् । -वहीं, ६/६४।

३. तर्कसंवलितायाः ..... कपिलस्मृतेः। -विज्ञा०, २/१/१।

४. एतेन परमार्थवादाभ्युपगमवादाभ्यां सेश्वरनिरीश्वर विभागप्रसिद्धि सांख्य व्याख्यातिः। -वहीं, १/१/५।

५. ईश्वरं प्रतिषेधन्त्याः कपिलस्मृतेः। -वहीं, २/१/१।

द्वैतवाद

सांख्य दर्शन द्वैतमत का प्रतिपादक है। इस दर्शन में पुरुष और प्रकृति दो मूल तत्त्व हैं। इनके परस्पर संयोग से ही जगत् का आविर्भाव होता है। सृष्टि के ये दोनों तत्त्व आपस में एक दूसरे से बहुत भिन्न हैं। प्रकृति अचेतन है, परन्तु पुरुष चेतन है। प्रकृति सक्रिय है, परन्तु पुरुष निष्क्रिय है। ये दोनों तत्त्व स्वतन्त्र हैं, लेकिन प्रकृति के जड़ और नित्य होने से ही इस जगत् की सृष्टि नहीं हो सकती और न यह सृष्टि निष्क्रिय पुरुष से। इसके लिए पुरुष और प्रकृति का परस्पर सम्बन्ध ही सृष्टि-कार्य को सम्पन्न करता है। यह सम्बन्ध सामान्य न होकर एक विशेष प्रकार का होता है, जिससे ये दोनों तत्त्व आपस में प्रभावित होते हैं। एक दूसरे के प्रभाव में आने के बाद पुरुष का प्रतिबिम्ब जब जड़ात्मिका प्रकृति पर पड़ता है तो उसकी साम्यावस्था भंग हो जाती है और प्रकृति अपने को चेतन की तरह समझने लगती है और अपने अन्दर से समस्त जगत् को उत्पन्न करती है। इस अवस्था में निस्त्रैगुण्य पुरुष भी अपने को कर्ता-भोक्ता और आसक्त रूप से समझने लगता है। इस प्रकार सांख्य दर्शन सृष्टि-विकास से प्रकृति और पुरुष नामक दो विरोधी तत्त्वों की निरपेक्ष सत्ता को स्वीकार करता है। इन्हीं दो विशेष तत्त्वों के आधार पर सृष्टि की व्याख्या की गयी है, जो द्वैतवाद के नाम से प्रतिष्ठित है।

सांख्य दर्शन में पुरुष-तत्त्व बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। "पुरुष" पद चेतनमात्र का बोधक है। इसका एक और नाम "आत्मा" है। आत्मा में किसी प्रकार का विचार नहीं होता अतः यह शुद्ध-स्वभाव है।[1] पुरुष तत्त्व के शुद्ध होने के साथ ही प्रकृति-तत्त्व को अशुद्ध माना जाता है, क्योंकि वह परिणामिनी है। फिर भी यह पुरुष-तत्त्व (आत्मा) प्रकृति से प्रभावित होता है और साथ ही अपने अन्दर सुख-दुःख का अनुभव करने लगता है। यह चेतन होते हुए भी प्रकृति के प्रभाव में आते ही अज्ञानी कहलाने लगता है। प्रकृति के प्रभाव से प्रभावित होने के बाद भी आत्मा के वास्तविक स्वरूप में किसी भी प्रकार का परिवर्तन नहीं होता है; क्योंकि एक व्यक्ति में चाहे अनेक प्रकार के गुण और अवगुण हों, लेकिन उसकी आत्मा एक ही समान होती है। इस प्रकार आत्मा में किसी प्रकार का परिवर्तन न आना ही उसकी शुद्धता का द्योतक है। आत्मा शुद्ध-स्वभाव होने के साथ ही बुद्ध-स्वभाव है, जिसका तात्पर्य चेतन अथवा ज्ञानस्वरूप होता है। आत्मा चेतन है। यह सदा एक समान रहता है, इसमें कभी कोई परिवर्तन नहीं होता है।

---

१. सांख्यसूत्र, १/१९।

आत्मा में सुख-दुःख आदि का अनुभव माने जाने पर एक यह आशंका उठाई जाती है कि यदि वास्तविक रूप में आत्मा को सुख-दुःख आदि का अनुभव होता है, तो आत्मा विकारी माना जाना चाहिए। आत्मा में सुख-दुःख आदि की प्रतीति आत्मा को अपने शुद्ध-स्वरूप से च्युत कर देती है। जब आत्मा को हम दुःखी या सुखी कहते हैं, तो मानो हम यह स्वीकार कर रहे हैं कि आत्मा में सुख या दुःखरूप विकार का प्रादुर्भाव हो गया है। इस प्रकार आत्मा के स्वरूप का ध्यान रखते हुए आत्मा में सुख-दुःख आदि के अनुभव का माना जाना युक्तिपूर्ण नहीं कहा जा सकता है।

आत्मा पर इस प्रकार के आक्षेप का समाधान करते हुए सांख्य कहता है कि आत्मा को सुख-दुःख आदि का अनुभव होने पर भी उसके स्वरूप में किसी प्रकार के परिवर्तन की आशंका करना व्यर्थ है। आत्मा का अपना वास्तविक शुद्ध स्वरूप चेतन है। चेतन को किसी प्रकार का अनुभव होना, उसको अपने वास्तविक रूप से च्युत नहीं करता, प्रत्युत यह तो चेतन के स्वरूप का अपनी वास्तविक स्थिति में रहना प्रमाणित करता है। कोई भी अनुभव चेतन के अस्तित्व का प्रमाण कहा जा सकता है। जैसे— स्वच्छ जल में चन्द्र के प्रतिबिम्बित होने पर जल के अपने वास्तविक स्वरूप में किसी प्रकार का विकार नहीं आता, ठीक उसी प्रकार आत्मा के अपने शुद्ध चेतन स्वरूप में किसी प्रकार का अन्तर या विकार नहीं आता।

सांख्य दर्शन के तत्त्वों में पुरुष की सत्ता की सिद्धि पाँच हेतुओं द्वारा की गयी है। शुद्ध, बुद्ध, मुक्त-स्वरूप पुरुष अविवेकवश अपने को अनेक, सीमित, शान्त, कर्ता, भोक्ता, अधिष्ठाता आदि सीमाओं से जोड़कर संसारी समझने लगता है। इस पुरुष की सिद्धि हेतु सांख्यकारिकाकार ईश्वरकृष्ण ने युक्तियाँ दी हैं।[१] प्रकृति आदि समस्त संघात वस्तुएँ परार्थ हैं, अतः प्रकृति आदि से भिन्न असंहत तथा पर पुरुष की सिद्धि होती है। जिस प्रकार लोक में शय्या आदि सङ्घात परार्थ होते हैं उसी प्रकार प्रकृति, महत् आदि पदार्थ भी परार्थ अर्थात् पुरुष के भोग तथा अपवर्ग के लिए हैं। इस तरह समस्त संहत पदार्थों से भिन्न चित्प्रकाशरूप पुरुष की सत्ता मानना युक्तियुक्त है।[२]

---

१. संघातपरार्थत्वात् त्रिगुणादिविपर्ययादधिष्ठानात् ।
पुरुषोऽस्ति भोक्तृभावात् कैवल्यार्थं प्रवृत्तेश्च ।। -सांख्यकारिका, १७।

२. चित्प्रकाशरूपः पुरुषः सर्वसंहतेभ्यः परः कल्पयितुं युज्यत इति ।
–सां०प्र०भा०, १/६६।

सांख्य दर्शन में पुरुष को सुख-दुःख और मोह इन तीन गुणों से विपरीत होने के कारण भी इसकी सत्ता की सिद्धि होती है। शरीर आदि स्वयं सुख-दुःख आदि धर्मों से युक्त होने के कारण सुख आदि का भोक्ता नहीं हो सकते। यदि सुख-दुःखात्मक शरीर को ही सुख आदि का भोक्ता मानेंगे तो कर्तृ-कर्म विरोध होगा। मैं सुखी हूँ, मैं दुःखी हूँ, मैं मूढ़ हूँ आदि की प्रतीति पुरुष में बुद्धि की स्वामिता के कारण होती है। इस प्रतीति से पुरुष में सुख आदि धर्मों की सिद्धि नहीं होती।[१]

भोक्ता के अधिष्ठातृत्व से भी अधिष्ठेय प्रकृति आदि से भिन्न अधिष्ठाता पुरुष की सत्ता सिद्ध होती है। सांख्यकारिका के टीकाकारों ने "अधिष्ठानात्" पद की व्याख्या इस प्रकार की है कि त्रिगुणात्मक सभी वस्तुओं को किसी अन्य के द्वारा अधिष्ठित या प्रेरित होने के कारण भी पुरुष की सत्ता सिद्ध होती है। कोई पदार्थ स्वयं अपना भोक्ता नहीं हो सकता। अतः पुरुष ही प्रकृति का भोक्ता है।[२] सांख्य दार्शनिकों का मत है कि शरीर आदि तो प्रकृति ही है इसलिए ये विनाशी तथा दुःख-स्वभाव है, अतः स्वभाव का नाश न होने से शरीर आदि का कैवल्य असम्भव है।[३] अतः कैवल्य के लिए प्रवृत्ति होने से प्रकृति से भिन्न पुरुष की सत्ता सिद्ध होती है। इस प्रकार संघातों से परे, त्रिगुणातीत, अधिष्ठाता, भोक्ता तथा कैवल्य के लिए प्रवृत्तिशील होने से प्रकृति महत्तत्त्व आदि से पृथक् पुरुषतत्त्व की सिद्धि होती है। अणिमा सेनगुप्ता पुरुष की सत्ता-सिद्धि के लिए दिये गये तर्कों के विषय में अपना मत प्रस्तुत करते हुए कहती हैं "सांख्य दर्शन में पुरुष की सत्ता के लिए दिए गए तर्क, तार्किक तथा बौद्धिक धरातल पर आधारित हैं तथा सांख्य के द्वैतवाद तथा वस्तुवाद से अद्भुत साम्य रखते हैं।" उपर्युक्त सिद्धान्तों द्वारा पुरुष की सत्ता स्वयं सिद्ध है।

सांख्य दर्शन में पुरुष-बहुत्व की सिद्धि

सांख्य दर्शन में अनेक आत्माओं की सत्ता स्वीकार की गयी है। पुरुष के बहुत्व की सिद्धि **सांख्यकारिका** में इस प्रकार की गई है कि[४] अनेक व्यक्तियों के जन्म-मरण

---

१. सां०प्र०भा०, १/१४१।

२. वहीं, १/१४३।

३. अतोऽर्थोपरक्तवृत्तिप्रतिबिम्बावच्छिन्नं स्वरूपचैतन्यमेव मानं पुरुषस्य भोगः।
–वहीं, १/१०४।

४. जन्ममरणकरणानां प्रतिनियमादयुगपत्प्रवृत्तेश्च।
पुरुषबहुत्वं सिद्धं त्रैगुण्यविपर्ययाच्चैव ।। –सांख्यकारिका, १८।

में, इन्द्रिय तथा क्रिया में बड़ा ही अन्तर होता है। यदि एक ही आत्मा होता तो एक व्यक्ति के जन्म लेने पर सब पुरुषों का जन्म हो जाता, एक पुरुष के मरने पर सब पुरुष मर जाते, एक के अन्धे और बहरे होने पर इस जगत् के सब पुरुष अन्धे और बहरे हो जाते, परन्तु ऐसा तो कभी नहीं होता अत: इससे पुरुष का बहुत्व स्वयं सिद्ध होता है।

जीवों में एक ही समय में एक प्रवृत्ति नहीं दिखलायी पड़ती, इससे भी पुरुष की अनेकता सिद्ध होती है। जैसे एक ही समय में कोई पुरुष रोता है, तो दूसरा हँसता है; कोई छात्र दिन को मैदान में खेलता है तो दूसरा छात्र उसी समय एकान्त स्थान पर बैठकर विद्याध्ययन में रत रहता है। एककालीन क्रिया में इस प्रकार का अन्तर यही सूचित करता है कि आत्माएँ अनेक हैं, जो अपनी इच्छा के अनुसार एक ही समय में भिन्न-भिन्न कार्य करते हैं।

त्रैगुण्य-भेद के कारण भी पुरुष-भेद सिद्ध होता है। मनुष्य पशुओं से तो बढ़कर हैं, परन्तु देवताओं से नीचे हैं। यदि एक ही आत्मा रहता तो आपस में विभिन्नता कैसे रहती? यदि एक पुरुष होता तो कोई सुखी, कोई दु:खी तो कोई उदासीन कैसे दिखायी पड़ता। अत: स्वत: ही पुरुष की अनेकता की सिद्धि होती है। यदि एक ही आत्मा होता तो संसार में एक ही प्रकार के प्राणी होते, परन्तु ऐसा नहीं है। इससे सिद्ध होता है कि पुरुष बहुत से हैं एक नहीं। पतञ्जलि ने भी अपने एक सूत्र में पुरुष की अनेकता को सिद्ध किया है— "कृतार्थं प्रति नष्टमप्यनष्टं तदन्यसाधारणत्वात्।"[१]

प्रश्न यह उठता है कि पुरुष अनेक है या एक। अद्वैत वेदान्त में चैतन्य को एक मानकर अनेक पुरुष चैतन्य को उसी का प्रतिबिम्ब स्वीकार किया गया है। **सांख्यकारिका** में एक और अनेक दोनों का स्पष्ट विचार मिलता है। पुरुष चैतन्य है, ज्ञ है और एक है। दूसरी तरफ अनेक पुरुष की सत्ता को भी ईश्वरकृष्ण ने तर्कों के आधार पर सिद्ध किया है। किन्तु **सांख्यकारिका** में एक अनेक के सम्बन्ध के विषय में कोई कारिका देखने को नहीं मिलती। उमेश मिश्र ने अपनी गवेषणा के आधार पर इस बात की सम्भावना व्यक्त की है कि शायद इससे सम्बन्धित कारिका लुप्त हो गयी है। यह तथ्य व्यावहारिक एवं तार्किक दृष्टि से भी अनिवार्य प्रतीत होता है; क्योंकि ईश्वरकृष्ण जैसे विद्वान् जहाँ सर्वज्ञ, चैतन्य, ज्ञानरूप एक पुरुष की बात करते हैं वहीं अनेक की स्थापना किये बिना अनेक की सत्तासिद्धि के लिए प्रमाण कैसे प्रस्तुत करेंगे। इस पक्ष में यह कहा जा सकता है कि सांख्य भी विशुद्ध

---

१. पातञ्जलयोगसूत्र, २/२२।

चैतन्य पुरुष को एक ही मानता है और वही पुरुष प्रकृत्युत्पन्न अनेक बुद्धि में आभासित होकर अनेक प्रतीत होता है जिनकी सत्ता ईश्वरकृष्ण संघातपरार्थत्वात् आदि लौकिक तर्कों से सिद्ध करते हैं।

प्रधान-तत्त्व

सांख्यविदों ने इस अचेतन तत्त्व प्रकृति को सांख्य दर्शन में प्रकृति अथवा प्रधान के नाम से विभूषित किया है। ये दोनों नाम सांख्य के किन्हीं विशेष सिद्धान्तों के आधार पर दिये गये हैं। सांख्य की यह प्रकृति "अजा" अर्थात् अनादि और "अनन्त" अर्थात् अविनाशिनी है। यह सत्त्व, रजस् तथा तमस् तीनों गुणों से युक्त है, इसीलिये यह "त्रिगुण"[१] कहलाती है। यद्यपि सांख्य ग्रन्थों में प्रकृति की विभिन्न विशेषताओं के आधार पर अन्य अनेक नामों का भी निर्धारण किया गया है, जैसे—परिणामिनी, प्रसवधर्मिणी, तमस्, अव्यक्त, अक्षर, ब्रह्म, माया, अविद्या, शक्ति, अजा, क्षेत्र आदि।

जगत् में मूलरूपसे दो वर्ग अथवा दो भिन्न जाति के तत्त्वों की उपलब्धि होती है। उनमें से एक को चेतन और दूसरे को अचेतन अथवा जड़ कहते हैं। यह मूलतत्त्व, चेतन और अचेतन समस्त जगत् का उपादान है। कुछ विद्वान् मूल तत्त्व का स्वरूप चेतन बताते हैं, जबकि कुछ मूल तत्त्व को अचेतन अथवा जड़ कहते हैं। लेकिन मूल तत्त्व को जड़ और चेतन दोनों रूप में मानना एक असम्भव कार्य है। वे विद्वान् स्वयं इस तथ्य को स्वीकार करते। केवलात्मकवादी मूलतत्त्व को केवल चेतनस्वरूप मानकर समस्त जड़ जगत् को उसी का विकार कहते हैं, जबकि भौतिकवादी मूलतत्त्व को जड़ बताकर संसार में प्रतीयमान चेतन अनुभूति को भी उसी का विकार मानते हैं।

इन दोनों विचारधाराओं का अध्ययन करके महर्षि कपिल ने वास्तविकता को स्पष्ट करते हुए कहा कि चेतन और अचेतन दोनों प्रकार के तत्त्वों का वास्तविक अस्तित्व परस्पर विरोधी न होकर सहानुभूतिपूर्ण रहता है, तथा इसी सहयोग के आधार पर समस्त संसार का चक्र है। इस प्रकार समूचे जड़-जगत् का मूल उपादान ज़ड़ प्रकृति है और उसके सहयोग में चेतन अपना स्वतन्त्र अस्तित्व रखता है। यह प्रकृति स्वभाव से जड़ है। उसमें कोई परिणाम स्वतः नहीं हो सकता। प्रकृति के किसी परिणाम या परिवर्तन के लिये अन्य चेतन की प्रेरणा आवश्यक है। यह प्रेरक तत्त्व चेतन माना गया है जिसके वशीभूत होकर प्रकृति के समस्त परिणाम

---

१. त्रिगुणमविवेकिविषयः .....। -सां०का०, ११।

व विकार सम्भव हो सकते हैं। पञ्चशिख ने भी कहा है कि चेतन के अधिष्ठातृत्व में प्रकृति की प्रवृत्ति हुआ करती है। "पुरुषाधिष्ठितं प्रधानं प्रवर्तते।"[1] इससे स्पष्ट है कि प्रकृति से समस्त सर्ग चेतन की प्रेरणा के बिना नहीं हो पाता।

सांख्य दर्शन के अनुसार प्रकृति-पुरुष के संयोग से सृष्टि होती है। प्रकृति-पुरुष का संयोग कैसे होता है यह प्रश्न अत्यन्त जटिल है, जो दार्शनिक इस विचार से सहमत नहीं है, उन्होंने इस पर अनेक आक्षेप भी किये हैं। शङ्कराचार्य प्रकृति-पुरुष के संयोग की सम्भावना का निषेध करते हुए कहते हैं कि सांख्य अचेतन प्रकृति तथा उदासीन पुरुष दोनों की स्वतन्त्र सत्ता का प्रतिपादन करता है तथा इन दोनों का संयोग कराने वाले किसी तृतीय पदार्थ की सत्ता स्वीकार नहीं करता। चन्द्रधर शर्मा भी शङ्कर के इस मत का समर्थन करते हैं और कहते हैं कि अचेतन तथा स्वतन्त्र प्रकृति अधिक से अधिक प्रयोजनरहित तथा यान्त्रिक जगत् की सृष्टि कर सकती है, प्रयोजनमूलक जगत् की नहीं।[2] सांख्य दार्शनिक कहते हैं कि लंगड़ा व्यक्ति अन्धे के कन्धे पर बैठकर मार्ग दिखाता रहे तो दोनों अपने गन्तव्य स्थान तक पहुँच सकते हैं। केवल अकेला पंगु या अकेला अन्धा अपने गन्तव्य स्थान तक नहीं जा सकता। इसका खण्डन करते हुए शङ्कराचार्य कहते हैं कि पंगु और अन्ध दोनों ही चेतन तथा सक्रिय हैं किन्तु सांख्यसम्मत प्रकृति, अचेतन और पुरुष निष्क्रिय हैं। चेतन प्राणी तो परस्पर अपने उद्देश्य की सिद्धि कर सकते हैं किन्तु अचेतन प्रकृति और निष्क्रिय पुरुष का संयोग नहीं हो सकता।[3] शङ्कराचार्य द्वारा लगाये गये आक्षेपों का समाधान विज्ञानभिक्षु के द्वारा किया गया है। इन्होंने प्रकृति की सृष्टि को स्वतन्त्र नहीं माना, अपितु ईश्वरेच्छा से होना स्वीकार किया है। इस प्रकार इन्होंने प्रकृति-पुरुष के संयोग कराने वाले तृतीय तत्त्व की सत्ता स्वीकार कर ली है।

आचार्य विज्ञानभिक्षु के मत को अन्य सांख्य दार्शनिक नहीं मानते हैं। चावार्क, बौद्ध, जैन तथा न्याय-वैशेषिकों के अनुसार पृथ्वी, जल, तेज और वायु के परमाणु ही समस्त सांसारिक विषयों के कारण हैं, परन्तु सांख्य इस विचार से सहमत नहीं है। सांख्य दार्शनिकों का कहना है कि मन, बुद्धि, अहंकार जैसे सूक्ष्म तत्त्वों की उत्पत्ति भौतिक परमाणुओं से नहीं हो सकती; क्योंकि कारण कार्य की अपेक्षा सूक्ष्म

---

१. ये सन्दर्भ "सांख्य दर्शन का इतिहास" नामक ग्रन्थ के अन्तिम अष्टम प्रकरण में पञ्चशिख प्रसंग में संगृहीत किये गये हैं।

२. शर्मा, चन्द्रधर, ए क्रिटिकल सर्वे ऑफ इण्डियन फिलॉसफी, पृष्ठ-१६६।

३. ब्र०सू०शां०भा०, २/२/५।

और उसमें व्याप्त रहता है, इसलिए संसार का कारण जड़ होने के साथ ही सूक्ष्मातिसूक्ष्म हो तथा अनादि, अनन्त और व्यापक रूप से जगत् के पदार्थों का कारण हो, जिससे समस्त विषय उत्पन्न हो सके। इस पदार्थ को सांख्य दर्शन में प्रकृति कहते हैं।[१] सभी कार्यों अर्थात् विकारों का मूल कारण होने से वह मूल-प्रकृति है।[२] पुरुष और प्रकृति दोनों नित्य हैं। सांख्य का पुरुष तो एकरूप है उसमें परिवर्तन नहीं हो सकता, किन्तु प्रकृति एकरूप नहीं रह सकती, उसकी साम्यावस्था में उच्चावच-भाव होता है अर्थात् वैषम्य उत्पन्न होता है और इसी कारण गुणत्रय महदादिरूप में परिणत होते रहते हैं।

सत्त्व, रजस् और तमस् गुणों की साम्यावस्था प्रकृति है।[३] यह त्रिगुणात्मक अव्यक्त, नित्य, कारणरूप, सर्वशक्तिसमन्वित, परमशक्तिशालिनी तथा निर्विशेष होकर भी सम्पूर्ण धर्मों का आश्रय है। इस प्रधान तत्त्व को ही प्रकृति कहते हैं।[४] प्रकृति शाश्वत है वह संसार की सभी वस्तुओं का मूल कारण है। इसलिए प्रकृति को अनादि और अनन्त कहा गया है। हिरियन्ना सांख्य-प्रकृति को दिक् और काल की सीमा के परे मानते हैं। उनके अनुसार प्रकृति दिक् और काल में नहीं है, बल्कि यह दिक् और काल को जन्म देती है।[५] यह विचित्र सृष्टि की रचना करती है इसलिए इसे माया भी कहा जाता है।

गुणों की साम्यावस्था ही प्रकृति है, इस पर कुछ दार्शनिक आक्षेप प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि जब गुणों की साम्यावस्था ही प्रकृति है तो सृष्टिकाल में जब गुणों की साम्यावस्था नष्ट हो जाती है तब प्रकृति भी नष्ट हो जानी चाहिए। सांख्य दार्शनिकों का कहना है कि जगत् के प्रत्येक पदार्थ में तीन गुणों के अनुस्यूत रहने के कारण प्रकृति का नाश नहीं होता।[६] जिस प्रकार अग्नि की समस्त लपटों को ज्वाला कहते हैं उसी प्रकार तीनों गुणों की साम्यावस्था को प्रकृति कहते हैं। प्रकृति का विकास तीन गुणों से होता है। इन तीन गुणों का भिन्न-भिन्न मात्रा में मिश्रण ही कार्य-वैचित्र्य का कारण है। इन तीन गुणों का स्वरूप क्रमशः प्रीति, अप्रीति और विषादात्मक

१. दत्ता एवं चटर्जी, भारतीय दर्शन, पृष्ठ १६५-६६।
२. सां०सू०, १/६७ तथा सांख्यका०-३।
३. सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः। –सां०सू० १/६।
४. ब्रह्म वैव०, २/१/६; मा०पु०, ३/६/१०।
५. सिन्हा, हरेन्द्र प्रसाद, भारतीय दर्शन, पृष्ठ २२२, २३।
६. सां०सा०, पूर्वभाग, तृतीय परिच्छेद, पृष्ठ ३०४।

हैं।[१] इन तीनों गुणों के भिन्न-स्वभाव होने के साथ ही आपस में मिलकर कार्य करने के कारण ही प्रकृति विविध प्रकार की सृष्टि करने में समर्थ होती हैं इन गुणों की साम्यावस्था रहने पर प्रलय और विषमावस्था रहने पर सर्ग हुआ करता है। इस प्रकार सांख्य दर्शन में प्रकृति को सृष्टि का मूल कारण माना गया है। इसी तत्त्व से सांख्य दार्शनिक समस्त सृष्टि का उद्‌भव और विकास स्वीकार करते हैं। उनका कहना है कि प्रकृति से ही सम्पूर्ण विश्व की सृष्टि होती है और प्रलय काल में विश्व की सम्पूर्ण वस्तुएँ प्रकृति में आकर मिल जाती हैं। सांख्य के अनुसार प्रकृति ही एकमात्र जड़ जगत् का कारण है। संसार के सभी कार्य प्रकृतिरूपी मूल कारण से उत्पन्न होते हैं। सांख्य की मान्यता के अनुसार कारण से ही कार्य की उत्पत्ति होती है कारण के अभाव में कार्य सम्भव नहीं।

सत्कार्यवाद

कार्य-कारण के विषय में सांख्य दार्शनिकों की एक विशिष्ट मान्यता है, जिसको उन्होंने सत्कार्यवाद के नाम से प्रतिष्ठित किया है। उनका कहना है कि उत्पत्ति से पूर्व कार्य अपने कारण में अवश्यमेव अव्यक्त रूप से विद्यमान रहता है। इस प्रकार कार्य और कारण में वस्तुतः अभेद है। कार्य की अव्यक्तावस्था को ही कारण के रूप में और कारण की व्यक्तावस्था को ही कार्य के रूप में पहचाना जाता है। कार्य जब तक प्रकट नहीं होता तब तक वह वस्तु कारण है, किन्तु जब वह प्रकट हो जाता है तब कार्य कहलाता है।

भारतीय दर्शन में कार्य-कारण-सिद्धान्त के विषय में अनेक विचारधाराएँ प्रचलित हैं, परन्तु सभी कार्य किसी कारण से उत्पन्न होते हैं, इस मत पर सभी दर्शन का विचार एक समान है। वाचस्पति मिश्र ने **तत्त्वकौमुदी** में कार्य-कारण के चार मतों को उपस्थित किया है। पहला मत बौद्ध दार्शनिकों का है वे "असतः सज्जायते", असत् से सत् की उत्पत्ति होती है, इस मत को मानते हैं।[२] उनकी मान्यता है कि कारण से कार्य की उत्पत्ति तभी सम्भव है जब कारण का अस्तित्व समाप्त हो जाता है। बौद्ध दार्शनिकों ने अपनी इस मान्यता को एक दृष्टान्त के द्वारा स्पष्ट किया है। उनका कहना है कि बीज से अंकुर तब प्रस्फुटित होता है, जब बीज नष्ट हो जाता है।

---

१. प्रीत्यप्रीतिविषादाद्यैर्गुणानामन्योऽन्यं वैधर्म्यम्। -सां०सू०, १/१२७; सां०का०-१२।

२. मिश्र, वाचस्पति, तत्त्वकौ०, पृष्ठ-९।

अद्वैत वेदान्तियों के अनुसार (एकस्य सतो विवर्तः कार्यजातं न वस्तु सत्) यह समस्त कार्य एक सत् वस्तु का विवर्त है, वास्तविक नहीं।[१] जैसे— सर्प के न रहने पर भी भ्रम से रज्जु को सर्प समझ लिया जाता है वैसे जी जगत् के वस्तुतः न होने पर भी ब्रह्म में उसे कल्पित कर लिया जाता है। परन्तु जैसे ही रज्जु के बारे में वास्तविक ज्ञान हो जाता है वैसे ही सर्प की मान्यता समाप्त हो जाती है। ठीक उसी प्रकार जब व्यक्ति को आत्मज्ञान हो जाता है और वह मायारूपी बन्धन से मुक्त हो जाता है तो उसके समक्ष तत्त्वरूप ब्रह्म में ज्ञानावस्था से पूर्व प्रतीत होने वाला समस्त जगत् नहीं रहता।

तीसरा मत नैयायिकों और वैशेषिकों का है। उनका कहना है कि "सतोऽसज्जायते"[२] अर्थात् सत् से असत् की उत्पत्ति होती है। जैसे परमाणु आदि में पूर्वतः अविद्यमान द्व्यणुक इत्यादि अभिनव कार्य उत्पन्न होते हैं।

कारणतावाद की चौथी मान्यता सांख्य दार्शनिकों की है। उनके मतानुसार "सतः सज्जायते"[३] अर्थात् सत् से सत् का आविर्भाव होता है। सांख्य दार्शनिकों की इस मान्यता को **गीता** में भी स्वीकार किया गया है।[४] सांख्य दार्शनिकों का कहना हैकि अगर कारण में कार्य की सत्ता नहीं होती तो लाख प्रयत्न करने पर भी कारण से कार्य की उत्पत्ति नहीं होती। अतः कारण में कार्य पहले से ही विद्यमान रहता है।

बौद्ध, वेदान्त एवं न्याय-वैशेषिक के उपरोक्त तीनों मतों का सांख्य दार्शनिकों ने बहुत ही जोरदार शब्दों में खण्डन किया है। बौद्ध सिद्धान्त का खण्डन करते हुए सांख्य दार्शनिक कहते हैं कि कभी भी अभावरूप अवस्तु से भावरूप वस्तु की उत्पत्ति नहीं हो सकती।[५] अंकुरोत्पत्ति में बीज के नष्ट होने को कारण नहीं कहा जा सकता, किन्तु बीजावयवों के सन्निवेश परिणाम को अंकुरोत्पत्ति में कारण मानना चाहिए। अर्थात् बीज में रहने वाले अवयव ही प्रकारान्तर को प्राप्त होकर अंकुर कहलाते हैं। इससे यह कदापि नहीं समझा जा सकता कि बीज के नाश होने पर ही अंकुर की उत्पत्ति होती है इसको न्यायविदों ने एक सूत्र में स्पष्ट किया है कि

---

१. मिश्र, वाचस्पति, तत्त्वकौ०, का०-९।

२. तत्त्वकौमुदी, का०-९।

३. वहीं,

४. नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः। -गीता, २/१६।

५. नाऽवस्तुनो वस्तुसिद्धिः। -सां०सू०, १/७८।

नाशरूप अभाव से भाव की उत्पत्ति मान लेना महान् अनर्थ है।[१] भगवान् शङ्कराचार्य भी "नासतो दृष्टत्वात्"[२] कहकर खण्डन करते हैं।

अद्वैत वेदान्तियों के मत का खण्डन करते हुए सांख्य दार्शनिकों का कहना है कि वेदान्तियों का "समस्त कार्य वास्तविक न होकर सत् वस्तु ब्रह्म का ही विवर्त है" यह कथन मान्य नहीं है। वेदान्त दार्शनिक अपने विवर्तवाद का मण्डन करते हुए कहते हैं कि **शुक्ति** में जो रजत का ज्ञान होता है वह मिथ्या है, क्योंकि **शुक्ति** का यथार्थ ज्ञान होने के बाद रजत-ज्ञान निवृत्त हो जाता है, उसी प्रकार ब्रह्म ही केवल एकमात्र सत् वस्तु है, उस पर आरोप किये जाने वाले सम्पूर्ण यह जड़ जगत् मिथ्या है।

सांख्य दार्शनिक इसको अस्वीकार करते हुए कहते हैं कि **शुक्ति** और रजत में शुक्लता चाकचिक्य का सादृश्य है, इसलिए **शुक्ति** में रजत का भ्रम होता है। किन्तु यहाँ तो जगत् और ब्रह्म में परस्पर विलक्षणता है, एक जड़ है तो दूसरा चेतन है। अतः दोनों में कुछ भी साधर्म्य नहीं है। थोड़ी बहुत समानता के होने पर ही एक दूसरे पर आरोप किया जा सकता है। इस स्थिति में जड़ जगत् का चेतन ब्रह्म में आरोपण कैसे हो सकता है। इस प्रकार सांख्य दार्शनिकों ने वेदान्तियों के विवर्तवाद का खण्डन करके सत्कार्यवाद का मण्डन किया है।

जब कार्य अपने कारण में सूक्ष्म रूप से पहले से विद्यमान है तो कारण को व्यापार करने की क्या आवश्यकता है? इसके उत्तर में सांख्यवादी कहते हैं 'जो कार्य सूक्ष्म रूप से अवस्थित है और व्यवहार करने में असमर्थ है, उस कार्य को स्थूल रूप देकर व्यवहार के योग्य बना दिया जाता है। तिल को निचोड़ने पर उनमें पहले से विद्यमान तेल की ही अभिव्यक्ति होती है। इससे स्पष्ट है कि कार्य सत् है असत् नहीं। महान् सांख्य दार्शनिक विज्ञानभिक्षु भी न्याय दर्शन के सिद्धान्त का खण्डन करते हुए कहते हैं कि यदि कारण में कार्य की सत्ता नहीं मानेंगे तो किस प्रकार वस्तुरूप कार्य की उत्पत्ति होगी।[३]

सत्कार्यवाद की प्रतिष्ठापना के लिए सांख्य दार्शनिकों में ईश्वरकृष्ण ने निम्न युक्तियाँ प्रस्तुत की हैं।[४] सांख्य दार्शनिकों की यह मान्यता है कि जो वस्तु

---

१. न विनष्टेभ्यो निष्पत्तेः -न्यायसू०, ४/१/१७।

२. ब्र०सू०,शां०भा०, २/२/२६।

३. कार्यस्याप्यसत्त्वात् कथं वस्तुभूतकार्यसिद्धिः । -सां०प्र०भा०, १/८०।

४. असदकरणादुपादानग्रहणात् सर्वसम्भवाभावात् ।
शक्तस्य शक्यकरणात्, कारणभावाच्च सत्कार्यम् ।। -सां०का०-९।

कारण-व्यापार के पहले नहीं है उसकी कभी भी उत्पत्ति नहीं की जा सकती। जैसे कि पीतत्वाभावायुक्त नील को कभी भी पीत के रूप में परिवर्तित नहीं किया जा सकता।

किसी भी कार्य को प्राप्त करने के लिए हम पहले उसका उपादान कारण खोजते हैं। जब उस उपादान कारण में कार्य पहले से विद्यमान न हो तो फिर वह उपादान और दूसरी वस्तु भी एक ही समान है। ऐसी स्थिति में हम उपादान कारण को ही क्यों खोजते? इससे यह स्पष्ट होता है कि कार्य से सम्बद्ध कारण से ही कार्य की उत्पत्ति होती है।

दार्शनिकों का मत है कि यदि कार्य-कारण में उपादान-नियम नहीं माना जायेगा तो सभी देश काल में सभी वस्तु की उत्पत्ति की भी प्रसक्ति होगी।[१] यदि तेल से उसका कारण तिल असम्बद्ध है तो पट भी असम्बद्ध है। अत: जैसे तिल से तेल प्राप्त होता है, वैसे पट से भी प्राप्त होना चाहिए, परन्तु ऐसा असम्भव है।[२] इसलिए कार्य को कारण में सत् रूप में मानना चाहिए।

कार्य से असम्बद्ध रहता हुआ भी सत् कारण उसी कार्य को कर सकता है, जिस कार्य में जो कारण शक्तियुक्त हो। अर्थात् सभी कारण सभी कार्यों को उत्पन्न करने में समर्थ नहीं होते। कारणगत वह शक्ति कार्य की अनागतावस्था ही है। इस प्रकार शक्त कारण से ही शक्य कार्य की उत्पत्ति होने से कारण में असत् कार्य की उत्पत्ति नहीं हो सकती।[३]

सांख्य दार्शनिक कहते हैं कि यदि कारण सत् है तो कार्य भी सत् मानिये, क्योंकि कार्य, कारण से भिन्न नहीं होता। श्रुतियों में भी कार्य की पूर्व सत्ता तथा कारण से कार्य का अभेद स्वीकार किया गया है। इस प्रकार सत्कार्यवाद का सिद्धान्त श्रुति-प्रतिपादित सिद्धान्त है।[४]

सत्कार्यवाद एवं असत्कार्यवाद दोनों के पक्ष में समान प्रबल तर्कों को प्रस्तुत किया जाता है। सांख्य अपनी दार्शनिक मान्यताओं के आधार पर असत्कार्यवाद का खण्डन एवं सत्कार्यवाद की स्थापना करता है। वेदान्ती कार्य को विवर्तरूप स्वीकार कर सत्कार्यवादी न होकर सत्कारणवादी विचारों की कोटि में चले जाते

---

१. उपादाननियमे च सर्वत्र सर्वदा सर्वसम्भवः । -सां०प्र०भा०, १/११६।

२. कार्यं कारणेन सम्बद्धम्, कारणे नियमेनाभिषज्यमानत्वात् ।

३. सा शक्तिः कार्यस्यानागतावस्थैवेत्यतः शक्तस्य शक्यकार्यकरणान्नासत उत्पादः। -सां०प्र०भा०, १/११७।

४. वहीं, १/११८।

हैं। काश्मीर शैवदार्शनिक सत्कार्य एवं सत्कारणवाद दोनों की स्थापना करते हैं। रामानुज सत्कार्यवाद के मण्डन में ब्रह्मपरिणामवाद की स्थापना करते हैं। सांख्य के सन्दर्भ में इन मतों का वैशिष्ट्य स्वीकार नहीं किया जा सकता क्योंकि यहाँ कारण जड़ पदार्थ प्रकृति है और जड़ पदार्थ से सृष्टि की व्याख्या में कारणता की जो भी वैज्ञानिक व्याख्या प्रस्तुत होगी वह सत्कार्यवादी होगी। जिसका अर्थ इस बात में निहित है कि कार्य (सृष्टि) अपनी उत्पत्ति के पूर्व अनेक कारण में विद्यमान होता है। और कार्य लयोपरान्त अपने कारणभाव को प्राप्त कर लेता है। कार्य कारण की व्यक्तावस्था है। इस प्रकार सांख्य कारणता की दार्शनिक ही नहीं वैज्ञानिक व्याख्या भी प्रस्तुत करता है। कारण-कार्य को विज्ञान में पूर्वापर अवस्था के रूप में समझा जाता है। और सांख्य भी इसी दिशा में अपना मत स्थापित करता है।

प्रकृति एवं उसका विकार

सांख्य दर्शन के मुख्यत: दो पदार्थ हैं। एक तो जड़ प्रकृति और दूसरा चेतन पुरुष। समस्त जगत् जड़ प्रकृति का परिणाम माना जाता है। प्रकृति-परिणाम का नाम सृष्टि (सर्ग), विकास या विकार है। प्रकृति त्रिगुणात्मक है। इसके तीन गुण— सत्व, रज और तम हैं। सृष्टि के पूर्व सत्त्व, रज और तम ये तीनों गुण साम्यावस्था में वर्तमान रहते हैं। जब प्रकृति और पुरुष का आपस में संसर्ग होता है तो इन गुणों की साम्यावस्था में विकार उत्पन्न हो जाता है। अत: "तीनों गुणों का साम्य ही लय और वैषम्य ही सृष्टि है।"[१] वैसे सत्त्व, रजस् और तमस् ये आपस में विरोधी परिलक्षित होते हैं, परन्तु ये एक दूसरे पर आश्रित रहते हैं। इसके ऐसे सम्बन्ध के कारण ही सर्ग के अनन्तर प्रलय और प्रलय के अनन्तर सर्ग चलता रहता है।

यहाँ प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि यह दृश्यमान जगत् किसका परिणाम है? इस सम्बन्ध में अनेक दर्शनों में विभिन्न विचार दृष्टिगोचर होते हैं। इनको दो भागों में बाँटा जा सकता है। पहला— वैदिक दूसरा अवैदिक। सांख्य दार्शनिक प्रकृति को ही मूल तत्त्व मानते हैं और प्रकृति के विकार के परिणामस्वरूप यह सृष्टि तुच्छ या मिथ्या नहीं, अपितु सत्य तथा वास्तविक है।[२] प्रकृति निरन्तर गतिशील नदी के समान है, जो बहुत प्राचीन समय से चला आ रहा है तथा प्राचीन समय तक

---

१. गुणसाम्ये लयो ज्ञेयो वैषम्ये सृष्टिरुच्यते। -लिंग०पु०, ७०,७३।

२. सां०प्र०भा०, २/६।

चलता रहेगा। सांख्य दर्शन में कपिल ने कहा है कि प्रकृति से महत्तत्त्व की उत्पत्ति होती है। प्रकृति का कार्य महत् नामक तत्त्व है।

सांख्य दर्शन में कार्य-कारण का विवेचन करते हुए यह स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है कि कारण ही कार्यरूप में परिणत होता है। न अभाव से भाव और न भाव से अभाव के परिणाम की कल्पना की जा सकती है[१] इसलिए कार्य एवं कारण दोनों ही सत्य हैं। इससे यह स्पष्ट होता है कि प्रकृति के परिणामस्वरूप होने वाली सृष्टि वास्तविक है। इसके उपरान्त सृष्टि के विकास के लिए पुरुष और प्रकृति के परस्पर संयोग को आवश्यक माना है। चेतन पुरुष तथा अचेतन प्रकृति के संयोग से प्रकृति में क्षोभ उत्पन्न होता है। प्रकृति के तीनों गुणों, सत्त्व, रजस् तथा तमस् में विक्षोभ होने पर उनमें सर्गोन्मुखता या विकार की प्रवृत्ति उत्पन्न होती है और जिसके फलस्वरूप सृष्टि की प्रक्रिया प्रारम्भ हो जाती हैं। वैसे पुरुष और प्रकृति परस्पर विलक्षण पदार्थ हैं। फिर भी दोनों के भोग से ही सृष्टि की स्थिति है। पुरुष समस्त पदार्थों में विद्यमान रहता हुआ भी अलिप्त है। पुरुष प्रकृति से सदा अनासक्त रहता है, पर प्रकृति अपने प्रपञ्चों की रचना द्वारा पुरुष को नित्य ही बन्धन में डालने का प्रयत्न करती है।[२] इस प्रकार प्रकृति अनादि एवं सृष्टि की उपादान कारण है। पुरुष समस्त प्रपञ्चों से तटस्थ होकर बन्धनमुक्त होने के लिए लालायित रहता है, परन्तु प्रकृति अपनी माया द्वारा नाना प्रकार के प्रपञ्चों की रचना किया करती है। ये ही प्रपञ्च मनुष्य को मायाजाल में फँसाते हैं। पुरुष और प्रकृति के संयोग से जगत् की स्थिति उसी प्रकार है, जैसे अग्नि की उत्पत्ति सूर्य एवं दर्पण के संसर्ग से होती हे। जिस प्रकार चुम्बक के संसर्ग से सुई गतिशील हो जाती है, वायु के संयोग से जल में तरंगे उत्पन्न होती हैं तथा सूर्य के प्रकाश से नेत्र बाह्य जगत् के रूपों को ग्रहण करते हैं, उसी प्रकार पुरुष और प्रकृति के संयोग से सृष्टि की रचना होती है।[३]

सांख्य की इस बात पर आक्षेप लगाया जाता है कि प्रकृति और पुरुष का संयोग क्यों होता है? इस बात को स्पष्ट करते हुए सांख्य दार्शनिक कहते हैं कि पुरुष के भोग और अपवर्ग के लिए ही प्रकृति का संयोग माना गया है। प्रकृति पुरुष का परस्पर सम्बन्ध कराने के लिए कोई प्रेरक तत्त्व नहीं है, केवल दोनों के

---

१. नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः ।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः । -गीता, २/१६।

२. जडव्यावृत्तो जडं प्रकाशयति चिद्रूपः। -सांख्यसूत्र, अ० ६, सू० ५०।

३. सन्त सुन्दरदासकृत, ज्ञानसमुद्र, तृतीयोल्लास, -५९/७।

परस्पर सान्निध्य से ही प्रवृत्ति स्वीकार की गयी है। जैसे अयस्कान्त से प्रेरित लौह उससे संयुक्त होता है, उसी प्रकार पुरुष से प्रेरित होकर प्रकृति उससे संयुक्त होती है।[१] प्रकृति की यह विकास-प्रक्रिया पुरुष के प्रभाव से होती है। पुरुष के परस्पर सन्निधि से प्राकृतिक साम्यावस्था भंग होती है और फिर परिणामवाद के नियम के अनुसार विकास-क्रम चलने लगता है।

सांख्य दर्शन में सृष्टितत्त्व-मीमांसा को अध्यात्म और अधिभूत दो रूपों में वर्णित किया गया है। पहले आध्यात्मिक सर्ग की सृष्टि होती है, उसके बाद अधिभूत सर्ग उत्पन्न होता है। संसार के सभी पदार्थ गुणत्रयसम्पन्न हैं। अतः उनमें साम्यभाव है। जगत् का मूल कारण एक तत्त्व प्रकृति मात्र है। जिस क्रम से प्रकृति सृष्टि करती है, उसी के विपरीतक्रम से विश्व का प्रलय या तिरोभाव भी करती है।

प्रकृति का सर्वप्रथम विकार महत्तत्त्व है। महत् से अहंकार, अहंकार से मन, ज्ञानेन्द्रिय तथा कर्मेन्द्रिय, तामस अहंकार से पञ्चतन्मात्र एवं पञ्चतन्मात्राओं से पञ्चमहाभूतों की सृष्टि होती है।[२] सांख्य दार्शनिकों के अनुसार प्रकृति वास्तविक सत्ता है, परन्तु सांख्य की प्रकृति की उद्‌भावना दार्शनिक अनुचिन्तन के आधार पर की गयी है। सत् की विवेचना हम विषयी और विषय के रूप में पाते हैं इसलिए प्रकृति को हम विषय का आधार कह सकते हैं। गुणों को अन्योन्याभिभव, अन्योन्याश्रय, अन्योन्यजनन तथा अन्योन्यमिथुन के रूप में दर्शाया गया है। रसज् दुःख का कारण है। तम से मोह[३] और विषाद उत्पन्न होते हैं। जब समस्त वस्तुओं में अनुरक्ति निःशेष रहती है तब विषाद की अवस्था है और महत् में कर्तृत्व शक्ति है।

सांख्यकारिका के अनुसार महाभूतों के सूक्ष्म अंश तन्मात्र हैं। ये पञ्चतन्मात्राएँ अत्यन्त सूक्ष्म हैं। इन पञ्चतन्मात्राओं से पञ्च महाभूतों का विकास होता है, किन्तु सब तन्मात्राओं का सब गुण पञ्चमहाभूतों में नहीं है। जैसे— आकाश में केवल शब्द है, वायु में शब्द तथा स्पर्श है, अग्नि में शब्द, स्पर्श तथा रूप हैं और जल

---

१. प्रकृतिस्वातन्त्र्यवादिभ्यां सांख्य योगिभ्यां पुरुषार्थप्रयुक्ता प्रवृत्तिः स्वयमेव पुरुषेण आद्यजीवेन संयुज्यत इत्यभ्युपगम्यते अयस्कान्तेन लौहवत् ।

—विज्ञा०, १/१/२१

२. प्रकृतेर्महान् महतोऽहङ्कारोऽहङ्कारात् पञ्चतन्मात्राण्युभयमिन्द्रियं तन्मात्रेभ्यः स्थूलभूतानि.........। —सां०सू०, १/६१; सांख्यप्रका०, २२।

३. "उपेक्षाविषयत्वं नाम मोहः।" "मुह वैचित्र्ये" इत्यस्माद्धातोः मोहशब्दनिष्पत्तेः, उपेक्षणीयेषु चित्तवृत्त्युदयात् ।"

में शब्द, स्पर्श, रूप तथा रसतन्मात्र हैं। केवल पृथ्वी महाभूत में पाँचों तन्मात्र (अर्थात् शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध) उपलब्ध हैं।

इस दर्शन में इन्द्रियों, मन, अहंकार और बुद्धि के ज्ञानविषयक कर्म का वर्णन किया गया है। दृष्ट वस्तुओं के सम्बन्ध में इन चारों के कार्य समसामयिक हैं, परन्तु अदृष्ट वस्तुओं के सम्बन्ध में तीनों (अर्थात् मन, अहंकार और बुद्धि) के व्यापार किसी इष्ट वस्तु के ज्ञान पर ही आधारित हो सकते हैं। आन्तरिक इन्द्रियाँ अपनी-अपनी वृत्ति की ओर पारस्परिक सम्बन्ध से ही प्रेरित होती हैं। पुरुष का उद्देश्य संसिद्ध करना ही उनका प्रयोजन है। अन्य कोई वस्तु उन्हें प्रेरणा नहीं दे सकती। कारण (इन्द्रियाँ) तेरह प्रकार की हैं— बुद्धि, अहंकार, मन, चक्षु, श्रोत्र, जिह्वा, त्वचा, नासिका, हस्त, पैर, दो गुह्येन्द्रियाँ, वाणी। पाँच कर्मेन्द्रियाँ आहरण (लेना) तथा धारण करती हैं। ज्ञानेन्द्रियों का कार्य है— प्रकाश। कर्मेन्द्रियों के पाँच कार्यों को आधार्य कर्म और धार्य कर्म कहते हैं और ज्ञानेन्द्रियों के पाँच कर्मों को प्रकाश कर्म कहते हैं। कर्मेन्द्रियाँ वर्तमान काल में कार्य करती हैं; किन्तु ज्ञानेन्द्रियाँ तीनों कालों में। बाह्य दस इन्द्रियाँ तीन अन्त:करणों (मन, अहंकार तथा बुद्धि) को विषयों का ज्ञान कराती हैं। ज्ञानेन्द्रियाँ विशेष और अविशेष दोनों को ग्रहण करती हैं। इन्द्रियों का अनेकत्व तथा तन्मात्रों में प्रभेद गुणों के ही कारण हैं। तन्मात्रों को अविशेष और महाभूतों को विशेष कहते हैं।

(च) सृष्टि का विकास

प्रकृति को सृष्टि का मूल कारण माना गया है, परन्तु प्रकृति को सृष्टि प्रारम्भ करने के पहले पुरुष के सान्निध्य में आना आवश्यक होता है। दोनों का सम्बन्ध ही सृष्टि का विकास है, परन्तु सबसे जटिल प्रश्न यह खड़ा होता है कि पुरुष-प्रकृति का सम्बन्ध कैसे हो सकता है। इस समस्या का समाधान सांख्यदर्शन में एक बहुत ही रोचक अन्धे और लंगड़े के दृष्टान्त के माध्यम से किया गया है। जैसे अन्धे में चलने की शक्ति है, परन्तु मार्ग का ज्ञान नहीं है। ठीक इसके विपरीत लंगड़ा मार्ग दर्शक होते हुए चलने में असमर्थ है, परन्तु दोनों पारस्परिक सम्बन्ध से अपना कार्य सम्पन्न कर लेते हैं। ठीक उसी तरह प्रकृति-पुरुष के पारस्परिक संयोग से सृष्टि का विकास होता है।

महत्-तत्त्व या बुद्धि-तत्त्व

इस सृष्टि-विकास की प्रक्रिया में सर्वप्रथम पुरुष-प्रकृति के सम्बन्ध में "महत्-तत्त्व" की उत्पत्ति होती है। जिसे "बुद्धितत्त्व" भी कहते हैं। यह जगत्

की उत्पत्ति में बीजरूप से रहता है। संसार के विकास में विशेष महत्त्वशाली कारण है, परन्तु प्रश्न यह है कि सर्वप्रथम यह बुद्धितत्त्व क्यों और किस प्रकार आता है। सांख्य दार्शनिकों का कहना है कि प्रकृति में सत्व, रजस् और तमस् तीनों गुण समभाव से रहते हैं। जगत् में प्रत्येक वस्तु त्रिगुणात्मक है, निर्माण में तीनों गुणों का न्यूनाधिक उपयोग मुख्य कारण माना गया है। इसलिए "बुद्धि" में भी इन तीनों गुणों का सहयोग रहता है, परन्तु उसमें सत्त्वगुण की प्रधानता रहती है, लेकिन तम और रज उसमें तिरोहित रूप में रहते हैं जिससे इसको विलक्षण माना गया है। इस तत्त्व को महत् इसलिए कहा जाता है कि इसमें धर्म, ज्ञान, ऐश्वर्य और वैराग्य आदि सभी उत्कृष्ट गुणों का आवास रहता है।[१] इसी महत्-तत्त्व को पुराण में हिरण्यगर्भ भी कहा गया है।[२] प्रकृति से उत्पन्न प्रथम तत्त्व को शङ्कराचार्य ने भी हिरण्यगर्भ कहा है, लेकिन वे हिरण्यगर्भ को महान् आत्मा एवं बुद्धि से पृथक् मानते हैं।[३] कुछ दार्शनिकों की यह मान्यता है कि प्रधान महत् तत्त्वों के बीच में एक और तत्त्व होता है और उसी अनिश्चित तत्त्व से महत् की उत्पत्ति होती है। लेकिन पतञ्जलि, पञ्चाधिकरण एवं वार्षगण्य इस तत्त्व को न मानते हुए प्रधान से ही साक्षात् महत् तत्त्व की उत्पत्ति मानते हैं।[४]

आचार्य चरक और सुश्रुत दोनों ने बुद्धि को आत्मा का गुण माना है, जिससे प्रत्येक पदार्थ का यथावत् ज्ञान हो उसे बुद्धि कहते हैं।[५] महत्-तत्त्व त्रिगुणात्मक है, लेकिन इनमें सत्त्वगुण की बहुलता होती है। यह स्फटिक के समान स्वच्छ होता है। चित् का प्रतिबिम्ब पड़ने से यह चैतन्य सा प्रतीत होता है अत; इसे इच्छामय कहा गया है।[६] विज्ञानभिक्षु भी कहते हैं कि धर्म आदि उत्कृष्ट गुणों के

---

१. दत्ता एवं चटर्जी, भारतीय दर्शन, पृष्ठ-२६९।

२. हिरण्यगर्भो भगवानेष बुद्धिरिति स्मृतिः ।
महानिति च योगेषु विरिञ्चिरिति चाप्यथ ।। -ब्रह्म०पु०, २४०/१६-१७।

३. अव्यक्ताद्यत्प्रथमं जातं हिरण्यगर्भतत्त्वं ..... महानात्मा बुद्धेः पर इत्युच्यते।
-कठो०उप०,शाङ्क०क०, १/३/१०।

४. पतञ्जलिपञ्चाधिकरणवार्षगणानां प्रधानात् महानुत्पद्यत इति। -युक्ति०,२२।

५. चक्रपाणि का च०सू०, १/४९, १/१७, १/१८।

६. त्रिगुणं सत्त्वबहुलं निर्मलं स्फटिकोपमम् ।
चिच्छायाप्राप्तचैतन्यं तदिच्छामयमीरितम् ।। -भा०पू०सृ०, ११।

कारण ही सृष्टि के आद्यकार्य को महत्संज्ञा प्रदान की गयी है तथा यही महत् का लक्षण भी है।[१]

बुद्धि की तीन अवस्थाएँ हैं— जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति। जैसे चक्षु का विषय रूप है वैसे ही बुद्धि की इन अवस्थाओं के माध्यम से आत्मा का ज्ञान होता है।[२] इनके द्वारा ही बुद्धि स्वयं को तथा दूसरी वस्तुओं को प्रकाशित करती है। निश्चय के द्वारा ही बुद्धि का ज्ञान होता है;[३] क्योंकि इस जगत् में मन के द्वारा चिन्तित वस्तुओं का बुद्धि से ही निश्चय होता है। मनसहित ज्ञानेन्द्रियों द्वारा विषय के ग्रहण होने के पश्चात् मन एवं बुद्धि का व्यापार होता है। विषय-ग्रहण के अनन्तर मन संकल्प करता है, तब उस विषय के सम्बन्ध में बुद्धि निश्चय कर लेती है। इसी निश्चयात्मक बुद्धि के परिणामस्वरूप मनुष्य बुद्धिपूर्वक कुछ कहने या करने में समर्थ होता है।[४]

सांख्य दर्शन में महत्-तत्त्व और बुद्धि एकदूसरे के पर्यायवाची शब्द हैं। **महाभारत** एवं पुराणों में बुद्धि की व्यापक रूप में परिचर्चा की गयी है। बुद्धि को महान्, मति, प्रज्ञा,[५] आत्मा, विष्णु, जिष्णु, शम्भु, वीर्यवान्, उपलब्धि, ख्याति, धृति, स्मृति,[६] मन, पूः, ब्रह्म, ईश्वर, चिति, महात्म्य, संवित्, संविद, ज्ञान, भगवान्, त्रिपुर, ब्रह्म, भव, पुरुष, कः, स्वयम्भू,[७] प्रबुद्ध आदि कहा गया है।[८]

यद्यपि जगत् में प्रत्येक वस्तु त्रिगुणात्मक है; निर्माण में तीनों गुणों का न्यूनाधिक उपयोग वस्तु की विलक्षणता का एक मुख्य कारण है। इसी तरह ''बुद्धि'' तत्त्व की रचना में तीनों गुणों का सहयोग रहता है, पर यहाँ सत्त्व गुण का अधिक उपयोग होता है, और रजस्, तमस् का कर्म, धर्म, ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्य— ये

---

१. तस्य धर्मादिरूपप्रकृष्टगुणयोगात् महत्संज्ञा, तदेव च लक्षणम् ।
–सां०सा०पूर्व, भाग तृतीय परि०, पृष्ठ-३०६।

२. भा०पु०, ७/७/२५-२६।

३. महाभारत, शान्तिपर्व, १९४/१३; ब्रह्म०पु०, २३७/५७।

४. च०शा०, १/२२-२३।

५. महाभारत, अनुशासनपर्व, १४५/५७।

६. महाभारत, आश्व०, ४०/२-३।

७. वायु०पु०, ४/२७-२८।

८. कूर्म०पु०, १/४/१७; लिंग०पु०, ६/६८-७४।

चार बुद्धि के सात्त्विक रूप हैं।[१] और अर्धम, अज्ञान, अवैराग्य या राग तथा अनैश्वर्य इसके रजस् तथा तमस् के उपराग हैं।[२]

बुद्धि के सात्त्विक रूप

अभ्युदय तथा निःश्रेयस् के साधक हेतु को धर्म कहते हैं। लेकिन **सांख्यकारिका** के टीकाकारों में बुद्धि के धर्म आदि स्वरूप के विषय में परस्पर मतभेद है। सुवर्णसप्ततिकार ने बुद्धि के सात्त्विक रूप धर्म का लक्षण यम, नियम बताया है। इस स्थल पर अद्वेष, आचार्य-सत्कार, अन्तर्बहिश्शौच, अन्नपान और प्रमाद को यम एवं अहिंसा, अस्तेय, सत्य वचन, ब्रह्मचर्य एवं अशाख्य को नियम कहा गया है।[३]

माठरवृत्ति[४] में भी यम और पाँच नियमों को धर्म कहा गया है। इसमें यम-नियमों के **योगसूत्र** में प्रतिपादित स्वरूप को स्वीकार किया गया है। **सांख्यकारिका** की टीका **युक्तिदीपिका** में श्रुति-स्मृति-विहित कर्मों के अनुष्ठान करने वाले बुद्धि-स्थित सत्त्वावयव को धर्म कहा गया है। यह धर्म का द्विविध रूप माना गया है। इसका प्रथम भेद शरीर, इन्द्रिय तथा विषयोपभोग का निवर्तक एवं ज्ञान आदि का अंगभूत तथा द्वितीय अग्नि-होत्र हवन आदि क्रियाओं के अनुष्ठान एवं यम-नियम आदि से सिद्ध होने वाला है। इस स्थल पर अहिंसा, सत्य, अस्तेय, अव्यक्तता एवं ब्रह्मचर्य को यम तथा अक्रोध, गुरु-शुश्रूषा, शौच, आचार लाघव एवं अप्रमाद को नियम कहा गया है। आचार्य गौडपाद दया, दान, यम और नियम को धर्म का लक्षण मानते हैं और **पातञ्जलसूत्र** में प्रतिपादित यम-नियम के परिसंख्यान को स्वीकार करते हैं।[५] जयमङ्गलाकार भी यम-नियम को धर्म मानते हैं। तत्त्वकौमुदीकार वाचस्पति मिश्र के अनुसार धर्म वह है जो लौकिक सुख तथा पारलौकिक कल्याण का कारण बनता है। इनमें यज्ञ, दान इत्यादि के सम्पादन से

---

१. सां०प्र०भा०, २/१४।

२. महन्महत्तत्वं रजस्तमोभ्यामुपरागाद्विपरीतं क्षुद्रधर्माज्ञानावैराग्यानैश्वर्यधर्मकमपि भवति। -वहीं, २/१५।

३. सुवर्ण०, २३।

४. यमनियमलक्षणः स धर्मः। तत्र पञ्चयमाः पञ्चनियमाः।
अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः। शौचसन्तोषतपः स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः। -माठ०, २३।

५. गौड़, २३।

उत्पन्न धर्म लौकिक सुख का कारण बनता है और अष्टाङ्गयोग के साधन से उत्पन्न धर्म कैवल्य का कारण होता है।[1]

ज्ञान को सुवर्णसप्ततिशास्त्रकार बाह्य और आन्तर भेद से द्विविध स्वीकार करते हैं। वेदों के छः अंग—शिक्षा, व्याकरण, कल्प, ज्योतिष, छन्द और निरुक्त को बाह्य ज्ञान कहा गया है तथा आभ्यन्तर ज्ञान में पुरुष एवं प्रकृति के पार्थक्य का विवेचन है। बाह्य ज्ञान से लौकिक सुख की प्राप्ति होती है तथा आभ्यन्तर ज्ञान से मोक्ष की प्राप्ति होती है। माठरवृत्तिकार भी बाह्य एवं आभ्यन्तर ज्ञान के द्विविध रूप को स्वीकार करते हैं। बाह्य ज्ञान में वीणा, पणव, गन्धर्व, चित्र, कथा, गणित तथा व्याकरणशास्त्र को स्वीकार करते हैं। बाह्य ज्ञान में कुछ भिन्नता है, लेकिन आभ्यन्तर ज्ञान में दोनों का पूर्ण मतैक्य है।

आचार्य गौड़पाद भी **सुवर्णसप्ततिशास्त्र** के समान ज्ञान के व्याख्यात द्विविध भेदों को स्वीकार करते हैं। जयमङ्गलाकार के अनुसार पच्चीस तत्त्वों के स्वरूप तथा गुणों एवं पुरुष के भेद का ज्ञान ही ज्ञान है।[2] वाचस्पति मिश्र भी जयमङ्गलाकार के समान त्रिगुणात्मक प्रकृति तथा पुरुष के विवेक या भेद के साक्षात्कार को ज्ञान की संज्ञा देते हैं।[3]

सुवर्णसप्ततिकार वैराग्य को भी बाह्य और आभ्यन्तर भेद से द्विविध मानते हैं। उनकी यह मान्यता है कि धन के अर्जन, रक्षण तथा क्षय काल में क्लेशों को देखकर, उसके दर्शन से विरक्त होकर मनुष्य गृहत्याग कर प्रव्रज्या लेता है। वह वैराग्य बाह्य ज्ञान से प्राप्त होता है, इसलिए इससे मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती। जिस वैराग्य से मोक्ष की प्राप्ति होती है वह आभ्यन्तर वैराग्य है। आभ्यन्तर वैराग्य में विज्ञान पुरुष के गुण-भेद से व्यक्ति प्रव्रज्या लेना चाहता है। अतः इस आभ्यन्तर ज्ञान से वैराग्य प्राप्त होता है।[4] **माठरवृत्ति** तथा **गौड़पादभाष्य** में भी वैराग्य की

---

१. धर्मः अभ्युदयनिःश्रेयसहेतुः। तत्र यागदानाद्यनुष्ठानजनितो धर्मोऽभ्युदयहेतुः। अष्टाङ्गयोगानुष्ठानजनितश्च निःश्रेयसहेतुः । –तत्त्वकौ०, २३।

२. पञ्चविंशतितत्त्वानां स्वसंज्ञालाक्षण्यकत्वप्रयोजनावधारणं ज्ञानम् । –जयम०२३।

३. गुणपुरुषान्यताख्यातिर्ज्ञानम् । –तत्त्वकौ०, २३।

४. बाह्यमान्तरञ्चेति वैराग्यं द्विविधम्। बाह्यमिति धनानामर्जनरक्षणक्षयकाले क्लेशान् दृष्ट्वा रक्षणासक्तिर्हिंसे द्विविधदोषौ च दृष्ट्वा तद्दर्शननिमित्तं विरक्तो गृहात्प्रव्रजति एवं विरक्तो न लभते मोक्षम् । तद्वैराग्यं बाह्यज्ञानेन लभ्यते। आभ्यन्तरवैराग्यमिति। विज्ञानपुरुषगुणभेदत्वात्प्रव्रजितुमिच्छति। आभ्यन्तरज्ञानपूर्वकं वैराग्यं लभ्यते। तद्वैराग्यान् मोक्षो लभ्यते। –सुवर्ण० २३।

यही मान्यता है। जयमङ्गला में विषय, शरीर तथा इन्द्रिय के दोष-दर्शन से होने वाली विमुखता को वैराग्य कहा गया है।[१] युक्तिदीपिकाकार एवं वाचस्पति मिश्र के अनुसार राग का अभाव वैराग्य है। उन्होंने इसकी चार अवस्थाएँ मानी हैं— यतमान, व्यतिरेक, एकेन्द्रिय एवं वशीकार वैराग्य।[२]

इन्द्रियों का विषयों के प्रति इच्छा-लक्षणात्मक जो कषाय पाक के प्रति प्रदर्शित उत्साह है उसी को यतमान वैराग्य कहते हैं। वाचस्पति मिश्र के अनुसार राग, द्वेष आदि चित्त के कषाय मल है। विषयों में इन्द्रियों की प्रवृत्ति को रोकने के लिए इन कषायों का मलों का परिपाक अपेक्षित है, अतः इन कषायों के परिपाक के लिये किये गये प्रयत्नों को यतमान नामक वैराग्य शब्द से जाना जाता है।

इन्द्रिद विषयों की परिपक्वावस्था को व्यतिरेक वैराग्य कहा गया है।[३] वाचस्पति मिश्र के अनुसार इन कषायों के शमन के प्रयत्न करने पर कुछ तो शान्त हो जाते हैं और कुछ भविष्य में शान्त होने को रह जाते हैं। इस प्रकार इनके उपशम में पौर्वापर्य उपस्थित होने पर अवशिष्ट कषायों के शमन के लिए अनुष्ठान व्यतिरेक-नामक वैराग्य है।

सभी इन्द्रियों के निवृत्त होने पर भी जब कषाय संकल्पमात्र में अवस्थित रहते हैं तब उस वैराग्य को एकेन्द्रिय वैराग्य कहते हैं। वाचस्पति मिश्र का मत है कि इन्द्रियों के प्रवृत्ति में असमर्थ हो जाने के कारण पक्क अर्थात् निवृत्त किन्तु विषयतृष्णा के रूप में फिर भी अवशिष्ट मलों को मन में ही नियत रखना एकेन्द्रिय वैराग्य कहा जाता है।

महर्षि पतञ्जलि ने लौकिक तथा वेदोक्त विषयों के सम्बन्ध में वितृष्ण अर्थात् औत्सुक्यहीन साधक को वशीकार वैराग्य कहा है।[४] वाचस्पति मिश्र भी इनके मत को स्वीकार करते हुए कहते हैं कि लौकिक और स्वर्गादि वेदोक्त भोग-विषयों के उपस्थित होने पर भी उनके प्रति उपेक्षा बुद्धि का होना वशीकारनामक वैराग्य है।

सुवर्णसप्ततिकार ने अणिमा, लघिमा, महिमा, प्राप्ति, ईशित्व, प्राकाम्य, वशित्व एवं यथाकामावसायित्व को अष्टविध ऐश्वर्य माना है। ऐश्वर्य के इस स्वरूप के लिए **सांख्यकारिका** के सभी टीकाकार एकमत हैं।

---

१. जयम० २३।

२. विरागो वैराग्यं रागाभावः ।

तस्य यतमानसंज्ञा, व्यतिरेकसंज्ञा, एकेन्द्रियसंज्ञा, वशीकारसंज्ञा। –तत्त्वकौ०, २३।

३. यदा तु केषाञ्चिदिन्द्रियाणां परिपक्वं सा व्यतिरेकसंज्ञा। –युक्ति०, २३।

४. यो०सू०, १/१६।

अणिमा– यह अत्यन्त सूक्ष्मता की स्थिति है, इस अवस्था में योगी सूक्ष्म से सूक्ष्म होकर विचरण कर सकता है। आचार्य वाचस्पति मिश्र अणिमा का अर्थ ऐसी सूक्ष्मता से स्वीकार करते हैं, जिससे योगी शिला में भी प्रवेश कर सके।[१]

लघिमा का अर्थ है— लघु होना।[२] गौड़पाद लघिमा का अर्थ रुई के फाहे से भी हल्का होकर फूल के परागवाही अवयवों की नोक पर बैठ सकना करते है।[३] **मार्कण्डेयपुराण** के अनुसार जिसके द्वारा सब कार्यों में शीघ्रता उत्पन्न हो सके वह लघिमा है। जयमंगलाकार लघिमा का अर्थ लघुत्व बताते हैं जिससे योगी वायु के सदृश लघुतर हो जाता है।[४] वाचस्पति मिश्र के अनुसार लघिमा वह लघुता है जिससे योगी सूर्य की किरणों के सहारे सूर्यलोक में पहुँच जाता है।[५]

महान् होना ही महिमा है।[६] जयमङ्गलाकार ने महिमा का अर्थ महत्त्व बताया है, जिससे भुवनों में धर्म आदि की प्राप्ति होती है तथा इन गुणों से ईप्सित वस्तु मिल जाती है।[७] वाचस्पति मिश्र भी महिमा का अर्थ महत्त्व ही मानते हैं, उनके अनुसार इस ऐश्वर्य से योगी बड़े परिमाण का हो जाता है।[८] आचार्य गौड़पाद के अनुसार महिमा वह स्थिति है, जिसमें योगी महान् होकर विचार करता है।

गौड़पाद के अनुसार अपनी अभिमत वस्तु जहाँ कहीं भी हो, उसे प्राप्त कर लेना प्राप्ति है।[९] **भागवतपुराण** के अनुसार मनोवैकारिक ब्रह्म-तत्त्व अखिल विश्व को धारण करते हुए समस्त इन्द्रियों की आत्मतत्त्व-प्राप्ति ही प्राप्ति है। वाचस्पति मिश्र के अनुसार प्राप्ति वह है जिससे योगी (बिना महत् परिमाण के भी) अंगुली के अग्रभाग से चन्द्रमा को छू लेता है।[१०]

---

१. अत्राणिमा-अणुभावः, यतः शिलामपि प्रविशति । –तत्त्वकौ०, २३।

२. लघिमा लघुर्भवति। –योग०सू०, ३/४५ पर भोज०।

३. मृणाली तूलावयवादपि लघुतया पुष्पकेसराग्रेष्वपि तिष्ठति । –गौड़०, २३।

४. लघिमा, लघुत्वम्, येन वायुवल्लघुतरो भवति। –जयम०, २३।

५. लघिमा-लघुभावः, यतः सूर्यमरीचीनालम्ब्य सूर्यलोकं याति। –तत्त्वकौ०,२३।

६. महिमामहान्भवति। –योगसू०, ३/४५ पर व्या०।

७. महिमा महत्त्वम्, येन भुवनेषु धर्मादिप्राप्तिः, येन गुणेनेप्सितस्य प्रापणम्। –जयम०,२३।

८. महिमा-महतोभावः, अतो महान् भवति। –तत्त्वकौ०,२३।

९. प्राप्तिः अभिमतं वस्तु यत्र तत्रावस्थितं प्राप्नोति। –गौड०, २३।

१०. प्राप्तिः यतोऽङ्गुल्यग्रेण स्पृशति चन्द्रमसम् । –तत्त्वकौ०, २३।

सुवर्णसप्ततिकार[१] तथा गौड़पाद[२] के अनुसार ईशित्व का आशय त्रिभुवन का स्वामित्व है। **भागवतपुराण** के अनुसार जो त्रिगुणमयी माया के स्वामी कालरूपी विष्णु भगवान् (ईश्वर) में चित्त धारण करता है वह ईशित्व के कारण क्षेत्र एवं क्षेत्रज को अपनी इच्छानुसार प्रेरित कर सकता है। इसमें सृष्टि और संहारादि की शक्ति बनी रहती है। जयमङ्गलाकार के अनुसार ईशित्व का अर्थ प्रभुता है जिससे स्थावर आदि भूतयोगी के आदेश का पालन करने वाले हो जाते हैं।[३] किन्तु वाचस्पति मिश्र ईशित्व उसे स्वीकार करते हैं जिससे योगी सभी भूतों तथा भौतिक पदार्थों की उत्पत्ति, स्थिति और नाश में समर्थ होता है।[४]

भागवतपुराण के अनुसार प्राकाम्य के कारण योगी पदार्थों की चरम सीमा को प्राप्त कर लेता है। गौड़पाद के अनुसार जो इच्छा हो वही कर लेना प्राकाम्य है।[५] जयमङ्गलाकार के अनुसार प्राकाम्य का अर्थ प्रचुरकामिता है, जिससे एक को अनेक और अनेक को एक किया जा सकता है।[६] आचार्य वाचस्पति मिश्र प्राकाम्य को इच्छा का अनवरोध या साफल्य मानते हैं, जिससे योगी भूमि से ऊपर निकलकर पुनः उसी में उसी प्रकार प्रविष्ट हो जाता है, जिस प्रकार जल में उन्मज्जन-निमज्जन किया जा सकता है।[७]

भागवतपुराण के अनुसार विषयों में आसक्त न होना वशिता है। गौडपाद[८] तथा वाचस्पति[९] के अनुसार वशित्व का अर्थ सभी भूत तथा भौतिक पदार्थों को वशीभूत करना है। जयमङ्गलाकार भी वशित्व का यही अर्थ मानते हैं। सुवर्णसप्ततिकार त्रैलोक्य के प्राणियों में आत्मानुसार आज्ञा पालन करने की प्रेरणा का अपादान कर लेना एवं अपारतन्त्री का बन्धन-विहीन होना ही वशित्व मानते हैं।

---

१. सुवर्ण०, २३।

२. ईशित्वं-प्रभुतया त्रैलोक्यमपीष्टे। -गौड़०, २३।

३. ईशित्वं प्रभुता, येन स्थावरादीनि भूतानि सन्देशकारीणि भवन्ति। -जयम०,२३।

४. ईशित्वम्, यतो भूतभौतिकानां प्रभवस्थितिलयानामीष्टे । -तत्त्वकौ० २३।

५. प्राकाम्यं-प्रकामतो यदेवेच्छति तदेव विदधाति। -गौड़०,२३।

६. प्राकाम्यं प्रचुरकामिता येनैकमनेकं प्राकाम्यतेऽनेकं चैकम् । -जयम०,२३।

७. प्राकाम्यम्-इच्छानभिघातः, यतो भूमावन्मुज्जति निमज्जति च, यथोदके।
-तत्त्वकौ०, २३।

८. वशित्वं-सर्वं वशीभवति। -गौड़०,२३।

९. वशित्वं, यतो भूतं भौतिकं वशीभवत्यवश्यम् । -तत्त्वकौ०, २३।

सुवर्णसप्ततिकार के अनुसार यथा-काल, यथोपदेश तथा यथाचित्त वृत्ति-लाभ होना ही यथाकामावसायित्व है।[१] गौड़पाद के अनुसार यत्रकामावसायित्व का अर्थ ब्रह्म से लेकर तृणपर्यन्त में जहाँ इच्छा हो, वहीं खड़ा हो सकना, विहार कर सकना आदि है।[२] जयमङ्गलाकार के अनुसार यत्रकामावसायित्व से योगी स्वर्ग में, अन्तरिक्ष में या भूमि पर रह सकता है।[३] वाचस्पति मिश्र के अनुसार यत्रकामावसायित्व संकल्प का सत्य होना है, जिससे योगी का जैसा संकल्प या निश्चय होता है वैसे ही प्राणी हो जाता है।[४] कहीं-कहीं टीकाकार इन आठ प्रकार के ऐश्वर्य के अलावा ''गरिमा'' का भी उल्लेख करते हैं।

बुद्धि का तामसिक रूप

बुद्धि में जब तमो गुण की प्रधानता होती है तब धर्म-अधर्म में, ज्ञान-अज्ञान में, वैराग्य अवैराग्य में एवं ऐश्वर्य अनैश्वर्य में परिवर्तित हो जाता है। युक्तिदीपिकाकार अधर्म को अनिष्ट-शरीर-इन्द्रिय-विषयोपभोग-निवर्तक तथा ख्यातिकारक के भेद से द्विविध मानते हैं। जिस प्रकार शब्दादि-उपलब्धि-लक्षणवाला तथा गुणपुरुषान्तरोपलब्धि वाले भेद से ज्ञान दो प्रकार का होता है और जिस प्रकार यतमान आदि वैराग्य की चार अवस्थाएँ हैं, उसी प्रकार राग की भी चार अवस्थाएँ हैं। अणिमा आदि अष्ट ऐश्वर्यों की भाँति अनैश्वर्य के भी अष्ट भेद हैं।

बुद्धि अथवा महत्तत्त्व से अहंकार की उत्पत्ति होती है।[५] किसी वस्तु के सम्बन्ध में बुद्धि का ''मैं'' या 'मेरा' का भाव रखना अहंकार है। बुद्धि में यह अहं भाव इन्द्रिय और मन के द्वारा होता है। पहले इन्द्रियों के द्वारा विषय का प्रत्यक्ष होता है और तब मन उसके स्वरूप को निर्धारित करता है। विषयों का स्वरूप निर्धारित होने के बाद नानाप्रकार के सांसारिक कर्मों में हमारी चाह होती है। यही चाह मनुष्य को मिथ्या भ्रम में डालती है। अहंकार तब पैदा होता है, जब बुद्धि-तत्त्व में अवस्थित रजोगुण प्रबल होता है; क्योंकि बुद्धि-तत्त्व के समान अहंकार में भी सत्त्व, रज

---

१. यथाकामावसायित्वं यदुत यथाकालं यथादेशं यथाचित्तं च वृत्तिलाभः।

–सुवर्ण, २३।

२. गौड़० २३।

३. जयम०, २३।

४. यच्च कामावसायित्वं सा सत्यसङ्कल्पता, येन यथास्य संकल्पो भवति भूतेषु तथैव भूतानि भवन्ति। –तत्त्वकौ०, २३।

५. महतोऽहङ्कारः। –सां०सू०, १/६१।

और तम तीनों गुण विद्यमान रहते हैं। यह रजोगुण का स्वरूप है इसलिए तैजस है। इसका आधार चेतन आत्मा है।

यह अहंकार कारणरूप एवं कार्यरूप दोनों प्रकार का है।[१] महत्तत्त्व से उत्पन्न होने के कारण यह कार्य है एवं एकादश इन्द्रियों और पञ्चतन्मात्राओं को उत्पन्न करने के कारण यह कारण-रूप है। अहंकार से ही नाना प्राणियों की सृष्टि होती है।[२] जिस प्रकार इस जगत् में नियतकाल यथासमय ऋतु-सम्बन्धी गुणों को प्रकट करता है उसी प्रकार समस्त प्राणियों में अहंकार ही उनके कर्मोंका प्रवर्तक है।[३] आचार्य भावागणेश ने अहङ्कार के "अहं" वृत्ति से युक्त अन्तःकरण अहङ्कार "एकादश इन्द्रियों का उपादान कारण अहङ्कार" तथा "तन्मात्राओं का उपादान कारण अहङ्कार" ये तीन लक्षण दिये हैं।

यह सम्पूर्ण जगत् अहंकारस्वरूप है इसलिए यह अभियन्ता कहा जाता है।[४] सारी प्रजा की सृष्टि इसी से होती है इसलिए इसे प्रजापति कहा गया है। इस प्रकार समस्त भूतों का आदि और सबको उत्पन्न करने वाला वह अहंकार का आधारभूत (जीवात्मा) है और यह अहंकार के द्वारा सम्पूर्ण गुणों की रचना एवं उनका उपयोग करता है। यह जो चेष्टाशील जगत् है वह विकारों के कारणरूप अहंकार का ही स्वरूप है। इसी अहंकार के भ्रम में पड़कर पुरुष स्वयं को कामी तथा स्वामी समझने लगता है। जैसे— "मैं सुन्दर रूप वाला हूँ", "मैं जवान हूँ", "मैं सर्वगुण-सम्पन्न हूँ" आदि अहंकार का भ्रम है।[५] यही अहंकार या अभिमान या भाव हमारे लोकव्यवहार का मूल है।

अहंकार से एकादश इन्द्रियों की उत्पत्ति होती है। **सांख्यकारिका** एवं **सर्वदर्शनसंग्रह** में इन्द्रियाँ आहङ्कारिक मानी गयी हैं। अहंकार से दो प्रकार की तत्त्वसृष्टि होती है। एक सात्त्विक अहंकार से ग्यारह इन्द्रियों की उत्पत्ति एवं दूसरी तामस अहंकार से पञ्चतन्मात्राओं की। परन्तु **चरकसंहिता** के सांख्य-निरूपण में इन्द्रियों को भौतिक कहा गया है। **सांख्यकारिका** में भी इन्द्रियों को आहङ्कारिक

---

1. महा०, आश्व०, ५०/३६।
2. महा०, अनु०, १४५/११५८।
3. महा०, शान्ति०, २१२/२०।
4. महा०, आश्व०, ४१/२-३।
5. तत्रैतंजातिरूपवित्तवृत्तबुद्धिशीलविद्याभिजनवयोवीर्यप्रभावसम्पन्नोऽहमित्यहंकारः

–च०शा०, ५/१०।

माना गया है, परन्तु **सुवर्णसप्ततिशास्त्र** में इन्द्रियों को कहीं आहङ्कारिक और कहीं भौतिक स्वीकार करते हुए उनकी उत्पत्ति पञ्चतन्मात्राओं से बतायी गयी है। **युक्तिदीपिका** में सांख्याचार्य पञ्चाधिकरण इन्द्रियों को भौतिक मानते हैं। युक्तिदीपिकाकार का कहना है कि इन्द्रियाँ भौतिक होने के कारण दूरस्थ विषयों तक पहुँचकर उन्हें ग्रहण नहीं कर सकती, किन्तु अहंकारिक होने पर कर सकती हैं; क्योंकि समस्त विषयों के साक्षात् या परम्परया अहङ्कार-कार्य होने के कारण उनमें आहङ्कारिक इन्द्रियों की व्यापकता सिद्ध है।

उदयवीर शास्त्री ने **सांख्यसिद्धान्त** में अहङ्कार से एकादश इन्द्रियों की उत्पत्ति का क्रम स्पष्ट करते हुए लिखा है कि अहङ्कार-तत्त्व में जब रजस् का कुछ आधिक्य होता है तब जो विकार की स्थिति होती है वह मन है। मन की उत्पत्ति के लिए पर्याप्त उपादान सामग्री में जब रजस् अंश और अधिक हो जाता है तब ज्ञानेन्द्रियों की उत्पत्ति होती है। इसी प्रकार कर्मेन्द्रियों की उत्पत्ति के समय उपादान सामग्री में तामस अंश अधिक तथा सत्त्वांश न्यून हो जाता है, किन्तु रजस् तत्त्व उतना ही रहता है इसलिए इनकी कारण सामग्री तेजस् में कोई अन्तर नहीं आता। तामस अंश की अधिकता तथा सत्त्वांश की न्यूनता के कारण कर्मेन्द्रियों में ज्ञानसाधनता नहीं होती, प्रत्युत ये इन्द्रियाँ क्रिया-प्रधान ही होती हैं।

महाभारत में इन्द्रियों की तुलना दीपक एवं राजा के विभिन्न मन्त्रियों से की गयी है। जिस प्रकार अग्नि से प्रज्वलित दीपक स्वंय प्रकाशित होता हुआ पास में स्थित अन्य वस्तुओं को भी प्रकाशित कर देता है उसी प्रकार इस शरीररूपी वृक्ष में स्थित पाँच इन्द्रियाँ चैतन्यरूपी ज्ञान के प्रकाश से प्रकाशित होकर विषयों को प्रकाशित करती हैं। अथवा जैसे किसी राजा के द्वारा भिन्न-भिन्न कार्यों में नियुक्त किये गये बहुत से मन्त्री अपने पृथक्-पृथक् कार्यों की जानकारी राजा को कराते हैं, उसी प्रकार शरीर में स्थित पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ अपने-अपने विषय का परिचय बुद्धि को देती हैं। जैसे— मन्त्रियों से राजा श्रेष्ठ है, उसी प्रकार उन पाँच इन्द्रियों से उनका प्रवर्तक वह ज्ञान श्रेष्ठ है।[१] सांख्य दर्शन में इन ग्यारह इन्द्रियों को पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच कर्मेन्द्रिय एवं एक मन कहा गया है।

मन इन्द्रियों में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण इन्द्रिय है जो सात्त्विक अहङ्कार से उत्पन्न होता है। यह उभयात्मक इन्द्रिय है। ज्ञानेन्द्रिय के साथ कार्य करने से वह ज्ञानेन्द्रिय का रूप धारण कर लेता है और कर्मेन्द्रिय के साथ कार्य करते समय वह कर्मेन्द्रिय के समान हो जाता है। यह अत्यन्त सूक्ष्म होते हुए भी सावयव है, अतः एक ही

१. महा०, शान्ति०, १९४/१३।

साथ भिन्न-भिन्न इन्द्रियों के साथ संयुक्त हो जाता है। यह इन्द्रियों के ज्ञान-प्राप्त करने तथा कार्य करने में बहुत ही सहायक सिद्ध होता है। मन ही ज्ञान का आधार है तथा ज्ञान को आत्मा तक पहुँचाने का माध्यम है। मन वस्तुतः लोचदार इन्द्रिय है। संकल्प और विकल्प उसके विषय हैं, धर्म है, स्वरूप है। किसी कार्य को किया जाये या न किया जाये, इस प्रकार के विचार को संकल्प-विकल्प कहते हैं, जो मन की क्रिया है।

चक्षु, श्रवणेन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय, रसनेन्द्रिय, और स्पर्शेन्द्रिय ये पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ हैं, जिनके माध्यम से बाह्य ज्ञान प्राप्त होता है। इन्हें बुद्धीन्द्रिय भी कहा जाता है।[1] चक्षु का विषय रूप, श्रोत्र का शब्द, घ्राण का गन्ध, जिह्वा का रस तथा त्वक् का स्पर्श है। पहले इन्द्रिय का अपने विषय से सम्बन्ध होता है, इसके पश्चात् आन्तर साधन अपना कार्य करते हैं और तब हमें ज्ञान होता है। ज्ञानेन्द्रियों से गृहीत विषय का मनन मन से, अभिमान अहंकार से तथा निश्चय बुद्धि के द्वारा होता है। श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, जिह्वा एवं नासिका ये पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ सर्वत्र स्वीकृत हैं, परन्तु **महाभारत**[2] के एक स्थल पर पाँच इन्द्रिय, चित्त, मन एवं बुद्धि इन आठ तत्त्वों के समूह को ज्ञानेन्द्रिय की संज्ञा दी गयी है।

वाक्, पाणि, पाद, पायु और उपस्थ ये पाँच कर्मेन्द्रियाँ हैं।[3] इनके द्वारा जो कार्य सम्पादित होते हैं वे वाक् का ध्वन्युत्पादन, पाणि का शिल्प अर्थात् बाह्य द्रव्य का यथेष्ट ग्रहण, स्थापन आदि पाद का गमनागमन, पायु का मलोत्सर्ग एवं उपस्थ का प्रजनन है।[4] कर्मेन्द्रियों का कार्य करने का ढंग ज्ञानेन्द्रियों से भिन्न है। जिस क्रिया को करना होता है, उसके अनुकूल संस्कार अथवा वासना किसी उद्‌बोधक निमित्त के द्वारा मन में स्मृतिरूप में उठ आती है और मन उस भावी क्रिया के सम्बन्ध में संकल्प-विकल्प करता है, अहंकार अभिमान तथा बुद्धि निश्चय करती है। निश्चय के पश्चात् चेतन आत्मा की प्रेरणा से वे कर्मेन्द्रियाँ क्रियानुष्ठान में तत्पर हो जाती हैं।

---

१. बुद्धिपूर्वकपर्यालोचनमिति बुद्धीन्द्रियाण्याहुः सांख्याचार्याः । -जयम०, २६।

२. चित्तमिन्द्रियसङ्घात मनोबुद्धिस्तथाष्टमी।
अष्टौ ज्ञानेन्द्रियाण्याहुरेतान्यध्यात्मचिन्तकाः ।। -महा०, १२/२७५/१८।

३. कर्मेन्द्रियाणि वाक्पाणिपादपायूपस्थानि पञ्च, ज्ञानेन्द्रियाणि च चक्षुःश्रोत्रत्वग्रसन-घ्राणाख्यानि पञ्च। -सां०प्र०भा०, २/१९।

४. रूपरसगन्धस्पर्शशब्दा वक्तव्यादातव्य-गन्तव्यानन्दयितव्योत्सृष्टव्याश्चोभयो-र्ज्ञानकर्मेन्द्रिययोर्दश विषयाः । -वहीं, २/२८।

जयमङ्गलाकार[1] के अनुसार "कर्मसाधकानि इन्द्रियाणि" की व्युत्पत्ति से इन्हें कर्मेन्द्रियाँ कहा गया है। **मार्कण्डेयपुराण**[2] में भी यह कहा गया है कि गति, विसर्ग, आनन्द, शिल्प और वाक्य कर्मों को करने के कारण कर्मेन्द्रियाँ हैं। पञ्चकर्मेन्द्रियों के अलावा **महाभारत**[3] के एक स्थल पर बल को छठीं कर्मेन्द्रिय माना गया है।

तन्मात्र शब्द का अर्थ होता है— "तदेव इति तन्मात्रम्।" भूतादि अर्थात् तामस अहंकार से तन्मात्रों की उत्पत्ति होती है। विन्ध्यवासी महत्तत्व से ही तन्मात्रों की उत्पत्ति स्वीकार करते हैं।[4] परन्तु और सभी दार्शनिकों ने अहङ्कार से ही तन्मात्रों की उत्पत्ति स्वीकार की है। जब अहङ्कार में सत्त्व अंश अत्यन्त न्यून हो जाता है तथा तामस का अधिक्य होता है तब तन्मात्ररूप अधिभूत सृष्टि होती है। यह सृष्टि भी इन्द्रियों से ग्राह्य नहीं होती, अतः व्यवहार की दृष्टि से तन्मात्रों को सूक्ष्मभूत कहते हैं। शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध ये पाँच तत्त्व अहंकार से उत्पन्न होते हैं, किन्तु वे स्थूल हैं। उनमें जो पाँच तन्मात्राएँ अभिव्यक्त हैं, वे सूक्ष्म और अविशेष हैं।

वाचस्पति मिश्र के अनुसार तन्मात्र पृथक्-पृथक् अनुभूत न होने के कारण अविशेष और सूक्ष्म कहलाते हैं। इन तन्मात्राओं में विशेष भाव नहीं है। इस कारण इनकी संज्ञा अविशेष है। ये अविशेष तन्मात्राएँ शान्त, घोर एवं मूढ़ नहीं हैं अर्थात् इनको सुख, दुःख या मोह रूप से अनुभव नहीं हो सकता। आचार्य माठर एवं गौड़पाद ने तन्मात्रों को दुःख-मोहरहित एवं सुखात्मक माना है तथा इन्हें देवताओं के अनुभव का विषय कहा है।

अविशेष सूक्ष्म तन्मात्रों से अविशेष एवं स्थूल पञ्चमहाभूतों की उत्पत्ति होती है।[5] शब्द-तन्मात्र से शब्दगुण वाला आकाश, शब्द-तन्मात्र से युक्त स्पर्शतन्मात्र से शब्द-स्पर्श-गुणों वाला वायु, शब्द और स्पर्श तन्मात्रों से युक्त रूपतन्मात्र से

---

१. कर्मेन्द्रियाणि कर्मभिर्निर्वर्तनात् । -जयम०, २६।

२. मा०पु०, ४५/५१।

३. बलं षष्ठं षडेतानि.... । -महा०, १२/२७५/२२।

४. इन्द्रिय-तन्मात्रयोश्च कार्यकारणभावस्याभावात् क्रमनियमो नास्ति।
-सां०सा०पूर्व भाग तृतीय परि०, पृष्ठ-३०८।

५. नास्ति विशेषः शान्तघोरमूढत्वादिरूपो यत्रेत्यविशेषो भूतसूक्ष्मं पञ्चतन्मात्राख्यं तस्माच्छान्तादिरूपविशेषवत्वेन विशेषाणां स्थूलानां महाभूतानामारम्भः।
-सां०प्र०भा०, १/६२।

शब्द, स्पर्श और रूप गुणों वाला तेजस्, शब्द, स्पर्श, रूप और रस-तन्मात्र से शब्द, स्पर्श, रूप एवं रस गुणों वाला अप् तथा शब्द, स्पर्श, रूप और रस तन्मात्रों से युक्त गन्ध-तन्मात्र से शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध गुणों वाली पृथिवी उत्पन्न होती है।

यहाँ प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि इन्हें महाभूत क्यों कहा गया है। **महाभारत** के शान्तिपर्व के भारद्वाज-भृगु-संवाद में इसका विशेष रूप से वर्णन है। भारद्वाज का प्रश्न है कि लोक में ये पाँच धातुएँ ही महाभूत कहलाती हैं, जिन्हें ब्रह्मा ने सृष्टि के आदि में रचा था। ये ही इन समस्त लोकों में व्याप्त हैं। परन्तु जब ब्रह्मा ने और भी हजारों भूतों की रचना की है तब इन पाँचों को ही महाभूत कहना कहाँ तक तर्कसंगत है? भृगु ने इसके उत्तर में कहा है कि इन पाँच भूतों के साथ ही "महा" शब्द जोड़ा जाता है, इन्हीं से भूतों की उत्पत्ति होती है अतः इन्हीं के लिए महाभूत शब्द का प्रयोग हुआ है।[१] शब्द आकाश का, स्पर्श वायु का, रूप तेज का, रस जल का एवं गन्ध सम्पूर्ण प्राणियों को धारण करने वाली पृथ्वी का लक्षण है।

उपर्युक्त पच्चीस तत्त्वों में पुरुष और प्रकृति ही दो मूल तत्त्व हैं। पुरुष के संयोग से प्रकृति की साम्यावस्था भंग हो जाती है और उसमें विषमता उत्पन्न होती है। विषमता से प्रकृति गतिशील होती है, जिसके परिणामस्वरूप महदादिक्रम से अन्य सभी तत्त्वों का विकास होता है। पञ्चमहाभूतों, मन तथा इन्द्रियों के ही संघातों से अनेकतामूलक जीव-जगत् का उद्भव होता है। पुरुष स्वभावतः प्रकृति से अनासक्त है, किन्तु जगत् में वह प्रकृति के कार्य-कलाप से बद्ध जैसा लगता है। ज्ञान द्वारा इसी सम्बद्धता को दूर करके पुरुष द्वारा अपने अस्तित्व का अनुभव करना ही मोक्ष है। इस प्रकार एक तत्त्व से अनेक तत्त्व का विकास हुआ, इस बात को स्पष्ट करते हुए **कठोपनिषद्** में कहा गया है कि इन्द्रियों से परे अर्थ, अर्थों से परे मन, मन से परे बुद्धि, बुद्धि से परे आत्मा या महान्, महान् से परे अव्यक्त, अव्यक्त से परे पुरुष और पुरुष से परे कुछ नहीं; क्योंकि वह परागति है।[२]

---

१. महा०, शान्तिपर्व, १८४/२-३।

२. कठोपनिषद्, १/३/१०-११।

तृतीय अध्याय

काश्मीर शैव दर्शन में सृष्टि-सम्बन्धी चिन्तन

उद्भव एवं विकास

दर्शन के विकास में भारतवर्ष सदैव अग्रणी रहा है। यहाँ के दार्शनिकों के लिए दर्शन केवल बौद्धिक विलास की चीज ही नहीं रही है अपितु यहाँ के मनीषियों की जीवन-शैली रही है। यहाँ के प्रत्येक दर्शन का आधार धर्म रहा है। भारतीय दर्शन की तीन प्रमुख धाराएं हैं— वैदिक, अवैदिक और आगमिक। वैदिक दर्शन आस्तिक सम्प्रदाय का है तो अवैदिक दर्शन नास्तिक तथा आगमिक दर्शन की एक कड़ी में काश्मीर शैव दर्शन का विकास हुआ, जो वैदिक धर्म को अपने अन्दर आत्मसात् किये हुए है। इस दर्शन की मान्यता है कि साधक को गर्भाधान से लेकर विवाह तक के समस्त संस्कारों को वैदिक विधान के अनुसार निभाना चाहिए।[१] यह सर्वोत्तम धर्म है। इसके बाद भी यह दर्शन अपने शुद्ध आगमिक स्वरूप को अपनाये हुए है; क्योंकि इस दर्शन के सभी सिद्धान्त आगमों पर ही आधारित हैं। इस प्रकार काश्मीर शैव दर्शन शुद्ध आगमिक दर्शन होते हुए भी वैदिक धर्म का पोषक है।

काश्मीर शैव दर्शन के स्रोत शैवागम है। वेदों के समान शैवागमों के उद्भव को भी शैव दार्शनिक अनादिकाल से ही मानते हैं। शैवागमों को शिव का प्रकाशन कहा गया है। यह मानने में कोई तार्किक कठिनाई नहीं है, क्योंकि काश्मीर शैव दर्शन के अनुसार वाणी अपने परा स्तर पर शिव के साथ अविभाज्य अवस्था में रहती है, जो अपने विकास के वैखरी स्तर पर बाह्य प्रकट होती है।[२] दूसरे, यदि शैवागम शिवज्ञानप्राप्त मुक्त पुरुष की रचना है तो भी उन्हें शिव की ही रचना कहा जायेगा, क्योंकि शिवज्ञानप्राप्त व्यक्ति को शिवरूप ही कहा जाता है।

---

१. गर्भाधानादितः कृत्वा यावदुद्वाहमेव च।
तावत्तु वैदिकं कर्म पश्चाच्चैवं ह्यनन्यभाक्।। ब०आ०स०, ३/५/२७८

२. पाण्डेय, के.सी., ऐन हिस्टॉरिकल एण्ड फिलॉसफिकल स्टडी, अभिनवगुप्त, पृ० १४०-१४३.

किसी दर्शन की प्राचीनता को जानने के लिए मुख्यतः उसके ऐतिहासिक तथा शास्त्रीय आधार पर दृष्टिपात करना आवश्यक होता है। ऐतिहासिक खोजों के आधार पर शैव दर्शन अत्यन्त प्राचीन दर्शन प्रतीत होता है। मोहनजोदड़ों और हड़प्पा की खुदाई से यह पता चलता है कि शैव धर्म का इतिहास ताम्रपाषाण युग का अथवा उससे भी पूर्व काल का है।[१] अतः इस दर्शन को पाँच हजार ई० पूर्व के आस-पास अनुमानित किया जाता है।[२]

इसका चिह्न वेदों में भी दृष्टिगोचर होता है। **ऋग्वेद** के प्रधान देवता इन्द्र माने जाते हैं, लेकिन वहाँ भी शिवलिङ्ग की उपासना का उल्लेख है।[३] **यजुर्वेद** में वह रुद्र के रूप में प्रतिष्ठित रहा है। **यजुर्वेद** के रुद्र देवता वैदिक शब्दों और वैदिक नामों के रंगों में रंगे हुए भारत के प्राचीनतर निवासी शैवों के पशुपति शिव ही हैं। इसके अतिरिक्त **सामवेद, शुक्लयजुर्वेद** आदि में रुद्र की प्रार्थना में कहे गये छन्दों का विवरण मिलता है।[४] जिस समय बौद्ध एवं वेदान्तियों के मध्य अनात्मवाद तथा आत्मवाद का विरोध चल रहा था उस समय काश्मीर शैव परम्परा में ईश्वरवाद का उदय हुआ।[५] इसके आधार पर शैव दर्शन वैदिक काल के आस-पास का माना जाता है।

शास्त्रीय दृष्टि से भी शैव दर्शन का इतिहास दृष्टिगोचर होता है। आचार्य सोमानन्द ने **शिवदृष्टि** में शैव दर्शन के उद्गम और विकास पर प्रकाश डालते हुए कहा है कि शैव दर्शन अतिप्राचीन काल में ऋषि महात्माओं के पास था। कलियुग के आ जाने पर जब वे ऋषि किन्हीं कलापि ग्राम आदि मानव दृष्टि से अदृश्य स्थानों में चले गए, तो शैव विद्या का उच्छेद सा हो गया। तब कैलाश पर्वत पर विचरण करते हुए भगवान् श्रीकण्ठनाथ की प्रेरणा से मुनि दुर्वासा ने अपने शिष्य त्र्यम्बकादित्य के द्वारा अद्वैत शैव दर्शन के शिक्षण क्रम को पुनः प्रारम्भ करवा दिया।[६] इस प्रथम त्र्यम्बकादित्य ने कैलाश पर्वत पर रहते हुए कुछ समय तक विद्या का प्रचार किया। फिर अपने शिष्य त्र्यम्बकादित्य द्वितीय को यह प्रचार करने का आदेश

---

१. मार्शल, जॉन, मोहनजोदड़ों एण्ड दि इण्डस सिविलिजेशन,

२. भास्करकण्ठकृत, भास्करी, खण्ड ३, पृ०१ एनटी, पृ० १.

३. शिश्नदेवाह, ऋग्वेद, ७/५/२२;

४. भास्करी, खण्ड ३, पृ०११.

५. शर्मा एल०एन० काश्मीर शैविजम, पृ० ४४.

६. सोमानन्दकृत शिवदृष्टि, ७/१०७.

देकर वे सिद्धलोक को चले गये। इस तरह सिद्धों की चौदहवीं पीढ़ी बीत गयी। पन्द्रहवीं पीढ़ी के त्र्यम्बकादित्य एक बार तीर्थ पर गये। वहाँ उन्होंने एक ब्राह्मण कन्या के साथ विवाह किया उससे सङ्गमादित्य पैदा हुए यही सङ्गमादित्य भ्रमण करते-करते काश्मीर आ गये और यहीं बस गये। इस तरह त्र्यम्बकमठिका कैलाश से आकर काश्मीर में बस गयी। यहाँ आकर यह दर्शन अत्यन्त पुष्पित और पल्लवित हुआ। इसीलिए इसे काश्मीर शैव दर्शन कहा जाता है।

काश्मीर में स्थापित होने के बाद इस त्र्यम्बकमठिका ने अपने क्षेत्र को बहुत विस्तृत किया। सङ्गमादित्य के बाद गुरुओं और शिष्यों की परम्परा में अनेक सिद्ध पुरुष पैदा हुए, जिनको काश्मीर शैव शास्त्र के आगमशास्त्रों का ज्ञान हुआ। इन्होंने जिन आगमशास्त्रों का उपदेश दिया, उन्हीं के आधार पर आगे सोमानन्द जैसे अनुभवी और ज्ञानी विद्वान् ने काश्मीर शैव दर्शन का विकास किया। आचार्य सोमानन्द ने सर्वप्रथम दार्शनिक ग्रन्थ **शिवदृष्टि** की रचना की। इनके समय को लेकर विद्वानों में काफी मतभेद है। किन्तु अपने ग्रन्थ में इन्होंने स्वयं को त्र्यम्बकादित्य की बीसवीं पीढ़ी बताया है। अतः इनके काल से ही काश्मीर शैवागम के उद्भव का काल-निर्णय किया जा सकता है।

भगवद्गीता-विवरण के अन्त में **स्पन्दकारिका** के विवृतिकार राजानक रामकण्ठ ने स्वयं को मुक्ताकण का अनुज बताया है।[१] **राजतरंगिणी** से ज्ञात होता है कि मुक्ताकण काश्मीर नरेश अवन्तिवर्मा (८५५-८८ई०) के समकालीन थे।[२] अतः रामकण्ठ भी अवन्तिवर्मा के समसामयिक सिद्ध होते हैं। **स्पन्दविवृति** में रामकण्ठ ने स्वयं को आचार्य उत्पलदेव का शिष्य ओर उत्पलदेव को आचार्य सोमानन्द का शिष्य बताया है।[३]

प्रत्येक पीढ़ी के लिये पच्चीस वर्ष का कार्य-काल मान ले तो रामकण्ठ के प्रगुरु आचार्य सोमानन्द का अविर्भाव आठवीं शती ईसवी की समाप्ति के आस-पास हुआ होगा और सोमानन्द का चतुर्थ पूर्वपुरुष संगमादित्य उससे सौ वर्ष पूर्व काश्मीर

---

१. यो नारायण इत्यभूच्छ्रुतनिधिः श्रीकान्यकुब्जे द्विज-
स्तद्वंशे स्वगुणप्रकर्षखचितो मुक्ताकणाख्योऽभवत्।
तस्यैषा सदृशानुजेन रचिता रामेण विद्वज्जनः
श्लाघ्यत्वात्सफलश्रमेत्र भगवद्गीतापदार्थप्रथा।।–भगवद्गीता-विवरण, पृ० ४०५।

२. कल्हणकृत राजतरंगिणी, ५/३४.

३. शिवदृष्टि, पृ० २; उत्पलदेवकृत ईश्वरप्रत्यभिज्ञा, भाग२, पृ० २७१.

में बस गया होगा। इस प्रकार संगमादित्य का सोलहवाँ पूर्वज त्र्यम्बकादित्य उससे चार सौ वर्ष पूर्व हुआ होगा। इस आधार पर सोमानन्द के बीसवें पूर्वपुरुष त्र्यम्बकादित्य को महामुनि दुर्वासा से शैव शास्त्रकी प्राप्ति लगभग तीसरी शती ईसवी के बाद किसी समय हुई होगी।

काश्मीर शैव दर्शन के विकास में सोमानन्द का नाम महत्त्वपूर्ण है जिन्होंने इस दर्शन को अपने ग्रन्थ **शिवदृष्टि** में तर्कपूर्ण व्यवस्थित रूप दिया। सर्वप्रथम इन्होंने ही मुक्ति के लिए प्रत्यभिज्ञा का मार्ग बताया। सोमानन्द का समय नवीं शताब्दी के आसपास अनुमानित किया गया है।[१] यह दर्शन एक अद्वैतवादी दर्शन है। शंकर का वेदान्त भी अद्वैतवादी वेदान्त है। इस अद्वैतवेदान्त का विकास ईसा की आठवीं और नवीं शताब्दी में हो चुका था। इसलिए काश्मीर शैवदर्शन का विकास नवीं शताब्दी के मध्य या आठवीं शताब्दी के आसपास ही प्रतीत होता है। इस आधार पर आचार्य सोमानन्द का आविर्भाव आठवीं शती के पूर्वार्द्ध माना जा सकता है। डॉ० के०सी० पाण्डेय भी सोमानन्द का काल ८५०ई० मानते हैं। अत: काश्मीर शैव दर्शन का प्रारम्भ ८५०ई० के आस-पास मानना ही अधिक तर्कसंगत होता है।

सोमानन्द के बाद उनके पुत्र एवं उनके शिष्य उत्पलदेव का नाम आता है जिनका समय दसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध अनुमानित किया गया है। उत्पलदेव के बाद उनके पुत्र और उनके शिष्य लक्ष्मणगुप्त का नाम आता है, जो महान् काश्मीर शैव दार्शनिक अभिनवगुप्त के गुरु थे। इनका कोई विवरण प्राप्त नहीं है। डॉ० के०सी० पाण्डेय ने काश्मीर शैव दर्शन के विकास में अभिनवगुप्त की रचनाओं का महत्त्वपूर्ण योगदान माना है। डॉ० पाण्डेय के अनुसार उनका समय ९५० से ९६०ई० है।[२]

आचार्य एवं साहित्य

अद्वैतवादी त्रिकदर्शन[३] का साहित्य अत्यन्त बृहद् है। इस दर्शन के आधारभूत उपलब्ध साहित्य को तीन भागों में बाँटा जा सकता है : आगम शास्त्र, स्पन्दशास्त्र और प्रत्यभिज्ञाशास्त्र।

---

१. ऐन हिस्टॉरिकल, एण्ड फिलॉसफिकल स्टडी, अभिनवगुप्त, पृ० १६१.

२. वहीं पृ० ९.

३. तच्च (त्रिकशास्त्रं) सिद्धानामकमालिन्याख्यखण्डत्रयात्मकत्वात्त्रिविधम्। अभिनवगुप्तकृत, तन्त्रालोक, भाग १, पृ० ४९.

आगमशास्त्र

इसके स्रष्टा और वक्ता स्वयं भगवान् शिव ही माने जाते हैं।[१] भगवान् शिव ने इनका ज्ञान ऋषियों को प्रदान किया था जो गुरु-शिष्य परम्परा से पूरे जगत् में विकसित होता रहा।[२] इस सम्प्रदाय को विकसित करने में आगम ग्रन्थों की महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है। काश्मीर शैवागमों में **मालिनीविजयोत्तरतन्त्र, स्वच्छन्दतन्त्र, विज्ञानभैरव, नेत्रतन्त्र, स्वायम्भुवतन्त्र, रुद्रयामलतन्त्र, नैश्वासतन्त्र, आनन्द भैरव** और **उच्छुष्म भैरव, शिवसूत्र** मुख्य माने गये है।[३] **मातङ्गतन्त्र** और **मृगेन्द्रतन्त्र** को भी मुख्य आगमों के अन्तर्गत माना गया है।[४] **शिवसूत्र** पर वृत्ति, भास्कर और वर्धराज के वार्तिक और क्षेमराज की विमर्शिनी व्याख्याएँ मिलती हैं। **मालिनीविजयोत्तर, स्वच्छन्दतन्त्र** और **विज्ञानभैरव** पर भी व्याख्याएँ प्राप्त हैं।

मालिनीविजयोत्तरतन्त्र का शैवतान्त्रिक सम्प्रदायों में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है और उन सबमें यह सर्वश्रेष्ठ है। इसके दो नाम प्रसिद्ध हैं—**पूर्वमालिनी** और **उत्तरमालिनी।** संस्कृत की वर्णमाला के शुद्ध वैज्ञानिक उदयक्रम का नाम **पूर्वमालिनी** है। जब वर्णों के स्वाभाविक और वैज्ञानिक उद्भवक्रम को अस्त-व्यस्तरूपेण लिया जाता है तब उसे **उत्तरमालिनी** कहा जाता है। परमतत्त्व के जिज्ञासु नारदादि ऋषियों को भगवान् स्कन्द ने इस शिवमुखोद्भूत तन्त्र का उपदेश दिया था।[५] इनमें आगम के महत्त्वपूर्ण अंग योग और तत्सम्बन्धी क्रियाओं का प्रतिपादन है। वर्तमान रूप में उपलब्ध **मालिनीविजयोत्तरतन्त्र सिद्धयोगीश्वरीतन्त्र** का उत्तर भाग प्रतीत होता है।[६]

विज्ञानभैरव की उत्पत्ति देवी और भैरव के संवाद के रूप में हुई है। इस तन्त्र में काश्मीर शैवागम के ज्ञान और योगपक्षों का विवेचन है। १६१ छन्दों में ग्रथित इस तन्त्र पर क्षेमराज एवं शिवोपाध्याय की विवृति और भट्ट आनन्द की **विज्ञानकौमुदी** नामक टीका है।

---

१. विज्ञानभैरवविवृति, पृ० ७.

२. शिवदृष्टि, आ० ७/१२२.

३. काश्मीर शैविजम, पृ० ८.

४. वहीं, पृ० ८.

५. मालिनीविजयोत्तरतन्त्र अधिकार २३/३९-४३ तथा अधि. १/२-७.

६. शृणु देवि प्रवक्ष्यामि सिद्धयोगीश्वरीमतम् ।
यन्न कस्यचिदाख्यातं मालिनीविजयोत्तरम् ।। वही, १/१३.

स्वच्छन्दतन्त्र को भैरवतन्त्रों (अद्वैत तन्त्रों) में प्रधान कहा गया है।[१] इसका वर्ण्य-विषय उपासना और क्रिया (कर्मकाण्ड) है। अन्य तन्त्रों की भाँति इसका उद्भव भी देवी और भैरव के बीच हुए दार्शनिक संवाद से हुआ है।[२] इस तन्त्र पर आचार्य क्षेमराज की **उद्द्योत** नाम की टीका है।[३] इस तन्त्र में अनेक पौराणिक आख्यानों का उल्लेख है और उनके वर्णन में भी पौराणिक वर्णन-पद्धति ग्रहण की गई है।

नेत्रतन्त्र काश्मीर शैवागम के साधना-पक्ष की व्याख्या से सम्बन्धित है। क्षेमराज के अनुसार **स्वच्छन्दतन्त्र** की भाँति यह तन्त्र भी पहले द्वैतव्याख्या-परक था। यह तन्त्र अद्वैत तन्त्रों के साथ द्वैत और द्वैताद्वैत तन्त्रों को भी सिद्धि देने वाला बताया गया है।[४] साधक को मुक्ति तक ले जाने (नयते) और महान् भय से उसका त्राण करने के कारण यह तन्त्र **नेत्रतन्त्र** नाम से जाना जाता है।[५] **स्वायम्भुवतन्त्र** और **रुद्रयामलतन्त्र** के सम्बन्ध में प्रमाणाभाव के कारण कोई समुचित जानकारी नहीं हैं।

शिवसूत्र के स्रष्टा स्वयं भगवान् शिव माने जाते हैं।[६] वसुगुप्त के शिष्य भट्ट कल्लट ने अपने ग्रन्थ **स्पन्दसर्वस्व** में उललेख किया है कि स्वयं भगवान् शिव से स्वप्न में वसुगुप्त को शिवसूत्रों का ज्ञान प्राप्त हुआ था।[७] राजानक रामकण्ठ (स्पन्दविवृतिकार), उत्पलवैष्णव (स्पन्दप्रदीपिकाकार) और भास्कर (शिवसूत्रवार्तिककार) के अनुसार **शिवसूत्र** स्वयं भगवान् शिवकृत अवश्य है किन्तु वसुगुप्त को शिवसूत्रों का ज्ञान एक सिद्ध से प्राप्त हुआ था।

स्पन्दशास्त्र

स्पन्दशास्त्र काश्मीर शैव दर्शन के साधना-पक्ष से सम्बन्धित है। **स्पन्दकारिका** इसका मूलभूत ग्रन्थ है, जिसका दूसरा नाम **स्पन्दसूत्र** भी है। **स्पन्दकारिका** के

---

१. समुद्भूतभैरवतन्त्रजातमध्ये प्रधानभूतं दिव्यं सर्वभोगापवर्गप्रदं तन्त्रं, तत्त्वया गूहनीयं ज्येष्ठशक्तिपातवतामेव प्रकाश्यं नेतरेषाम् ।

–क्षेमराजकृत स्वच्छन्दतन्त्र, भाग ४, पृ० २६.

२. मुदितं भैरवं दृष्ट्वा देवी वचनमब्रवीत् । वही पटल १/४-७.

३. क्षेमराजो विवृणुते श्रीस्वच्छन्दमयं मनाक्। वहीं, प्रारम्भ.

४. नेत्रतन्त्र, अधिकार १६/२३,

५. शिवः सूत्रमरीरचत् ।।सूत्रमाह, महेश्वरः। –भास्करकृत शिवसूत्रवार्तिक, पृ० ५.

६. स्पन्दवृत्ति, कल्लटकृत उपसंहार, पृ० ४०.

७. क्षेमराजकृत शिवसूत्रविमर्शिनी पृ० २-३ तथा क्षेमराजकृत स्पन्दनिर्णय, पृ० २.

रचयिता के सम्बन्ध में दार्शनिकों में मतभेद है। उत्पल वैष्णव[१] और भास्कराचार्य[२] भट्टकल्लट को **स्पन्दकारिका** का कर्त्ता मानते हैं और क्षेमराज के **स्पन्दनिर्णय** में प्राप्त कारिका के अनुसार **स्पन्दकारिका** को वसुगुप्तकृत माना जाता है।[३] प्राय: दार्शनिकों का मत है कि **स्पन्दकारिका** के रचयिता वसुगुप्त ही हैं। **स्पन्दकारिका** में **शिवसूत्र** में प्रतिपादित मुख्य सिद्धान्तों का विस्तृत विवेचन है।

स्पन्दकारिका पर भट्टकल्लट की **स्पन्दसर्वस्ववृत्ति,** रामकण्ठ की **स्पन्दविवृति,** उत्पलवैष्णव की **स्पन्दप्रदीपिका** और क्षेमराज की **स्पन्दसन्दोह** तथा **स्पन्दनिर्णय** आदि मुख्य टीकायें हैं। **स्पन्दसन्दोह** में केवल प्रथम कारिका पर टीका है।

वसुगुप्त ने अपने सम्बन्ध में कुछ नहीं लिखा। उसके बारे में भट्टकल्लट ने जो कुछ लिखा है उससे ज्ञात होता है कि वह कल्लट का गुरु था। अतएव कल्लट के काल से ही वसुगुप्त का काल-निर्णय होता है। अनुमान किया जाता है कि वसुगुप्त ८२५ई० और ८५०ई० के मध्य किसी समय हुआ होगा। वसुगुप्त भी अभिनवगुप्त के पूर्व-पुरुषों में से था अथवा उसके सजातीय ब्राह्मण परिवार से सम्बन्धित था।

भट्ट कल्लट वसुगुप्त के शिष्य और रामकण्ठ उत्पलदेव के शिष्य माने जाते हैं। **राजतरंगिणी** के अनुसार भट्टकल्लट और रामकण्ठ समकालीन सिद्ध हैं। डॉ० के०सी० पाण्डेय ने रामकण्ठ का समय ९५०-९७५ई० के बीच माना है,[४] जिसपर मतभेद है। रामकण्ठ के अनुसार कल्लट की वृत्ति को स्पष्ट करने के लिए ही उसने अपनी विवृति की रचना की थी।[५] रामकण्ठ की व्याख्या से पूर्व कल्लटकृत **स्पन्दकारिका** की, जो व्याख्या थी, उसी का स्पष्ट रूप **स्पन्दविवृति** में रखा गया है।

उत्पलवैष्णव त्रिविक्रम का पुत्र था तथा नारायण स्थान में उत्पन्न हुआ था।[६] उत्पल वैष्णव ने आचार्य उत्पलदेव (ईश्वरप्रत्यभिज्ञाकार) का अपनी **स्पन्दप्रदीपिका** वृत्ति में उल्लेख किया है।[७] उत्पल वैष्णव का समय उत्पलदेव (प्रत्यभिज्ञासूत्रकार) और भास्कराचार्य (शिवसूत्रवार्तिककार) के पश्चात् और अभिनवगुप्त के पूर्व किसी

---

१. उत्पलवैष्णवकृत स्पन्दप्रदीपिका, प्रारम्भ श्लोक ७,८.

२. शिवसूत्रवार्तिक, पृ० २-३.

३. स्पन्दनिर्णय, निःष्यन्द ४/२.

४. ऐन हिस्टॉरिकल एण्ड फिलॉसफिकल स्टडी, अभिनवगुप्त पृ० ९५.

५. स्पन्दविवृति, श्लोक ५ तथा पृ० ११.

६. स्पन्दप्रदीपिका, श्लोक ५.

७. वहीं, पृ० ३,३०.

समय हुआ होगा। **स्पन्दप्रदीपिका** में उत्पलवैष्णव-कृत एक और ग्रन्थ **भोग-मोक्ष- प्रदीपिका** का भी उल्लेख मिलता है।

क्षेमराज अभिनवगुप्त के शिष्य थे। अभिनवगुप्त की **ईश्वरप्रत्यभिज्ञा-विवृतिविमर्शिनी** की रचना १०१४ई० में हुई थी,[१] अतएव क्षेमराज का साहित्य-रचनाकाल लगभग १०२५ई० से लेकर १०५०ई० तक माना जा सकता है।

प्रत्यभिज्ञाशास्त्र

यह काश्मीर शैव शिद्धान्त का दर्शनशास्त्र है। इसने ही सबसे पहले शैवमत का दार्शनिक शैली से विवेचन किया था। इसमें तर्क, वाद-प्रतिवाद का प्रयोग किया गया है। **स्पन्दशास्त्र** और **प्रत्यभिज्ञाशास्त्र** के सिद्धान्तों में तत्त्वतः न कोई भेद है और न कोई विरोध।

इस शास्त्र का मूल ग्रन्थ सोमानन्द की **शिवदृष्टि** है। इसमें जिन दार्शनिक सिद्धान्तों की स्थापना की गयी थी उन्हीं की विस्तृत व्याख्या **प्रत्यभिज्ञाशास्त्र** का मुख्य विषय है।[२] सोमानन्द के शिष्य उत्पलदेव ने **ईश्वरप्रत्यभिज्ञा** लिखी। इस पर निम्नलिखित व्याख्याएँ प्राप्त हैं। स्वयं उत्पलदेव द्वारा लिखी वृत्ति, अभिनवगुप्त द्वारा लिखी हुई **प्रत्यभिज्ञा विमर्शिनी** और **प्रत्यभिज्ञाविवृतिविमर्शिनी**। क्षेमराज ने **प्रत्यभिज्ञाहृदयम्** लिखा जिसमें प्रत्यभिज्ञा शास्त्र का सार आ गया है। अभिनवगुप्त ने १२ खण्डों में तन्त्रालोक और एक पृथक् ग्रन्थ **तन्त्रालोकसार** लिखा, जिसमें शैव दर्शन के सभी सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया गया है।

सोमानन्द की **शिवदृष्टि** काश्मीर शैव दर्शन का प्रथम दार्शनिक ग्रन्थ है। इसमें शैव दर्शन के मूल सिद्धान्तों तथा तत्त्वों की सृष्टि का स्पष्ट वर्णन किया गया है। उन्होंने मानव-जीवन के पारमार्थिक और व्यावहारिक प्रयोजनों की प्राप्ति के उपाय बनी हुई अनेकों शैव साधनाओं का निरूपण किया है।

उत्पलदेव सोमानन्द के शिष्य थे। डॉ० पाण्डेय ने उत्पल को सोमानन्द का पुत्र बताया है।[३] परन्तु यह बात सत्य प्रतीत नहीं होती, क्योंकि उत्पलदेव ने स्वयं

---

१. ईश्वरप्रत्यभिज्ञा, भाग २, भूमिका, पृ० ९ (पादटिप्पणी).

२. सूत्रं वृत्तिर्विवृतिर्लघ्वी बृहतीत्युभे विमर्शिन्यौ।
प्रकरणविवर्णनपंचकमिति शास्त्रं प्रत्यभिज्ञायाः।। माधवाचार्यकृत सर्वदर्शनसंग्रह,

३. सोमानन्दात्मजोत्पलजलक्ष्मणगुप्तानाथः।—अभिनवगुप्तकृत तन्त्रालोक, पृ०९९.

को सोमानन्द का शिष्य कहकर अपने पिता का नाम उदयाकर बताया है।[१] उत्पल का काल ८५०ई० के आस-पास माना जाता है। इनके ग्रन्थों में सबसे महत्त्वपूर्ण **ईश्वरप्रत्यभिज्ञाकारिका** है। अभिनवगुप्त ने इसे सोमानन्द के ज्ञान का प्रतिबिम्ब कहा है।[२] इसमें वर्णित सूत्रों के द्वारा ही काश्मीर से बाहर काश्मीर शैव दर्शन प्रत्यभिज्ञादर्शन के नाम से प्रसिद्ध हुआ है। इससे बढ़कर काश्मीर शैव दर्शन में अन्य ग्रन्थ दृष्टिगत नहीं होता।

आचार्य अभिनवगुप्त आचार्य उत्पलदेव के शिष्य थे।[३] परन्तु इस बात पर विवाद उत्पन्न होता है; क्योंकि **तन्त्रालोक** में अभिनवगुप्त को उत्पल का शिष्य न बताकर प्रशिष्य बताया गया है।[४] वे बहुत बड़े शैवयोगी थे और आज भी उन्हें काश्मीर शैव दर्शन का सर्वोत्तम अधिकारी शैवाचार्य समझा जाता है। दार्शनिकों की मान्यता है कि अभिनवगुप्त द्वारा ही शैव दर्शन को पूर्णता प्राप्त हुई है। इनका जन्मकाल ९५०ई० और ९६०ई० के बीच माना गया है। **ईश्वरप्रत्यभिज्ञा** पर अभिनवगुप्त की **विमर्शिनीवृत्ति सर्वाङ्ग सुन्दर** टीका है। काश्मीर शैव दर्शन के साधनात्मक क्षेत्र में अभिनवगुप्त के ग्रन्थ **तन्त्रालोक** और **परात्रिंशिकाविवरण** अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। **मालिनीविजयतन्त्र** पर अभिनवगुप्तकृत वर्तिका का भी अपना एक स्थान है। इसके अतिरिक्त अभिनवगुप्त ने शैवदर्शन पर अनेक स्वतन्त्र टीकाएं लिखी हैं। इनके कई दार्शनिक गीत—**क्रमस्तोत्र, भैरवस्तोत्र, अनुभवनिवेदनस्तोत्र, देहस्थदेवतास्तोत्र** इत्यादि साहित्य की अमूल्य निधि हैं।

क्षेमराज अपने समय के प्रकाण्ड पण्डित थे। ये अभिनवगुप्त के प्रधान शिष्य थे। इन्होंने **प्रत्यभिज्ञाहृदय, स्पन्दसन्दोह, पराप्रवेशिका** तथा **बोधिविलास** नामक स्वतन्त्र ग्रन्थों के अतिरिक्त अनेक ग्रन्थों पर टीकाएं लिखकर शैव-शास्त्र को पाठकों के लिए सुगम बना दिया **प्रत्यभिज्ञाहृदय** में क्षेमराज ने समस्त प्रत्यभिज्ञा दर्शन का सार प्रस्तुत किया है। इस ग्रन्थ का शैव या त्रिक वाङ्मय में वही स्थान है, जो वेदान्तदर्शन में वेदान्तसार का है। इनके शिष्य योगराज ने **परमार्थसार** पर एक महत्त्वपूर्ण टीका लिखी है।

---

१. जनस्यायत्नसिद्ध्यर्थमुदयाकरसूनुना।
ईश्वरप्रत्यभिज्ञेयमुत्पलेनोपपादिता।। -ई०प्र०, भाग-२, ४/२/३.

२. ई०प्र०वि०, भाग१, पृ० २.

३. यदुवंशी, शैवमत, अध्याय ७, पृ० १७१.

४. उवाचोत्पलदेवश्च श्रीमानस्मद्गुरोगुरुः। - तन्त्रालोक, आ० १२/२५.

क्षेमराज के बाद वरदराज और योगराज दो ऐसे शास्त्रकार हैं जो स्वयं को आचार्य क्षेमराज का शिष्य बताते हैं।[१] योगदाज ने **परमार्थसार** पर विवृति लिखी थी और वरदराज ने शिवसूत्रों पर वार्तिक लिखा था। वरदराज की तिथि और निवासस्थान के सम्बन्ध में कुछ भी ज्ञात न हो सकने पर डॉ० पाण्डेय ने वरदराज को अनुमानत: अर्वाचीन लेखक बताया है।[२]

वरदराज क्षेमराज का शिष्य था, जिसने क्षेमराज के श्रीमुख से शिवसूत्रों के ज्ञान का श्रवण किया था। वरदराज के पिता का नाम मधुराज था,[३] जो आचार्य अभिनवगुप्त का शिष्य था। अभिनवगुप्त और क्षेमराज की तिथियों से वरदराज का आविर्भावकाल ११वीं शती ईस्वी की समाप्ति के आस-पास ही मानना युक्तिसंगत है। **शिवसूत्रवार्तिक** के सम्पादक पं० मधुसूदन कौल ने वरदराज का समय १६ वीं शती ईस्वी के प्रारम्भ में बतलाया है।[४]

महेश्वरानन्द माधव का पुत्र था।[५] उसने स्वयं को महाप्रकाश का शिष्य बताया है।[६] उसका लोकप्रचलित नाम गोरक्ष था और महेश्वरानन्द नाम गुरुप्रदत्त है।[७] उसने

१क. महामाहेश्वरश्रीमत्क्षेमराजमुखोद्गताम् ।
अनुसृत्यैव सद्वृत्तिम् अंजसा क्रियते मया ।।
वार्तिकं शिवसूत्राणां वाक्यैरेव तदीरितैः ।।
– शिवसूत्रवार्तिक, प्रारम्भ, पृ० २.

ख. परमार्थसार टीका, पृ० ६१.

२. ऐन हिस्टॉरिकल ऐण्ड फिलॉसफिकल स्टडी, अभिनवगुप्त, पृ० १६०-६१.

३. मधुराजकुमाराणां महाहन्ताधिरोहिणाम् ।
पश्चिमेन तदालोकध्वस्तपश्चिमजन्मना ।।
मया वरदराजेन मायामोहापसारणम् ।
श्रीक्षेमराजनिर्णीतव्याख्यानाध्वानुसारिणा ।।
– शिवसूत्रवार्तिक, उपसंहार.

४. वरदराजकृत शिवसूत्रवार्तिक प्रस्तावना, पृ० ६.

५. महेश्वरानन्दकृत महार्थमंजरी-वृत्ति, पृ० २०२.

६. वहीं, पृ० ४.

७. गोरक्षो लोकधिया देशिकदृष्ट्या महेश्वरानन्दः ।
उन्मीलयामि परिमलमन्तर्ग्राह्यं महार्थमंजर्याम् ।। –वहीं, पृ १.

अपने सम्प्रदाय का नाम देवपाणि बताया है।[१] महेश्वरानन्द ने अपने प्रमुख ग्रन्थ **महार्थमंजरी** में लिखा है कि मुझे प्रत्यभिज्ञा मार्ग के अनुगमन से ही आत्मज्ञान हुआ था।[२] उनकी तिथि का कोई सही या प्रामाणिक प्रमाण नहीं है, अनुमानतः उनके काल को १६ वीं शती ईस्वी के आसपास माना गया है।

उत्तरवर्ती शैवाचार्यों में भास्करकण्ठ भी उल्लेखनीय हैं। भास्करकण्ठ ने अपने गुरु का नाम नरोत्तम कौल बताया है।[३] भास्करकण्ठ की तिथि के सम्बन्ध में कोई लिखित प्रमाण उपलब्ध नहीं है। इस प्रकार १९४७ ई० तक यह गुरु-शिष्य-परम्परा चलती रही। **ईश्वरप्रत्यभिज्ञा** की अभिनवगुप्तकृत विमर्शिनी पर भास्करकण्ठ की अत्यन्त विद्वत्तापूर्ण एवं गम्भीर वृत्ति मिलती है, जिसे **भास्करी** कहा गया है। अभिनवगुप्त की विमर्शिनी टीका को स्पष्टतया समझने में यह वृत्ति अत्यन्त उपयोगी है।

काश्मीर शैवदर्शन के कुछ ऐसे भी शैवाचार्य हुए हैं जिन्हें निश्चयपूर्वक उपर्युक्त किसी भी गुरुपरम्परा में नहीं रखा जा सकता। आचार्य क्षितिकण्ठ उनमें सर्वप्रथम हैं, जिन्होंने कश्मीरी अपभ्रंश में **महानयप्रकाश** नामक ग्रन्थ की रचना की है। यह ग्रन्थ शैव दर्शन के साधनात्मक योग से सम्बन्धित है। नारायण कण्ठ ने **मृगेन्द्रतन्त्र** पर वृत्ति लिखी थी। राजानक आनन्द का **षट्त्रिंशत्तत्त्वसन्दोह** काश्मीर शैव दर्शन के तत्त्व-परिचय का सुन्दर ग्रन्थ है।

परमतत्त्व

काश्मीर शैव दर्शन में शिव ही एकमात्र परमतत्त्व है। इससे भिन्न जो कुछ भी इस विश्व में देखने को मिलता है वह उसी की अभिव्यक्ति है। वह काल, स्थान और कारणता की सीमाओं से परे है।[४] शिव आत्मरूप होते हुए भी परमसत्ता है, क्योंकि वह निरपेक्ष एवं सभी बन्धनों से स्वतन्त्र सत्ता है।[५] वह शुद्ध प्रकाश-स्वरूप है। वह चेतना का अवभासात्मक प्रकाश है। चेतना जहाँ भी होती है-वह सदैव प्रकाशित होती रहती है। प्रकाश का स्वभाव विमर्श होता है। जिस किसी को भी

---

१. श्रीदेवपाणिसम्प्रदायानुप्रविष्टैरस्माभिरनुसन्धीयते। -महार्थमञ्जरीवृत्ति, पृ० १०८.

२. वहीं, पृ० २०२.

३. कौलनेरोत्तमेभ्यश्च विद्योपदेशमासाद्य। भास्करी.

४. त्रिपुररहस्यक, पृ० ७-८.

५. तस्य देवातिदेवस्य परापेक्षा न विद्यते।
परस्य तदपेक्षत्वात्स्वतन्त्रोऽयमतः स्थितः।। -तन्त्रालोक १/५९.

अपना प्रकाश अर्थात् अपना अभास होता है, उसे साथ ही साथ अपने अस्तित्व की प्रतीति भी होती रहती है। अत: प्रकाशरूप आभास और विमर्शरूप प्रतीति दोनों परस्पर ओत-प्रोत भाव से सदा रहते हैं, यह एक दूसरे से अलग नहीं रह सकते। अभाव ज्ञान है और प्रतीति ज्ञान की अर्थात् जानने की क्रिया है। परमेश्वर शुद्ध प्रकाशरूप होता हुआ शुद्ध विमर्श भी है। प्रकाश और विमर्श में अविनाभाव सम्बन्ध है।[1] प्रकाश शिवरूप है और विमर्श शक्तिरूप है। शिव और शक्ति का नित्य सामरस्य ही परमशिव है। न शिव के बिना शक्ति की सत्ता है और न शक्ति के बिना शिव की।[2] जिसप्रकार अग्नि से प्रकाश और उष्मा दोनों साथ-साथ उत्पन्न होते हैं ठीक उसी तरह शुद्ध चैतन्य (परमशिव) से शिव (अहन्ता) और शक्ति दोनों का आविर्भाव होता है।

परमतत्त्व परिपूर्ण[3] और सर्वसम्पन्न सत्ता है जो सब कुछ है तथा सभी सीमित वस्तुओं से परे और समग्र सत्ता भी है। शिव आत्मरूप[4] होते हुए भी परमसत्ता[5] है; क्योंकि वह निराकांक्ष एवं सभी बद्धताओं से स्वतन्त्र सत्ता है। यह सत्, चित्, आनन्द है। परमतत्त्व के सत्, चित् में निहित शक्ति स्वातन्त्र्य है जो स्वयं में असीम है। परमतत्त्व को सत् और चित् कहने के अतिरिक्त वेदान्ती और शैव उसे आनन्द भी कहते हैं। ससीमता दु:ख है। स्वतन्त्रता या पूर्णता आनन्द है। आनन्द परमशिव का मूलस्वरूप है जहाँ आनन्द का अनुभव भी है। यही सच्चिदानन्द है, यही सत्यम् शिवम् सुन्दरम् है।

परमतत्त्व की अवधारणा में शक्ति का समावेश है। यही विशेषता काश्मीर शैव दर्शन को अन्य दर्शनों से पृथक् करती है। अद्वैत-वेदान्त में ब्रह्म केवल ज्ञानस्वरूप तथा निष्क्रिय है। ब्रह्म में क्रिया का समावेश नहीं माना जा सकता; क्योंकि ब्रह्म में क्रिया का होना उसकी अपूर्णता का द्योतक होगा। काश्मीर शैव

---

१. प्रकाशमानं न पृथक् प्रकाशात् ।
स च प्रकाशो न पृथग् विमर्शात् ।। -विज्ञानभैरव विवृति, पृ० १२२.

२. ई०प्र०वि०, भाग१. पृ० १९८.

३. तावान्पूर्णस्वभावोऽसौ परमः शिव उच्यते। -तन्त्रालोक १/१०८.

४. अस्मद्रूपसमाविष्टः स्वात्मनात्मनिवारणे।
शिवः करोतु निजया नमः शक्त्या तदात्मने।। -शिवदृष्टि, १/१

५. तस्य देवातिदेवस्य परापेक्षा न विद्यते।
परस्य तदपेक्षत्वात्स्वतन्त्रोऽयमतः स्थितः।। -तन्त्रालोक १/५९.

दर्शन में शिव को ज्ञानस्वरूप मानने के साथ क्रियारूप भी मानते हैं। परमतत्त्व में निहित क्रिया अर्थात् स्वाभाविक क्रिया, स्पन्द है जो अपूर्णता का द्योतक नहीं है। पूर्ण स्वतन्त्र परमशिव ज्ञानस्वरूप भी है और क्रियास्वरूप भी है। ज्ञान और क्रिया का परिपूर्ण सामरस्य ही परमशिव है, क्योंकि ये दोनों शक्तियाँ परस्पर ओत-प्रोत्त भाव से अभिन्न और समरस बनी हुई ही अनुत्तर संवित् कहलाती हैं। परमशिव का वास्तविक स्वरूप शुद्ध, असीम और परिपूर्ण ज्ञान और उसी प्रकार की क्रिया का परिपूर्ण सामरस्य ही है। ऐसी ज्ञानरूपता उसकी शिवता है और ऐसी क्रियारूपता उसकी शक्तिता है। वह एक दृष्टि से शिव है और एक दृष्टि से शक्ति।

आचार्य अभिनवगुप्त ने **तन्त्रालोक** में कहा है कि शिव के विषय में जो कुछ भी निर्वचन करते हैं वह उससे परे है। क्योंकि हम जो कुछ भी जानते हैं बुद्धि द्वारा जानते हैं और उसका ही निर्वचन करते हैं। अत: शिव के विषय में जो भी कहते हैं बुद्धि की सीमा के अन्तर्गत ही कहते हैं। वास्तविक शिव इन सबसे परे है। अगर हम उसे ३६ तत्त्वों में सोचते हैं तो वह सैंतीसवाँ है। उसका जितना भी विवेचन किया जाय वह उससे परे है। अत: वह सत् असत् की कोटियों से विलक्षण अनुत्तर सत्ता है।

शिव चित्स्वरूप है। उसका कोई रूप नहीं है। वह निराकार है; क्योंकि रूप और आकार जड़ पदार्थ का होता है, चेतन का नहीं। अद्वैत शैव दर्शन में परमसत्ता को सर्वसम्पन्न और परिपूर्ण कहा गया है जो असीम और समग्र सत्ता भी है। शिव को सत् चित् और आनन्द कहा गया है। वह सत्य रूप है इसलिए सत् है। चित् है क्योंकि वह चेतन है।

अद्वैत शैव दार्शनिक परमसत्ता का कोई आकार और रूप नहीं मानते। उनके ऐसा मानने का तात्पर्य है कि परमतत्त्व गुणातीत है, उसे उपाधि और गुणों से सीमित नहीं किया जा सकता है। वह असीम है। सीमित होने पर (जीव रूप में) भी वह असीम से अपना तादात्म्य बनाये रखता है। इस अर्थ में परमसत्ता को अनिर्वचनीय (वाणी से परे) कहा जा सकता है। अद्वैत शैव दर्शन में सत्ता और चेतना दोनों का अस्तित्व एक साथ स्वीकार किया गया है। बिना चेतना के सत्ता स्वयं में कुछ नहीं है। दोनों मूलत: तदनुरूप हैं। सत्ता चेतना है और चेतना सत्ता है जो मूलत: स्वयंप्रकाश है।

चित् असीम है। परमशिव के सत्, चित् में निहित शक्ति उसका स्वातन्त्र्य है, जो स्वयं असीम है। इनके अनुसार चेतना मूलत: स्वतन्त्र है; क्योंकि

यदि यह स्वतन्त्रता (स्वातन्त्र्य) से पृथक् होती तो विश्व की अभिव्यक्ति का स्रोत न होती।

परमशिव शिव और शक्ति का समन्वित रूप है। शिव को आत्म चेतन कहा गया है। वह विश्वमय होते हुए भी विश्वोत्तीर्ण है। अद्वैतशैव दार्शनिकों की यह मान्यता है कि शिव और **विश्व** दोनों तात्त्विक दृष्टिकोण से अभिन्न है। शिव विश्वोत्तीर्ण है क्योंकि जगत् (विश्व) के रूप में वह स्वयं अवभासित होता है और उसे इसका ज्ञान भी रहता है। शिव सृष्टि-प्रक्रिया में स्वयं अवतीर्ण होते हुए भी इन समस्त प्रक्रियाओं या परिवर्तनों से अप्रभावित एवं अपरिवर्त्य रहता है।

यहाँ यह आक्षेप किया जा सकता है कि समस्त परिवर्तनों का स्रोत (सृष्टि-प्रक्रिया में स्वयं अवतीर्ण) होकर भी शिव अपरिवर्त्य कैसे रह सकता है? अथवा तात्त्विक दृष्टि से विश्वमय होते हुए भी शिव विश्वोत्तीर्ण कैसे है।? विश्वमय होते हुए भी शिव विश्वोत्तीर्ण कैसे है? इसके उत्तर में अद्वैत शैव दार्शनिक कहते हैं कि विश्वमय और विश्वोत्तीर्ण दोनों एक साथ होना शिव की विशेषता है और वह उसके लिए आवश्यक भी है। क्योंकि यदि वह विश्वोत्तीर्ण होगा तो वह विश्व से वस्तुतः असम्बद्ध हो जायेगा और यदि केवल विश्वमय रहे तो उसके स्वातन्त्र्य और निरपेक्षता में बाधा होगी; क्योंकि अद्वैत शैव दार्शनिक शिव को स्वातन्त्र्य-युक्त मानते हैं। शिव का स्वयं जगत् रूप में प्रकटीकरण होता है। वह इस लोक का उपादन और निमित्त दोनों कारण है। जगत् का तत्त्व शिव ही है। शिव स्वयं से ही जगत् का प्रकटीकरण करता है। तात्त्विक दृष्टि से शिव जगत् से भिन्न है किन्तु शक्ति की अन्तर्यामिता के कारण जगत् शिव से सदैव सम्बद्ध भी है।

समस्त परिवर्तनों का स्रोत होते हुए भी शिव अपरिवर्त्य कैसे है? इसके प्रत्युत्तर में अद्वैत शैव दार्शनिक कहते हैं कि यह सृष्टि यथार्थ सृष्टि नहीं है बल्कि वह शिव की कल्पनापरक (विमर्शात्मक) सृष्टि है जिस प्रकार व्यक्ति अपने कल्पनालोक का निर्माण स्वयं करता है और स्वयं इससे परे अपरिवर्त्य और अप्रभावित भी रहता है उसी प्रकार शिव स्वयं जगत् का आभासन (सृष्टि) कर्ता होते हुए भी अपरिवर्त्य रहता है। यहाँ तब समस्या उत्पन्न हो सकती थी जब शिव स्वयं इस सृष्टि में लिप्त होता तथा उसे ज्ञान नहीं होता कि यह उसकी काल्पनिक सृष्टि है। किन्तु ऐसा नहीं है। काश्मीर के अद्वैत शैवदार्शनिकों की यह मान्यता है कि शिव को स्वयं का ज्ञान (आत्मज्ञान) रहता है।

शिव को प्रकाश-विमर्श-रूप कहा गया है। ये प्रकाश और विमर्श एकदूसरे से सर्वथा अभिन्न हैं। एक के अभाव में दूसरे की कल्पना करना भी असम्भव है।

इनमें अविनाभाव सम्बन्ध है।[१] प्रकाश शिव (आत्मा) का स्वरूप है और विमर्श प्रकाशरूप परमात्मा के स्वरूप की प्रतीति[२] शिव प्रकाशस्वरूप है। यह प्रकाशमात्र नहीं है। जिस प्रकार सभी वस्तुएँ प्रकाश से प्रकाशित होती हैं उसी प्रकार सब शिव से प्रकाशित है। उसके प्रकाशमान होने से ही सब कुछ प्रकाशित है।[३]

किन्तु यहाँ यह आक्षेप किया जा सकता है कि भौतिक तत्त्व सूर्य भी तो प्रकाश है, हीरा भी तो प्रकाश है और ये अन्य को प्रकाशित भी करते हैं, तो परमतत्त्व शिव और भौतिक तत्त्व (सूर्य और हीरा) के प्रकाशित होने में क्या भेद है? इस भेद को स्पष्ट करते हुए अद्वैत शैव दर्शन में कहा गया है कि शिव प्रकाशमात्र नहीं है। वह जड़ हीरे के समान प्रकाश नहीं है वरन् वह विमर्श भी है। वह अपना ईक्षण भी करता है। यह विमर्श, अकृत्रिम, शुद्ध स्वाभाविक अहं (मैं) का स्फुरण है।[४] यह अहं और इदं के व्यवधान से शून्य, अव्यवहित स्व का बोध है। परा-प्रावेशिका के अनुसार यदि परमसत्ता विमर्श भी न होकर केवल प्रकाश-स्वरूप होता तो यह निरीश्वर, शक्तिहीन और जड़ होता[५] यह शुद्ध चेतना या अहं विमर्श ही है जिससे सृष्टि, पालन और संहार होता है।

शिवतत्त्व को मूलतः स्वतन्त्र सत्ता के रूप में स्वीकार किया गया है। परमेश्वर की परा-शक्ति स्वातन्त्र्य है। शक्ति (स्वातन्त्र्य) शिव से सर्वथा अभिन्न है। चित् अपने को चिद्रूपिणी शक्ति के रूप में जानता (प्रकाशित करता) है। यही विमर्श है। आनन्द इसका अपर पर्याय है। यह परमात्मा का ऐश्वर्य है। यह स्वातन्त्र्य से भिन्न नहीं है। परमेश्वर अपने स्वातन्त्र्य या ऐश्वर्य से अनन्त रूपों में स्फुरित होता हुआ भी स्वरूपतः अखण्ड एवं पूर्ण रहता है। उसकी इच्छा का अनभिहत प्रसार ही उसका स्वातन्त्र्य है।[६] **परमेश्वर का** ऐश्वर्य का स्वातन्त्र्य विमर्शात्मा चिति है, शिव प्रकाशात्मा चिति है। दोनों अविभक्त और अविनाभूत हैं। यही अवस्था परम शिव से अभिहित है।

---

१. प्रकाशमानं न पृथक् प्रकाशात् । स च प्रकाशो न पृथग् विमर्शात् ।
– वि० भै० वि०, पृ० १२२.

२. स एव विमृशत्वेन नियतेन महेश्वरः। – ई० प्र०, भाग१, १/८/११.

३. तमेव भान्तमनुभाति सर्वं, तस्य भासा सर्वमिदं विभाति। कठ० उप०, २/२/१५.
द्रष्टव्य, क्षेमराजकृत, प्रतिभिज्ञाहृदयम् अनु. एवं सं. जयदेव सिंह, पृ० ७.

४. अकृत्रिमाहं विस्फुरणम् । क्षेमराज, परा-प्रावेशिका पृ० २.

५. यदि निर्विमर्शः स्याद् अनीश्वरो जडश्च प्रसज्येत। वहीं, पृ० २.

६. स्वातन्त्र्यं च नाम यथेच्छं तत्रेच्छाप्रसरस्य अविघातः। ई० प्र० वि० वि०.

यद्यपि स्वातन्त्र्य, शक्ति, अहन्ता, स्फुरता, विमर्श आदि पद परमशिव की स्पन्दात्मक अवस्थिति का प्रतिनिधित्व करते हैं पर उनमें से सभी स्पन्द के एक ही समान रूप पर बराबर बल नहीं देते। अहन्ता समग्रता की गति पर बल देता है, स्फुरत्ता अभिव्यक्त के अभिव्यक्ति का संकेत है। इसी प्रकार विमर्श अनिर्वचनीय की वचनीयता को अभिव्यक्त करता है। स्वातन्त्र्य असम्भव के निर्माण की क्षमता के लिए प्रयुक्त होता है। परमप्रकाश सक्रिय है; क्योंकि वहाँ भी तदनुरूप शक्ति अवस्थित रहती है और यह शक्ति क्रिया से अभिन्न है। इस क्रिया का कर्ता परमशिव है। इस तरह यह कर्तृत्त्वमयी कृपा ही प्रकाशस्वरूप शिव का विमर्श है। विमर्श की दो अवस्थाएं हैं। पहली अवस्था शुद्ध विमर्श (अहम् विमर्श) की है, जब वह आत्मस्वरूप में स्थित होता है। दूसरी अवस्था में वह क्षोभ का अनुभव करता है अर्थात् जब इसमें विकल्पों का उन्मेष होता है, तब विचित्र प्रपञ्च का स्फुरण होता है।[१] यह अवस्था अहमिदम् की है।

परमशिव की दोनों अवस्थितियों को प्रकाश-विमर्श कहा जाता है। प्रकाश अपरिवर्तनीयं शुद्ध, साक्षी, सार्वभौम चैतन्य की अवस्थिति है। विमर्श प्रमाता के स्वयं को जानने की क्षमता है। यह ईश्वर की पूर्ण-अहन्ता है, आत्मचेतना की शक्ति है। प्रकाश और विमर्श सर्वदा एक रहते हैं। विमर्श को पराशक्ति, परावाक्, स्वातन्त्र्य, ऐश्वर्य, कर्तृत्व, स्फुरत्ता, सार, हृदय, स्पन्द आदि कहा गया है।[२]

शिव ज्ञानरूप है। शिव की क्रियारूपता ही शक्ति है। अद्वैत शैव दर्शन में ज्ञान भी क्रियारूप है। शक्ति के लिए प्रयुक्त विमर्श, स्पन्द आदि पद शिव की क्रियारूपता का ही संकेत करते हैं। शक्ति को विमर्श कहने का अर्थ है कि शिव का प्रकाश विमर्शमय है, जो स्वयं को भी प्रकाशित करता है। शक्ति के लिए स्पन्द[३] शब्द का भी प्रयोग होता है, क्योंकि शिव स्वभाव से ही स्पन्दनशील हैं। शिव के स्वरूप में ही क्रिया निहित है जो अनायास होती है। शक्ति के लिए प्रयुक्त विभिन्न नाम शिव की क्रियारूपता के ही द्योतक हैं।

शक्ति को बिन्दु या वाक्शक्ति भी कहा जाता है। इसके चार स्तर—परा, पश्यन्ती, मध्यमा और बैखरी हैं। इन स्तरों से वाक्-सृष्टि की व्याख्या की जाती है। शक्ति को शरीर के मूलाधार में स्थित कुण्डलिनी का भी नाम दिया गया है।

---

१. तान्त्रिक वाङ्मय में शाक्त दृष्टि, गोपीनाथ कविराज,

२. परा-प्रावेशिका, पृ० ३.

३. सा चैषा स्पन्दशक्तिः...युगपदेवोन्मेषनिमेषमयी। स्पन्दनिर्णय, पृ० ३,४

शक्ति एक ही है जो शिव की अभिव्यक्तियों के अनुसार अनेक रूपों में प्रकाशित होती है। शिव की अभिव्यक्तियाँ ही शक्ति की अभिव्यक्तियाँ हैं। बिना शक्ति के शिव अभिव्यक्त नहीं हो सकता। शिव शब्द में इकार ही शिव की शक्ति है। यदि इकार को शिव से अलग कर दिया जाय तो वह शव हो जायेगा। अर्थात् शिव में इकार शक्ति का प्रतीक है। शक्ति के न होने से शिव, शव (जड़) हो जायेगा। इसीलिए अद्वैत शैव दर्शन में शिव-शक्ति की भिन्न परिकल्पना नहीं की गयी है।

शिव से शक्ति पृथक् नहीं है वरन् अपनी सर्जनात्मक स्थिति में स्वयं शिव है। शिव और शक्ति में तादात्म्य सम्बन्ध है। उन्मेष ही शिव की सृजन करने की प्रवृत्ति है।[१] शक्ति की संस्थिति शिव के चिन्मय तथा स्पन्दात्मक स्वरूप में ही है। शिव-तत्त्व में इदम् शक्ति के कारण ही प्रकाशित होता है। यदि इस इदम् अंश को बाहर कर लिया जाय अथवा यह कहे कि इदम् अंश प्रकाशित न हो ऐसी स्थिति में शिव अनाश्रित हो जायेगा जिसमें केवल अहम् अंश होता है। किन्तु यह अहम् भी अहम् विमर्श होता है। इसका तात्पर्य यह है कि किसी भी दशा में शिव शक्तिरहित नहीं होता, उसकी स्वरूप शक्ति (चित् शक्ति) सदैव विद्यमान रहती है।

शिव और शक्ति का नित्य सामरस्य या समन्वय ही परम शिव है। शिव के बिना शक्ति की सत्ता नहीं है और शक्ति के बिना शिव स्फटिक मणि आदि की भाँति जड़-तुल्य हो जायेगा, क्योंकि प्रकाश रूप होते हुए भी स्फटिक, मणि आदि को अपनी सत्ता की प्रतीति (विमर्श) नहीं होती।[२] शिवशक्ति के इस अभेद भाव को शिवदृष्टि में भी देखा जा सकता है।[३] शक्तिरूप (स्वभाव) से शक्त होने पर ही शिव कर्तृत्व-पद का अधिकारी होता है।

परमशिव शिव और शक्ति दोनों की मूल एकता है, संपुटीकरण नहीं। उसकी ये दोनों शाश्वत अभिव्यक्तियाँ हैं। अभिव्यक्ति के स्तर पर ये भले ही भिन्न प्रतीत होते हैं किन्तु वास्तव में ये कभी भिन्न (पृथक्) नहीं हैं। परमतत्त्व शिवशक्ति के पूर्ण समन्वय का स्तर है। प्रकाशात्मक शिव के बिना शक्ति आत्मप्रकाश में भी

---

१. स एव विश्वमेषितुं ज्ञातुं कर्तुं चोन्मुखोभवत् । महार्थमञ्जरी .

२. ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी, भाग १, पृ० १९८, क्षेमराज.

३. न शिवः शक्तिरहितो न शक्तिर्व्यतिरेकिणी।
शिवः शक्तस्तथाभावान् इच्छया कर्तुमीहते ।।
शक्तिशक्तिमतोर्भेदः शैवे जातु न वर्ण्यते। - शिवदृष्टि, ३/२-३
द्रष्टव्य, चटर्जी, जे.सी., काश्मीर शैविजम, पृ. ४५.।

असमर्थ है। चिद्रूप होने के कारण दोनों ही स्वरूपतः अभिन्न हैं। शिव और शक्ति शब्दार्थ तथा चन्द्र-चन्द्रिका के समान तत्त्वतः एक हैं। शिव में शक्ति और शक्ति में शिव अन्तर्निहित है।

जिस प्रकार अग्नि के बिना दाहकता और दहाकता के बिना अग्नि का सत्ता-बोध होना सम्भव नहीं है उसी प्रकार शिव के बिना शक्ति और शक्ति के बिना शिव की परिकल्पना नहीं हो सकती। शिव की क्रियाशीलता ही उसकी शक्ति है।

परमसत्ता जब सीमित आत्मा के रूप में प्रकट होती है। तब चेतना में और स्वातन्त्र्य में अन्तर प्रकट होता है। वास्तव में न तो प्रकाश बिना रूप के हो सकता है और न ही रूप बिना प्रकाश के। अन्तर केवल व्यवहार में सम्भव है। यदि प्रकाश अपने को प्रकाशित नहीं करता तो वह प्रकाश नहीं रह जायगा। प्रकाश नानारूपों में प्रकाशित होता है। सूर्य और उसकी किरणों की भाँति प्रकाश और इसका रूप सदैव अविभाज्य है। जिस तरह अग्नि और इसकी दहनशीलता व्यवहार में अलग -अलग उच्चारित हैं किन्तु वास्तव में वे तदनुरूप (आइडेन्टिकल) है। ठीक उसी प्रकार परमशिव को आनुभविक दृष्टि से शिव और शक्ति कहा जाता है।[१]

शिव-शक्ति सम्बन्ध के लिए शंकर-पार्वती या अर्द्धनारीश्वर का प्रतीक प्रयुक्त होता है। किन्तु प्रतीक से शिव-शक्ति के सम्बन्ध को पूर्ण रूप से नहीं स्पष्ट किया जा सकता। अर्द्धनारीश्वर के प्रतीक से ऐसा समझा जा सकता है कि आधा भाग शिव का है और आधा भाग शक्ति का। किन्तु शिवशक्ति को इस प्रकार समझना उचित नहीं है; क्योंकि शिव (सम्पूर्ण ही) शक्ति है और शक्ति (सम्पूर्ण) ही शिव है। शिव और शक्ति में भेद की कल्पना शुद्ध रूप से निर्मूल है।[२] वास्तव में उन्हें विभेदित नहीं किया जा सकता।

शिव की शक्ति के मुख्य रूप से दो भेद किये जा सकते हैं। एक तो वे शक्तियाँ हैं, जो शिव के स्वरूप में ही निहित हैं। दूसरे प्रकार की वे शक्तियाँ हैं जो शिव द्वारा सृष्टि की अभिव्यक्ति के क्रम में स्फुटित होती हैं। ये शक्तियाँ शिव के स्वातन्त्र्य पर निर्भर हैं। चित् शक्ति और आनन्द शक्ति को शिव की स्वरूप शक्ति कहा जा सकता है। इन्हीं शक्तियों के कारण ही शिव आनन्दरूप और विमर्शमय है। इन

---

१. शिवदृष्टि, ३/७।

२. तन्त्रालोक, आ० १, पृ० १०९.

शक्तियों को शिव का शक्तिपञ्चक कहा जाता है। चिदात्मा परमेश्वर की असंख्य[१] शक्तियों में पाँच शक्तियाँ (चित्, आनन्द, इच्छा, ज्ञान और क्रिया) ही प्रमुख मानी गयी है।[२]

चित्शक्ति-अद्वैत शैव दर्शन के प्रमुख आचार्य श्रीमद् अभिनवगुप्त ने अपने ग्रन्थ **तन्त्रसार** में शक्तिपञ्चक की परिभाषा करते हुए कहा है कि चिदात्मा की प्रकाशरूपता ही उसकी चित् शक्ति है।[३] यह प्रकाशरूपता परमशिव की शुद्ध संविद्रूपता है। अपने इस प्रकाशस्वरूप से ही वह सर्वत्र प्रकाशित है। इसी प्रकाश-रूप आश्रय में विश्व के समस्त तत्त्वों का प्रकाशन होता है। आत्मा की इस प्रकाशरूपता को **ईश्वरप्रत्यभिज्ञा** में सर्व-व्याप्त बताया गया है। प्रकाशरूप आत्मा का इच्छा-स्फुरण जगत् भी प्रकाशरूप ही है।[४] परमशिव के प्रकाशरूप न होने पर किसी भी प्रकार का ज्ञान नहीं होगा। सर्वत्र अन्धकार व्याप्त हो जायेगा।[५] अतएव तत्त्वतः आत्मा की प्रकाशरूपता ही सर्वत्र अभेदरूप से अनुस्यूत है और अप्रकाशरूपता की कहीं सत्ता नहीं है।[६]

आनन्द शक्ति

इस शक्ति के द्वारा ही शिव आनन्दमय हो जाता है, इसे स्वातन्त्र्य भी कहा जाता है।[७] उसका आनन्द अपने आपमें विश्रान्त न होकर दूसरे की अपेक्षा पर आश्रित है। अग्नि और उसकी दाहकता की भाँति प्रकाश और विमर्श में भेद सर्वथा अचिन्त्य है। विमर्श चैतन्य आत्मा के प्रकाशरूप की प्रतीति है। यह विमर्श ही शिव का स्वातन्त्र्य है, जिससे वह पर-निरपेक्ष होकर स्वात्ममात्र की पूर्णता में विश्रान्त रहता है। पर-निरपेक्ष आत्मपूर्णता की यह प्रतीति ही उसका आनन्द है। आचार्य अभिनवगुप्त के अनुसार आत्म-निरपेक्षता ही परमार्थतः आनन्द है।

---

१. शक्तयश्च अस्य असंख्येयाः। तन्त्रसार, आ० ४, पृ० २८.

२. परमेश्वरः पंचभिः शक्तिभिः निर्भरः। तन्त्रसार, पृ० ७३.

३. मुख्याभिः (पंचभिः) शक्तिभिर्युक्तः। – वहीं, आ० १.

४. प्रकाशात्मा प्रकाश्योऽर्थो। – ईश्वरप्रत्यभिज्ञा, भाग १, १/५/३

५. प्रकाशमानता स्वात्मन्यपि वा न स्यात् इति अन्धता जगतः। ई०प्र०वि०, भाग १, पृ० ११५

६. नाप्रकाशश्च सिद्ध्यति। ई० प्र०, भाग १,१/५/३.

७. स्वातन्त्र्यम् आनन्दशक्तिः। तन्त्रसार, आ० १.

संसारी भोक्ता को अपने से अलग स्थित भोग्य की अपेक्षा होती है, क्योंकि वह अपूर्ण होता है। उसमें पर की अपेक्षा होती है। अतएव उसका आनन्द स्वयं में विश्रान्त न होकर दूसरे की अपेक्षा पर आश्रित है, भोग्योन्मुख है परन्तु परमशिव से भिन्न तो कुछ है ही नहीं। अत: वह अपने से भिन्न भोग्य की अपेक्षा से सर्वथा स्वतन्त्र है। स्वतन्त्र का पूर्ण विमर्श ही उसका स्वातन्त्र्य है, और यह स्वातन्त्र्य ही परम शिव का आनन्द है या आनन्द शक्ति है। स्वात्म-विश्रान्त पूर्ण-संवित् में विश्व-रचना के प्रति अत्यन्त सूक्ष्म अभिलाषामात्र आनन्द उल्लसित होने से जागृत होती है। इस सूक्ष्म अभिलाषा के आरम्भ को ही "औन्मुख्य" संज्ञा दी गई है।[1]

इच्छा शक्ति

जब शिव विश्व-रचना के प्रति जागरूक होता है तब उसकी वह अत्यन्त सूक्ष्म अभिलाषामात्र की उन्मुखता ही "इच्छा" कही जाती है।[2] इसके माध्यम से ही चिद्रूप परमेश्वर विभिन्न ज्ञातृ-ज्ञान-ज्ञेय रूपों में आत्म-अवभासन की इच्छा करता है। परमेश्वर के इस स्वभाव-ऐश्वर्य के चमत्कार को इच्छाशक्ति कहा गया है।[3] परमशिव के स्वातन्त्र्यरूप आनन्द के परामर्श को चमत्कार कहते हैं। इसे स्पष्ट करते हुए आचार्य अभिनवगुप्त ने परमशिव के स्वभाव ऐश्वर्य (आनन्द) के चमत्कार को इच्छाशक्ति बताया है।[4] इस इच्छाशक्ति से ही चिद्रूप परमेश्वर प्रमातृ-प्रमेय रूपों में आत्मअवभासन की इच्छा करता है। वस्तुत: विश्वात्मक भाव से परमेश्वर की उल्लसित होने की अभिलाषा (बहिरुल्लिलासयिषा) ही उसकी इच्छा शक्ति है।

ज्ञान शक्ति

जब इच्छाशक्ति विकसित होकर विश्वरूपी कार्य-प्रकाशन की शक्ति बनती है तब इसे ज्ञान शक्ति कहते हैं।[5] परमशिव स्वयं ज्ञाता, ज्ञेय तथा ज्ञान-स्वभाव है। इस प्रकार ज्ञातृ-ज्ञेयरूपों का अवभासन कर जो शक्ति ज्ञान कराती है उसे ज्ञान शक्ति

---

१. मालिनीविजयोत्तरतन्त्र, अधि० ३/६-७.

२. शिवदृष्टि १/७-८.

३. तच्चमत्कार इच्छाशक्तिः। तन्त्रसार, पृ० ६.

४. वहीं

५. परत्र तस्मिन् विश्वलक्षणे कार्ये यज्ज्ञानं, तत्प्रकाशनशक्तिरूपता सा ज्ञानशक्तिः। शिवदृष्टिवृत्ति, पृ० १८.

कहते हैं।[१] चिदात्मा की इच्छाशक्ति (स्वातन्त्र्य) जब तनिक सी वेद्योन्मुखी होती है तब उसे ज्ञान शक्ति कहा जाता है, ऐसा **तन्त्रसार** में उल्लिखित है।[२] आचार्य उत्पलदेव के विचारों से भी यह प्रतिध्वनित होता है कि ज्ञानशक्ति में किंचित् वेद्योन्मुखता होती है। ऐसा इसलिए है कि उन्होंने आभासक्रम में सदाशिव-तत्त्व को ज्ञानशक्तिमय माना है।[३]

क्रियाशक्ति

क्रियाशक्ति परमेश्वर की यथाकाम सृष्टि के लिए नानाप्रकार का रूप धारण कर असंख्य आभासरूपों को अपने अन्तर्गत प्रकाशित करती है।[४] यह समस्त विश्वाभास क्रियाशक्ति का ही स्वरूप है। प्रार्थी की इच्छानुसार इच्छित वस्तुओं को प्रस्तुत करने वाली चिन्तामणि की भाँति परमेश्वर की यथाकाम सृष्टि के लिए क्रियाशक्ति नानारूप धारण कर असंख्य आभासरूपों को स्वान्तर्गत प्रकाशित करती है।[५] अतएव समस्त विश्व स्फार क्रिया शक्ति का ही स्वरूप है।[६]

इसप्रकार इन पञ्च शक्तियों से शक्तिमान् होने पर भी विश्व-अवभासन में परमशिव की तीन शक्तियाँ ही प्रमुख हैं। ये हैं—इच्छा, ज्ञान और क्रिया।[७] चित् (प्रकाश) और आनन्द (विमर्श) तो उसके पूर्ण स्वरूप की दो संज्ञाएं हैं। क्षेमराज ने इसे स्पष्ट करते हुए कहा है कि परमेश्वर की एक स्वातन्त्र्यरूपा इच्छाशक्ति ही जगदाभास-क्रम में तारतम्य भाव से ज्ञान और क्रियाशक्ति-रूप से अभिहित होती है। इच्छारूपा यह स्वातन्त्र्य शक्ति ही शिव की शिवता है और जो शिवता (शक्ति) है वही शिव है।

---

१. एवमेतदिति ज्ञेयं नान्यथेति सुनिश्चितम् ।
ज्ञापयन्ती जगत्यत्र ज्ञानशक्तिर्निगद्यते।।
– मालिनीविजयोत्तरतन्त्र, अधि० ३/६-७.

२. आमर्शात्मकता ज्ञानशक्तिः। तन्त्रसार, आ० १, पृ० ६.
आमर्श को पुनः (ईषत्तया वेद्योन्मुखता) के रूप में स्पष्ट किया गया है।

३. ज्ञानशक्तिमान् सदाशिवः। शि०दृ०वृ०, ३७ व २४.

४. सर्वाकारयोगित्वं क्रियाशक्तिः। तन्त्रसार, पृ० ६.

५. क्रियाशक्तेरेव अयं सर्वो विस्फारः। ई० प्र० वि०, भा० २, पृ० ४२.

६. वहीं,

७. तन्त्रसार, आ० १, पृ० ६.

पंचकृत्य

काश्मीर शैव दर्शन में सृष्टि शिव का लीला-विलास है। उससे अलग न तो कोई वस्तु है और न ही किसी वस्तु की कल्पना की जा सकती है। परमशिव ही परमकारण है।[१] विश्व की सृष्टि और प्रलय बन्धन और मोक्ष की कल्पना उसका स्वातन्त्र्य स्वभाव है।[२] उसके इस स्वभावरूप स्वातन्त्र्यशक्ति की संज्ञा स्पन्द है।[३] अपने इस स्वात्मानन्द में सदा विभोर रहता हुआ परमशिव आनन्द में स्पन्दमान रहता है और उसका यह आनन्द-स्पन्दन ही विश्व बन जाता है।[४] यह स्पन्द अचल एवं शान्त परमेश्वर के भीतर शाश्वत एवं अभिन्न समरस भाव से रहने वाली एक चञ्चलता जैसी उमंग है, जिसे परमेश्वर के प्रकाशरूप की विमर्शरूपता कहा गया है।[५] अपने इसी स्वातन्त्र्य स्पन्द के कारण ही परमशिव कहीं क्रम से, कहीं अक्रम से और कहीं विक्रम से अभेद, भेदाभेद और भेदरूप तीनों दशाओं में अवरोहण और आरोहण की क्रीड़ा का अभिनय करता रहता है।[६] इस प्रकार अनेक रूपों में स्वेच्छावश लीला अभिनय करने के कारण ही उसे नर्तक कहा गया है।[७] इस क्रीड़ा में ही शिव सृष्टि और संहार करता है जिसे उसके विमर्शरूपता का उन्मेष और निमेष कहा जाता है।[८]

इस कर्तृत्व-स्वभाव के कारण ही शिव सृष्टि, स्थिति, संहार, तिरोधान और अनुग्रह रूप पंचविध कृत्यों में निरन्तर संलग्न रहता है।[९] इससे प्रतीत होता है कि शिव स्वभावतः पंचकृत्यकारी है, जो हर समय पंचकृत्य करता रहता है। इसके

---

१. शिवः परमकारणम् । -तन्त्रालोक, आ० १/८८।

२. ई०प्र०वि०, भा०१, पृष्ठ-३१।

३. स्पन्दनिर्णय, पृष्ठ-३।

४. शिवस्तो०, १३-१५।

५. किञ्चिच्चलनमेतावदनन्यस्फुरणं हि यत् ।
ऊर्मिरेषा विबोधाब्धेर्नसंविदनया विना ।। -तन्त्रालोक, भाग-३, आ०४/१४८।

६. परमार्थसार (अभिनवगुप्तकृत) टीका, पृष्ठ-३-४।

७. नर्तक आत्मा। -शि०सू०, ३/९।

८. स्पन्दनिर्णय, पृष्ठ-४।

९. एष देवोऽनया देव्या नित्यं क्रीडारसोत्सुकः ।
विचित्रान्सृष्टिसंहारान्विधत्ते युगपद्विभुः ।। -बोधपंचदशिका, श्लोक ४।
अनुत्तरप्रकाशपंचाशिका, श्लोक-२।

होने या न होने में शिव का स्वातन्त्र्य निहित नहीं है बल्कि यह शिव के स्वरूप में ही अनुस्यूत है, जो स्वतः सम्पादित होता रहता है। इसे अहमिदम् विमर्शात्मक क्रिया भी कहते हैं, जो शिव के स्वातन्त्र्य पर निर्भर है। पंचकृत्य को स्वभाव इसलिए कहा जाता है कि सृष्टि करने में शिव का कोई उद्देश्य नहीं है। जैसे खेलना बच्चों का स्वभाव कहा जाता है, क्योंकि खेलना उसका किसी उद्देश्य से नहीं होता, वैसे ही यह दृश्यमान सृष्टि शिव का स्वभाव है। इस स्वभाव-स्वातन्त्र्य के कारण ही परमशिव पञ्चकृत्यरूपी महालीला करता है। जिसका उद्देश्य मात्र स्वात्म-उल्लास के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। सर्वशक्तिमान् परमशिव अपनी इन्हीं शक्तियों के माध्यम से सृष्टि करता है।

१. सृष्टि

सृष्टि "सृज्" धातु से निष्पन्न है, जिसका अर्थ है— अपने से बाहर कर देना, छोड़ना, फेंकना, निकालना। इसके अन्दर एक तात्त्विक दृष्टि निहित है। परमशिव द्वारा स्फटिक जैसे अपने प्रकाश के भीतर सामान्याकार विश्व को प्रतिबिम्ब की भाँति अपने से भिन्न रूप में अवभासित करने की लीला ही सृष्टि है। सृष्टि का भाव यह है कि शिव के भीतर सब कुछ है, वह केवल उसे बाहर अभिव्यक्त कर देता है। सृष्टि शिव का वैभव है जिसे वह बिखेर देता है। इससे यह स्पष्ट होता है कि शिव जगत् का उपादान और निमित्त दोनों कारण है। केवल उसकी शक्ति ही जगत्-रूप में आभासित होती है।

२. स्थिति

सृष्टि के अनन्तर जगत् का ठहराव और नियमपूर्वक उसका पालन ही स्थिति है।

३. संहार

इसका अर्थ है समेट लेना, बटोर लेना। जिसका सर्जन किया था, उसे पुनः अपने अन्दर समेट लेना ही संहार की प्रक्रिया है। संहार का अर्थ विनाश नहीं है, क्योंकि अपने अन्दर से ही किसी वस्तु को निकालना और फिर उसको अपने अन्दर समेट लेना मात्र संहार है।

४. तिरोधान

इसके माध्यम से परमशिव अपने सच्चे स्वरूप का विलय, विधान, तिरोधान, निग्रह, आवरण या गोपन कर लेता है। फिर जगत् के रूप में आभासित होता है।

५. अनुग्रह

परमशिव अपने स्वरूप का प्रकाश इस शक्ति के माध्यम से करता है। इस प्रकार मलावृत जीव गुरु-कृपा द्वारा या परमेश्वर की प्रेरणा से अपने वास्तविक स्वरूप को पहचानने का प्रयास करता है। परमशिव की यह लीला ही उसकी अनुग्रह-लीला है।

इस प्रकार शक्तिसम्पन्न, पञ्चकृत्यों का विधायक, परमशिव ही एकमात्र परमार्थ सत्ता है, जो लीलावश नानारूप धारण कर असंख्य आभास रूपों में स्फुरित होता है। और ये सृष्टि, स्थिति, संहार, तिरोधान और अनुग्रह शिव का पञ्चरूपात्मक स्वातन्त्र्य है और यही उसका ऐश्वर्य है। इस ऐश्वर्य की क्रीड़ा में वह अपनी स्पन्दशक्ति से पूर्ण समर्थ है। ये पाँचों कृत्य शिव में स्वभावतः सदा होते रहते हैं। वह अपने भीतर से जगत् को बहिर्मुख (सृष्टि) करता है उसे कुछ समय के लिए स्थित रखता है और पुनः उसे अपने में समेट (संहार) लेता है। ये तीनों कृत्य ''क्षेत्र'' की दृष्टि से होते रहते हैं और यह कृत्य सदा चलता रहता है। तिरोधान और आविर्भाव, निग्रह और अनुग्रह ये दो कृत्य ''क्षेत्रज'' की दृष्टि से होते रहते हैं। वस्तुतः अनुग्रह या स्वरूप के प्रकाशन के लिए ही पूर्व के ये चारों कृत्य होते रहते हैं।[१]

इस प्रकार यह पञ्चकृत्य परमशिव के रहस्यमय दृष्टिकोण से होता है। उसके माध्यम से जो कुछ प्रकाशित होता है, वह सृष्टि है। जब जीव उसका आस्वादन (आनन्द) लेता है, तब वह स्थिति है। विमर्शन या चमत्कार के समय उस पदार्थ का संहार होता है। संस्कार बीजरूप में संसार का कारण होता है। यह बीजावस्थापन्न विलय है। यदि अनुभूत विषय का चित्त से तादात्म्य हो जाता है तो यह अनुग्रह है।

यह समस्त विश्व स्पन्दवान् परमशिव के स्पन्द का उल्लासरूप परमेश्वरता का ही एक अंग है। इसलिए सभी परमेश्वर में है और सभी में परमेश्वर है।[२] यही उसका स्वातन्त्र्य है और यह स्वातन्त्र्य ही उसका स्वभाव है। यदि परमशिव सृष्टि आदि पंचविधकृत्यात्मक क्रीड़ा नहीं करता और आकाशवत् सदैव एकरूप ही अवस्थित रहता तो वही एक होता और कोई जीव नहीं होता। इसलिए शिव अपने स्वातन्त्र्य

---

१. प्रत्यभिज्ञाहृदयम्, अनु०, जयदेव सिंह, पृष्ठ-१०४।

२. निराशंसात्पूर्णादहमिति पुरा भासयति यद्,
द्विशाखामाशास्ते तदनु च विभक्तुं निजकलाम्।
स्वरूपादुन्मेषप्रसरणनिमेषस्थितिजुष-
स्तदद्वैतं वन्दे परमशिवशक्त्यात्मनिखिलम्।। -ईश्वरप्रत्यभिज्ञा, भाग-१, श्लोक१।

स्वभाव से ही इस जगत् में अनेक रूप में सदैव आभासित होता रहता है। उसका यह स्वातन्त्र्य ही शिव है और शिव ही स्वातन्त्र्य है।

इस प्रकार यह स्पष्ट होता है कि काश्मीर शैव दर्शन में सृष्टि शिव का स्वभाव है। परन्तु यहाँ एक प्रश्न उठता है कि शिव सृष्टि करने के लिए बाध्य है अथवा नहीं? काश्मीर शैव दर्शन के समग्र सिद्धान्तों पर दृष्टिपात करने से इस प्रश्न का हल अपने आप निकल आता है कि इस सृष्टि को करने के लिए शिव बाध्य नहीं है अपितु यह सृष्टि शिव का लीला-विलास है। जो मौज की स्थिति में आकर करता है। इसको करने के लिए अपनी इच्छा और अपने अधिकार का ही प्रयोग करता है। इस कार्य के लिए उसे न किसी प्रकार की आन्तरिक और न ही कोई बाह्य बाध्यता होती है। वस्तुतः यह उसके स्वातन्त्र्य स्वभाव का ही परिणाम है; क्योंकि काश्मीर शैव दर्शन में शिव को पूर्ण स्वतन्त्र[१] सत्ता कहा गया है तथा इस कथन को बार-बार एवं पूरे आग्रह के साथ कहा गया है।[२] साथ ही सृष्टि कार्य को शिव का स्वातन्त्र्य माना गया है। इसमें यह स्पष्ट किया गया है कि शिव का स्वातन्त्र्य कभी खण्डित नहीं होता।[३] अतः ऐसी स्थिति में शिव पर सृष्टि करने के लिए किसी प्रकार की बाध्यता की कल्पना करना उचित प्रतीत नहीं होता है।

यह स्वभाव-स्वातन्त्र्य ही परमशिव की सत्ता का प्रमाण है,[४] और शिव की इच्छा ही सृष्टि के रूप में सदैव प्रकाशित होती रहती है। कहने का तात्पर्य यह है कि यह सृष्टि अव्यक्त रूप से शिव में नित्य नहीं रहती अपितु यह सृष्टि शिवेच्छा से ही निर्मित होती है; क्योंकि स्वभाव के अभाव में स्वभावी की सत्ता भी तो सर्वथा अचिन्त्य है।[५] अतः ये सृष्टि और प्रलय प्रतिक्षण परमेश्वर के अन्तर्गत अभिन्न रूप से स्पन्दित होते रहते है। यह स्पन्द ही परमशिव की इच्छा है। अपने इस स्वतन्त्र इच्छामात्र से ही परमेश्वर अपने पूर्ण शिवभाव के भीतर ही अभिन्न रूप से असंख्य विश्वों का उल्लासन करता हुआ परिमित जीवभाव का अवभासन करता है। यही उसका पंचकृत्य है।

---

१. ई०प्र०वि०, भाग-१०, पृष्ठ-१४।

२. तस्य स्वतन्त्रभावो हि किं किं यन्न विचिन्तयेत् ।। –तन्त्रालोक, १/१३६।

३. न हि तस्य स्वतन्त्रस्य कापि कुत्रापि खण्डना । –तन्त्रालोक, २/४७।

४. ई०प्र०, आ० १/४।

५. तन्त्रालोक, भाग-२, आ० ३/१००-१०१।

आभासवाद

जगत् की सृष्टि के सम्बन्ध में काश्मीर शैव दार्शनिकों का कहना है कि जितने भी जड़ और चेतन इस संसार में दृश्यमान होते हैं वे सभी शिव से अवभासित हैं। किसी भी पदार्थ की अपनी अलग से कोई सत्ता नहीं है। इसलिए आभासवाद काश्मीर शैव दर्शन का प्रमुख सिद्धान्त है जिसके माध्यम से सृष्टि को जाना जा सकता है, जिसकी व्याख्या बहुत ही महत्त्वपूर्ण है।

विश्व में जो भी वस्तु दृश्यमान है वह सब परमेश्वर की अभिव्यक्तियों का विचित्र दृश्य है; क्योंकि परमेश्वर ही एकमात्र परम सत्य तत्त्व है। उसके अतिरिक्त सभी वस्तुएँ, जिनको हम अपने दैनिक जीवन में देखते रहते हैं, वे सर्वथा मिथ्या न होकर परमशिव के स्वातन्त्र्य का विलास हैं। इसीलिए शैव दार्शनिकों ने सृष्टि को शिव का आभास कहा है, क्योंकि इस जगत् की अलग से अपनी कोई सत्ता नहीं, है, यह शिव ही जगत् के रूप में आभासित है। परमशिव अपने परमस्वरूप में अवस्थित रहते हुए ही अनेक रूपों में आत्मावभासन करता है।[१] अपने को सृष्टि के रूप में अभिव्यक्त करना शिव का स्वभाव माना गया है न कि शिव की बाध्यता। यह सृष्टि शिव अपने आनन्द के लिए करता है।

आभासवादी इस जगत् को यथार्थ सत्ता नहीं मानते अपितु यह जगत् आभासमात्र है। अद्वैत-वेदान्ती, विज्ञानवादी, प्लेटो आदि अनेक दार्शनिक जड़वादी मत का खण्डन करते हुए आभासवाद का मण्डन करते हैं।

काश्मीर शैव दार्शनिकों का मत है कि इस जगत् की अभिव्यक्ति शिव चैतन्य के माध्यम से होती है अतः उसके द्वारा भासित पदार्थ जड़ नहीं चेतन होगा। अतः विश्वमय भी चैतन्य है और विश्वोत्तीर्ण भी चैतन्य है।[२] संसार में जिस-जिस वस्तु का ज्ञान हमें होता है, वह हमारे अन्तर्ज्ञान का ही बाह्य आभास है। वस्तु का आभासित होना उसका ज्ञान-रूप धारण करना है।

जड़वादी अपना पक्ष प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि जो भी दृश्यमान वस्तु है वह सत्य रूप में दिखायी पड़ती है, अतः वस्तु सत्य हैं। वस्तुओं में अर्थक्रियाकारित्व या सम्वित् प्रवृत्ति है, जिसका कि हम उपयोग करते हैं और उसके

---

१. नानाभावैः स्वमात्मानं जानन्नास्ते स्वयं शिवः ।
चिद्व्यक्तिरूपकं नानाभेदभिन्नमनन्तकम् ।। -शिवदृष्टि, आ०/१०९।

२. यथाम्बुधेस्तरंगाणां चैक्येऽपि व्यवहारभेदस्तथा शिवस्य विश्वस्य च।
-शिवदृष्टिवृत्ति, पृष्ठ-११३।

बारे में हम नित्य अनुभव करते हैं। वस्तु की सत्ता ज्ञान होने पर आधारित नहीं है, वरन् वस्तु ज्ञाता अथवा ज्ञान से स्वतन्त्र रूप में अस्तित्ववान् है। कहने का तात्पर्य यह है कि वस्तु की सत्ता चैतन्य के अन्दर नहीं है, वरन् बाहर है। वस्तु का चैतन्य से सम्बन्ध होना भी संयोगमात्र है।

शैव दार्शनिक इनके विचारों पर आक्षेप करते हुए कहते हैं कि कभी-कभी किसी वस्तु के प्रति हमारा ज्ञान बिल्कुल असत्य होता है। जैसे हम स्वप्न में किसी वस्तु को सत्य के रूप में पाते हैं, परन्तु स्वप्न के समाप्त होते ही हमें यह ज्ञान होता है कि जिसको हम सत्य समझ रहे थे वह मात्र एक आभास था।[1] यदि वर्तमान परिप्रेक्ष्य में देखें तो चलचित्र में चित्रपट पर उभरे हुए चित्रों की वहाँ वास्तविक सत्ता नहीं होती वरन् उनका मात्र आभास प्रतीत होता है। अन्तर सिर्फ इतना है कि चलचित्र के चित्रों को हम मिथ्या समझते हैं और सृष्टि को मिथ्या नहीं समझते। ज्ञानी को सृष्टि उसके वैभव के रूप में, शिव के वैभव के रूप में, योगी के वैभव की तरह सत् प्रतीत होती है। अतः यहाँ आभास मिथ्या नहीं अपितु सत् है। अतः वस्तु के अर्थक्रियाकारित्व समान होने मात्र से ही उसे सत्य का रूप नहीं दिया जा सकता। अगर हम स्वप्न या भ्रम की अवस्था में ही वस्तु की सत्यता को स्वीकार कर लें तो सम्भव है कि संसार की हर दृश्यमान वस्तु को ज्ञानरूप ही माना जाय। ऐसी अवस्था में वस्तु की ज्ञानरूपता के अलावा जड़रूपता को स्वीकार नहीं किया जा सकता।

काश्मीर शैव दार्शनिक आभासवाद के पक्ष में अपना मत प्रस्तुत करते हुए अपनी ज्ञानमीमांसा में कहते हैं कि किसी वस्तु के ज्ञान के लिए ज्ञाता और ज्ञेय का सम्बन्ध होना आवश्यक है। दोनों परस्पर विरोधी हो तो ज्ञान हो ही नहीं सकता। इसलिए ज्ञात वस्तु जड़ नहीं हो सकती। जड़ होने से ज्ञात वस्तु का सम्बन्ध चेतन से अलग हो जायेगा। तब उसे ज्ञेय नहीं कहा जा सकता। इसलिए वस्तु ज्ञान-रूप है, जड़-रूप नहीं। वस्तु को जड़-रूप मानना वास्तव में अज्ञानता है। ज्ञान की इस सापेक्षता के कारण ही काश्मीर शैव दार्शनिक वस्तुओं से परिपूर्ण इस जगत् को आभास-रूप मानते हैं। यहाँ प्रश्न यह उठता है कि परमशिव विश्वोत्तीर्ण होकर भी विश्वात्मक भाव (अनेक रूप) में कैसे स्फुरित होता है? इस स्थिति में उसकी अद्वयता कैसे खण्डित नहीं होती?

काश्मीर शैव दार्शनिक कहते हैं कि जैसे महासमुद्र अपने स्वरूपभूत जल को अपने अन्तर्गत ही असंख्य वीथिमालाओं के रूप में आभासित करता है उसी प्रकार परमशिव अपनी अखण्ड प्रकाशरूपता के अन्तर्गत अपनी स्पन्दरूपा इच्छा

---

१. ई०प्र०, अभिनवकृत, २, अ०३, आ, पृष्ठ ७४-७५।

शक्ति को उल्लसित करके अपने स्वरूप को ही विश्वभाव से आभासित करता है।[१] वीचित्वविशिष्ट जल और निश्चलत्वविशिष्ट जल में व्यवहार के लिए भेद मानने पर भी वस्तुतः जैसे जलत्व की दृष्टि से कोई भेद नहीं, उसी प्रकार विश्वमय चैतन्य और विश्वोत्तीर्ण चैतन्य में भी भेद नही।[२] एक परमशिव ही शिवतत्त्व से लेकर क्षितिपर्यन्त सर्वत्र अपने स्वरूप का आभासन करते हुए स्वातन्त्र्य-लीला में मग्न रहते हैं।[३] विश्वात्मभाव से अपने विमर्श का प्रकाशन ही परमशिव का स्वातन्त्र्य है।[४] शिवाद्वैत दर्शन के इसी स्वातन्त्र्य सिद्धान्त को जगत् की आभाससारता के विचार से, कुछ अर्वाचीन विद्वानों ने अभासवाद कहा है।[५]

विश्वात्मरूप में अपनी परमेश्वरता (शक्ति) का आभास ही परमेश्वर का स्वात्म-विनोदन है और उसकी यह आभास-लीला ही जीवों के लिये परमशिव की सत्ता का द्योतक है।[६] यहाँ प्रश्न यह उठता है कि यदि परमशिव सर्वथा परिपूर्ण है तो फिर उसको जगत् की सृष्टि करने की क्या आवश्यकता है?

शैव दार्शनिक अभिनवगुप्त इसको स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि विश्वरूप से आत्मस्वरूप का आभास करना ही परमशिव की शिवता है। और यह शिवता ही

---

१. तेन बोधमहासिन्धोरुल्लासिन्यः स्वशक्तयः ।
आश्रयन्त्यूर्मय इव स्वात्मसंघट्टचित्रताम् ।। -शिवदृष्टि, भा०२,आ०३/१०२-०३।

२. अथवाम्बुधिवीचिवत् ।
तत्र वीचित्वमापन्नं न जलं जलमुच्यते ।
न च तत्राम्बुरूपस्य वीचिकाले विनाशिता ।। -शिवदृष्टि, आ०३/३७-३८।
यथाम्बुधेस्तरंगाणां चैक्येऽपि व्यवहारभेदस्तथा शिवस्य विश्वस्य च ।
-शिवदृष्टिवृत्ति, पृष्ठ-११३।

३. परमेश्वरः वस्तुतः क्रमराहित्येऽपि विश्वसृष्टौ आभासनमात्रसारेण पारमार्थिककार्यकारणभावेन क्रममपि उद्भावयन्, अनाख्यत्वेऽपि स्वेच्छयैव स्वात्मभित्तौ तत्तच्छिवादितत्त्वाभिख्याम् अवभासयति।
-षट्त्रिंशत्तत्त्वसन्दोह, पृष्ठ-१।

४. इदमेव हि परं स्वातन्त्र्यं- यत् स्वं स्वरूपं वेदकमेव सत् वेद्यत्वेन अवभासयति।
-तन्त्रालोकटीका, भाग-१ पृष्ठ २०९।

५. एन हिस्टॉरिकल ऐण्ड फिलासॉफिकल स्टडी, अभिनवगुप्त, पृष्ठ-१९६।

६. सदा सृष्टिविनोदाय सदास्थितिसुखासिने ।
सदा त्रिभुवनाहारतृप्ताय भवते नमः ।। -ई०प्र०वि०, भाग-१, पृष्ठ-१९५।

उसका नित्य स्वभाव है। परमशिव का यह स्वतन्त्र स्वभाव ही उसकी पंचकृत्यात्मक क्रीड़ा है। विश्वाभास की सृष्टि-संहारात्मक यह क्रीड़ा ही उसका स्वभाव है। शिव सर्वथा स्वतन्त्र तथा सर्वशक्तिमान् है। इस जगत् को आभासरूप मानने के लिये किसी अन्य सत्य जगत् को मानने की आवश्यकता नहीं है। शिव अपने स्वातन्त्र्य से इस जगत् को आभासित करता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि काश्मीर शैव दार्शनिक जगत् की जड़वादी सत्ता के सिद्धान्त का खण्डन करते हुए इस जगत् को शिव की लीला-मात्र मानने के कारण, आभासित रूप में सिद्ध करने में सफल रहे हैं।

शक्ति-प्रसार

काश्मीर शैवदार्शनिक शिव के साथ जगत् की तात्त्विक एकता को सिद्ध करने के लिए कहते हैं कि शिव की इच्छा ही जगत्-रूप धारण करती है। इसके लिए किसी कारण की आवश्यकता नहीं होती; क्योंकि वह स्वयं सर्वशक्तिमान् है। शिव अपनी शक्ति-प्रसार के द्वारा ही विश्व की उत्पत्ति करता है। सृष्टि की उत्पत्ति एवं विनाश उसके शक्ति-प्रसार और संकोच पर आश्रित रहता है। वह अपने आनन्द-स्वभाव की अभिव्यक्ति के लिए आत्मस्वरूप को ही प्रमातृ-प्रमेय के विभिन्न रूपों में अवभासित करता है।[१] उसके आनन्द-स्वभाव की यह अभिव्यक्ति ही उसकी शक्ति का स्फुटन है।[२] इस स्वभाव-अभिव्यक्ति की लीला में वह "अहम्" अर्थात् प्रमाता के रूप में अनन्त प्रकार से अवस्थित रहता है।[३]

जगत् सार्वभौम चेतना की वैचारिक अथवा विमर्शात्मक सृष्टि है। चैतन्य की अभिव्यक्ति के ये विभिन्न रूप शैव दर्शन में छत्तीस तत्त्वों में वर्णित हैं। इन तत्त्वों की संख्या को लेकर शैव दार्शनिकों में विभिन्नताएँ परिलक्षित होती हैं। उत्पलाचार्य के अनुसार तत्त्वों की संख्या छत्तीस है। किन्तु अभिनवगुप्त शिव के आध्यात्मिक और भौतिक रूपों के आधार पर तत्त्वों की संख्या सैंतीस बताते हैं।[४] विश्व की

---

१. तस्मात् प्रकाश एवासौ गीतो यः परमः शिवः ।
स एवाचिन्त्यमहिमा स्वातन्त्र्योद्दाम-घूर्णितः ।।-मालिनीविजयवार्तिक, १/६९-७०।

२. सर्व एवायं विश्वप्रपञ्च आनन्दशक्तिस्फारः । -तन्त्रालोक, भाग-२, पृष्ठ-२०१।

३. परमार्थसार-टीका, पृष्ठ-३-४।

४. परात्रिंशिका-विवरण, अभिनवगुप्त।
परमतत्त्व हमारी बुद्धि के परे है। हम तत्त्व को शिव से लेकर धरणीपर्यन्त छत्तीस तत्त्वों में समझते हैं, किन्तु शिव वस्तुतः परे होने के कारण सैंतीस तत्त्व हैं।
-अभिनवगुप्त।

आभास-रूपता में तत्त्वों का क्रम वस्तुतः अक्रम में ही क्रम का आभास है।[१] **मालिनी-विजयोत्तर-तन्त्र** में तत्त्वों के उपर्युक्त क्रम-विधान का आधार पूर्व-पूर्व तत्त्वों की उत्तर-उत्तर तत्त्वों से गुणोत्कृष्टता बतायी गयी है।[२] अवरोह क्रम से परमेश्वर स्वेच्छा से अपने अन्तर्गत विश्ववैचित्र्य के ३६ तत्त्वों का आभासन करता है।

सांख्य दर्शन के स्थूल भूतों से लेकर प्रकृति तथा पुरुष-तत्त्व तक इन पच्चीस तत्त्वों को शैव दर्शन भी मानता है। परन्तु इन दोनों में कुछ अन्तर भी है। सांख्य दर्शन में "पुरुष" और "प्रकृति" नित्य है, स्वतन्त्र है, किन्तु शैव दर्शन में ये "अनित्य हैं" "परतन्त्र" हैं। प्रकृति-तत्त्व यहाँ माया के नाम से प्रसिद्ध है। इसके साथ पाँच तत्त्व हैं— कला, विद्या, राग, काल और नियति। ये माया के **"कञ्चुक"** हैं। इन पाँच तत्त्वों के अन्तःप्रवेश करने से इनके स्वरूप का ज्ञान हो जाता है और माया से छुटकारा मिलता है। इसके बाद माया की अपेक्षा दूसरे सूक्ष्म तत्त्व में साधक प्रवेश करता है और शुद्ध-सत्त्व-विशिष्ट पुरुष "शुद्ध विद्या" के रूप में साधक को दिखायी पड़ता है। इसको "सद्विद्या" भी कहते हैं। यह सद्विद्या-तत्त्व ईश्वर-तत्त्व में लीन हो जाता है। ईश्वर-तत्त्व सदाशिवतत्त्व में, सदाशिवतत्त्व शक्तितत्त्व में तथा शक्तितत्त्व शिवतत्त्व में समाहित हो जाता है। यही पूर्णावस्था है, यही दर्शन का परम लक्ष्य है।

इस प्रकार माया से लेकर शिवतत्त्वपर्यन्त ग्यारह तत्त्व नये हैं। सांख्य के पच्चीस तत्त्वों को मिलाकर शैव दर्शन में छत्तीस तत्त्व हैं। शैव दर्शन के अनुसार सदाशिव से लेकर पृथ्वी तक छत्तीस तत्त्व हैं। ये दो भागों में हैं। पहला शुद्ध अध्वा और दूसरा अशुद्ध अध्वा। अध्वा का अर्थ है रास्ता, मार्ग, पद्धति, प्रकार, क्रम, काल। शिव की अभिव्यक्ति का मार्ग या पद्धति जो माया से ऊपर है, जहाँ तक वेदक और वेद्य में भेद नहीं है, वहाँ तक शुद्ध अध्वा कहलाता है। जहाँ से भेद प्रारम्भ हो जाता है वहाँ से लेकर भूमि तक अशुद्ध अध्वा कहलाता है। शैव दर्शन निम्न छत्तीस तत्त्वों का निरूपण करता है।

१. शिव-तत्त्व

यह सर्वोत्कृष्ट तत्त्व है। यह चैतन्यरूप है।[३] इसको अनेक नामों जैसे— परमेश्वर, परा संवित् या शिव आदि से सम्बोधित किया जाता है। यह तत्त्व संसार

१. षट्त्रिंशत्तत्त्वसन्दोह, पृष्ठ-१।

२. यो हि यस्माद् गुणोत्कृष्टः स तस्मादूर्ध्व उच्यते ।

—मालिनीविजयोत्तरतन्त्र, अधि०२/६०।

३. चैतन्यमात्मा, शिवसूत्र, १/१।

के हर जड़ और चेतन में मुख्य रूप से विद्यमान है। यह नित्य और अनन्त है। यह समस्त विश्व में व्यापक रूप में है और "विश्वातीत" भी है। प्रकाश और विमर्श के स्वातन्त्र्य-रूप से भासमान होने के कारण यह शिवतत्त्व कहा जाता है।[१] यह प्रकाश का विमर्श (बोध), उसके शिवरूप की अभिव्यक्ति है, और विमर्श का प्रकाश (अभिव्यक्ति) उसके शक्ति स्वरूप को।[२]

इस प्रकार यह विश्व शिव के अन्दर समाहित है, इससे अलग विश्व का कोई अस्तित्व नहीं है। यह देश और काल से परे है फिर भी यह सर्वत्र देश-काल में समान रूप से विद्यमान है। इसीलिए शिव-तत्त्व को सत्य-प्रकाश का आभास कहा गया है।[३] शिवतत्त्व में प्रमेय का अभाव होता है, क्योंकि जब सारा जगत् शिव में ही समाहित है तब उससे अलग प्रमेय का अस्तित्व भी कैसे हो सकता है? इस सम्पूर्ण विश्व में केवल एकमात्र अस्तित्व शिव का ही है। अपने इस अखण्ड स्वातन्त्र्य से ही परमशिव अपनी इच्छा से जगत् की सृष्टि के लिए स्पन्दमान होता है। अतः सब कुछ शिव में है, इसके अतिरिक्त कुछ भी ग्राह्य नहीं है। यह इच्छा, ज्ञान तथा क्रियात्मक है एवं पूर्णानन्द-स्वभाव है।

२. शक्तितत्त्व

यह तत्त्व शिव का अभिन्न स्वरूप है, जिससे परमशिव अपने को दूसरे रूप में आभासित करता है। यह तत्त्व प्रकाशात्मा है, अर्थात् विमर्श ही इसका स्वभाव है। शिव में जो पूर्ण अकृत्रिम अहंभाव है उसी को विमर्श शक्ति कहते हैं।[४] इस शक्ति के अभाव में शिव अनीश्वर तथा जड़ हो जायेगा।

शक्ति-तत्त्व परमेश्वर का विश्वमय रूप है। यह शक्ति ही उन्मीलित होने वाले विश्व को अपने अन्दर विलीन किये रहती है। वैसे ये दोनों तत्त्व एक ही है, न शिव शक्तिरहित है और न शक्ति शिवरहित है।[५] केवल यह व्यवहार-रूप में माना

---

१. ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी, भाग-२, पृष्ठ-१९०।

२. अकृत्रिमाहमामर्शप्रकाशैकधनः शिवः ।
शक्त्या विमर्शवपुषा स्वात्मनोऽनन्यरूपया ।। –अनुत्तरप्रकाशपंचाशिका, का०१।

३. सत्यप्रकाशाभासश्च शिवतत्त्वम् । –ई०प्र०वि०, भाग-२, पृष्ठ-११६।

४. पराप्रवेशिका, पृष्ठ-१-३।

५. शक्तिश्च शक्तिमांश्चैव पदार्थद्वयमुच्यते ।
शक्तयोऽस्य जगत्कृत्स्नं शक्तिमांश्च महेश्वरः।।
–नेत्रतन्त्र टीका, भाग-१, पृष्ठ-९।

जाता है कि यह शक्तिमान् है और यह शक्ति है।[१] शिव और शक्ति शब्दार्थ तथा चन्द्र-चन्द्रिका के समान सम्पृक्त हैं। शिव में शक्ति और शक्ति में शिव है।[२] शिव के बिना शक्ति और शक्ति के बिना शिव की कल्पना ही नहीं की जा सकती। क्या अग्नि के बिना धूम और धूम के बिना अग्नि अथवा वृक्ष के बिना छाया और छाया के बिना वृक्ष का सत्ता-बोध सम्भव है?[३] ''शिव'' शब्द में इकार शक्ति की सम्पृक्तता का द्योतक है।[४] शक्ति शिव की सृष्टि करने की इच्छा है। वह समस्त पदार्थों की सृजनात्मिका शक्ति है। शक्ति शिव की क्रिया-शक्ति है।[५]

३. सदाशिव-तत्त्व

इसे ''सदाख्य'' तत्त्व भी कहते हैं।[६] इस तत्त्व में अहन्ता और इच्छा-प्राधान्य रहता है। जब शक्ति में ''उन्मेष'' होता है तब सृष्टि होती है और जब निमेष होता है, तब जगत् का लय हो जाता है। इसी उन्मेष के कारण ''सदाशिवतत्त्व' की अभिव्यक्ति होती है। सृष्टि के विकास में यह सदाशिव पहला तत्त्व है जिससे सत् का ज्ञान होता है।[७] इस अवस्था में ब्रह्माण्ड या अनुभव का ''इदम्'' अंश धुँधले विचार के रूप में रहता है।[८] इस अवस्था में मैं और विश्व में कोई भेद नहीं है। विश्वपरामर्श प्रमातृपरामर्श में छिपा रहने के कारण यह तत्त्व विश्व-प्रलय का द्योतक है।

---

१. वस्तुतो हि शक्तितद्वतोः परस्परमवियोग एव, किन्तु प्राधान्यमेव प्रयोजकीकृत्य तथाव्यपदेशो यदयं शक्तिमान् इयं शक्तिरिति। –तन्त्रालोक, भाग-७, पृष्ठ-१०।

२. शिवस्याभ्यन्तरे शक्तिः शक्तेरभ्यन्तरे शिवः।
अन्तरं नैव जानीयात् चन्द्रं चन्द्रिकयोरिव ।। –सिद्धसिद्धान्तसंग्रह ।

३. न शिवेन विना शक्तिर्न शक्तिरहितः शिवः।
अन्योऽन्यञ्च प्रवर्तन्ते अग्निर्धूमो यथा प्रिया ।।
न वृक्षरहिता छाया न च्छायारहितो द्रुमः ।। –वही ।

४. शिवोऽपि शवतां याति कुण्डलिन्या विवर्जितः । –देवीभागवत का वचन।

५. कुलस्य सामरस्येति सृष्टिः हेतुः प्रकाशनम् ।।
स चापरं परा शक्तिराज्ञेशस्यापरं कुलम् ।।
प्रपञ्चोऽस्य समस्तस्च जगत्रूपं प्रवर्तनात् ।। –सिद्धसिद्धान्त संग्रह।

६. ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी, भाग-२, पृष्ठ-१९१।

७. सृष्टिक्रमोपदेशादौ प्रथममुचितं तत्सदाख्यं तत्त्वम् । –वहीं।

८. तत्रप्रोन्मीलितमात्रचित्रकल्पतया इदमंशस्य अस्फुटत्वात् इच्छाप्राधान्यम्।--वहीं।

सदाशिव-तत्त्व शक्ति-तत्त्व का प्रथम और स्थूल उन्मेष है। इस अवस्था में इच्छा-शक्ति की प्रधानता होती है। सदाशिव के इस दशा को **"मन्त्रमहेश्वर"** कहा गया है। विश्व सृष्टि में मन्त्रमहेश्वर नामक चैतन्य वर्ग (प्रमाता) का प्रमेय रूप भावचक्र अहन्ता के प्रकाश में उसी प्रकार अस्फुट रहता है जिस प्रकार कुछ रेखा-चित्र बिन्दुओं से न मिलने के कारण चित्रफलक के प्रकाश के प्राधान्य में अस्पष्ट-सा रहता है। सदाशिव तत्त्व में विश्व का अवभास "अहम् इदम्" इस रूप में होता है इस अवस्था में "अहं" रूप प्रमाता अर्थात् विश्वस्रष्टा और "इदम्" रूप प्रमेय अर्थात् विश्व का सूचक है। अतः सृष्टि विकास और विनाश दोनों में इस तत्त्व की अहम् भूमिका है।

४. ईश्वर-तत्त्व

यह चौथा तत्त्व है। इस तत्त्व में ज्ञान की प्रधानता रहती है। इसमें अहं का ज्ञान और विश्व का आभास दोनों समान रूप से एक साथ ही विद्यमान रहता है। यहाँ "अहम्" अंश गौण रहता है और "इदम्" अंश की प्रधानता रहती है। यहाँ ईश्वर-तत्त्व के प्रमाता की संज्ञा "मन्त्रेश्वर" है और उस ईश्वर-तत्त्व में विमर्श को "इदम् अहम्" अर्थात् "यह मैं हूँ" इस शुद्ध प्रत्यय द्वारा व्यक्त किया जाता है। इसप्रकार जब "अहम्" का विमर्श स्फुट हो जाता है। तब "इदम्" अर्थात् विश्व का स्फुटतया होने वाला वेद्य परामर्श ही ईश्वर-तत्त्व कहलाता है।[१]

काश्मीर शैव दर्शन के अलावा अद्वैत वेदान्त में भी ईश्वर की सत्ता की पुष्टि की गयी है, लेकिन दोनों में बहुत असमानताएँ भी हैं। अद्वैत-वेदान्त का ईश्वर माया या अविद्या से रहित हो जाने पर ईश्वर नहीं रह जाता है।[२] काश्मीर शैव दर्शन का ईश्वर माया से बद्ध नहीं होता। वह अपनी इच्छा से भेदाभेद दशा में अवतरित होता हुआ ईश्वर-तत्त्व कहलाता है।

५. शुद्ध विद्यातत्त्व

काश्मीर शैव दर्शन में इस तत्त्व को शुद्ध विद्या या सद्विद्या के नाम से जाना जाता है। इसमें क्रिया का प्राधान्य है। इस अवस्था में विमर्श का रूप "अहम् इदम्" प्रत्यय द्वारा प्रकट किया जाता है।[३] यहाँ भेदाभेद की अवस्था रहते हुए भी "मैं"

---

१. भावराशौ पुनः स्फुटीभूते तदधिकरणे एवेदमंशे यदाहमंशं निषिञ्चति तदा ज्ञानशक्तिप्रधानमीश्वरतत्त्वम् – इदमहमिति। –तन्त्रालोक टीका, भाग-६, पृष्ठ-५०।

२. तदेवमविद्यात्मकोपाधिपरिच्छेदापेक्षमीश्वरस्येश्वरत्वम्। –ब्र०सू०शां०भा०, २/१/१४।

३. तन्त्रालोक टीका, भाग-६, पृष्ठ-५०।

और "यह" में बराबर की स्थिति बनी रहती है। जैसे इसमें यह ज्ञान रहता है कि "यह विश्व मैं ही हूँ।" "यह मेरा ही रूप मुझसे भिन्न नहीं है।" इसीलिए इसे शुद्ध विद्या कहते हैं।

शुद्ध विद्या-तत्त्व सदाशिव-तत्त्व और ईश्वर-तत्त्व के अधिष्ठातृ-देवताओं का करणस्थानीय तत्त्व है।[१] जिस प्रकार परमशिव का बहिः औन्मुख्य शक्ति-तत्त्व कहलाता है, उसी प्रकार सदाशिव और ईश्वर का बहिः औन्मुख्य शुद्धविद्या-तत्त्व कहा जाता है।[२] अतः शक्ति का उन्मेष और निमेष अथवा बाह्य और आभ्यन्तर स्थिति ही क्रमशः ईश्वर और सदाशिव है तथा "मैं यह (विश्व) हूँ" ऐसा विमर्श शुद्ध-विद्या कहलाता है।

उपर्युक्त पाँचों तत्त्वों का यह विकास शुद्ध अध्वा कहलाता है।[३] ऐसा इसलिए माना जाता है कि साक्षात् शिव अपनी इच्छा से उपरोक्त पाँचों तत्त्वों को अवभासित करता है।[४] इस आभासन क्रम को शांभव, शक्तिज, मन्त्रमहेश, मन्त्रनायक तथा मन्त्र कहा गया है।[५] यह शुद्ध तत्त्व कहा जाता है।

अशुद्ध अध्वा

पाँच शुद्ध अध्वा के बाद जगत्-अभिव्यक्ति के शेष ३१ तत्त्वों को अशुद्ध अध्वा के रूप में जाना जाता है। यह अशुद्ध अध्वा माया-प्रधान रहता है। इसे अशुद्ध सृष्टि अथवा मायिक सृष्टि भी कहा जाता है।

६. माया-तत्त्व

माया परमेश्वर की स्वातन्त्र्य शक्ति है, जो भेद-दशा का अवभासन करने के कारण माया-शक्ति कहलाती है।[६] इसे परमेश्वर की स्वरूपगोपनात्मिका इच्छा-शक्ति

---

१. तदधिष्ठातृदेवताद्वयगतं "करणं" विद्यातत्त्वम् । -ई०प्र०, भा०-२, ३/१/५।

२. यद्यपि परमशिवस्यैवेदमेकमैश्वर्यं तथापि तस्य यथा बहिरौन्मुख्येन व्यापारः शक्तित्वं तथा सदाशिवेश्वरयोरपि विद्या-तत्त्वम्। -तं०टी०आ०६, पृष्ठ ५०/५१।

३. ईश्वरप्रत्यभिज्ञावृत्ति, पृष्ठ-६०।

४. तदेवं पञ्चकमिदं शुद्धोऽध्वा परिभाष्यते ।
तत्र साक्षाच्छिवेच्छैव कर्त्र्यभासितभेदिका ।। -तंत्रालोक, भाग-६, आ० ९/६०।

५. शाम्भवाः शक्तिजा मन्त्रमहेशा मन्त्रनायकाः ।
मन्त्रा इति विशुद्धाः स्युरमी पंचगणाः क्रमात्।। -तन्त्रालोक, भाग-३, आ०९/६०।

६. परमेश्वरस्य भेदावभासने स्वातन्त्र्यं तदेवाव्यतिरेकिणी अपूर्णताप्रथनेन मीनाति हिनस्ति इति मायाशक्तिः उच्यते । -तन्त्रालोक टीका, भाग-३, पृष्ठ-२८३।

भी कहा गया है।[१] इस अवस्था में विषयी और विषय की एकता नष्ट हो जाती है। इस स्तर पर माया-शक्ति के द्वारा परमेश्वर अपने स्वरूप को आच्छादित कर "पुरुष" तत्त्व होकर पृथक् हो जाते हैं। माया ईश्वर की दैवी शक्ति है; क्योंकि परमेश्वर का जो विश्व-निर्मातृत्वस्वरूप परम स्वातन्त्र्य है उसका सम्पादन करने वाली है। माया शक्ति के द्वारा "विश्वात्म-प्रमाता" के पूर्णप्रकाश-रूप का तिरोधान हो जाने पर वह परिमित प्रमाता शरीर आदि जड़ पदार्थों को अपनी आत्मा और चेतना को उसका एक गुण समझना प्रारम्भ कर देता है।

माया की दो मुख्य शक्तियाँ मानी जाती हैं, पहला परानिशा और दूसरा विमोहिनी। जिसमें माया-तत्त्व की अभिव्यक्ति होती है, और जो अविभक्त भेदावभास की उपाद्या दशा है उसे "परानिशा" संज्ञा दी गयी है।[२] विमोहिनी ईश्वर की वह शक्ति है, जिसके द्वारा चिदात्मा अपने को परिच्छिन्न या सीमित रूप में कर लेता है। माया के प्रभाव से अन्तिम रूपों में आत्मभाव का भान होना तथा चिन्मय भावों को भी अपने से सर्वथा भिन्न जड़रूप समझने के कारण माया को विमोहिनी शक्ति कहा गया है।[३] यह वास्तविक स्वरूप का आच्छादन कर पुनः अज्ञान का प्रसार कर ज्ञान का प्रतिषेध करती है। माया की विमोहन शक्ति मिथ्याभिमान का प्रसार कर ज्ञान को परिच्छिन्न कर देती है। समस्त विश्व का उपादान कारण होने के कारण वह व्यापिनी भी कही जाती है।

माया शिव की एक बृहत् शक्ति है। जिसके द्वारा वह भिन्न-भिन्न प्रकार की क्रीड़ा करता रहता है। आचार्य क्षेमराज और जयरथ ने माया का तीन ग्रन्थात्मक स्वरूप बताया है।[४]

माया का स्वरूप तिरोधानकारी है।[५] वह अपने दुर्घट सम्पादन-सामर्थ्य से शुद्ध प्रमाता के प्रकाशस्वरूप का तिरोधान कर देती है जिससे वह अनवच्छिन्न प्रकाश-रूप से परिच्छिन्नप्रकाशरूप हो जाता है।[६] अपनी स्वातन्त्र्यक्रीड़ा से शिव संकुचित

---

१. मायास्वरूपगोपनात्मिका पारमेश्वरी इच्छाशक्तिः । -वहीं, पृष्ठ-२८३।

२. आद्यो भेदावभासो यो विभागमनुपेयिवान् ।
गर्भीकृतानन्तभावविभासा सा परा निशा ।। -तन्त्रालोक, भाग-६, ९/१५०-१५१।

३. माया विमोहिनी नाम। -विज्ञानभैरव, का० ९५।

४. स्वच्छन्दतन्त्र टीका, भाग-५ ब, पृष्ठ-४८१।
तन्त्रालोक टीका, भाग-५, पृष्ठ-२०५।

५. तिरोधानकारी मायाभिधा पुनः। -ईश्वरप्रत्यभिज्ञा, भाग-२, ३/१/७।

६. स्वच्छन्दतन्त्रटीका, भाग ५ ब, पृष्ठ-४८१.

जीव-रूप में प्रकट होने पर उसकी शक्तियाँ अर्थात् सर्वकर्तृता, सर्वज्ञता, नित्यता, पूर्णता और स्वातन्त्र्य (व्यापकता) भी संकुचित होकर जीव के जिन आवरण रूपों में प्रकट होती है उनकी संज्ञा यथाक्रम से कला, विद्या, काल, राग और नियति है।[१]

पुरुष के स्वरूपाच्छदन होने के कारण ये कला आदि पंच कंचुक अथवा माया षट्-कंचुक कहलाते हैं।[२] इन संकुचित शक्तियों से अपूर्णता में आबद्ध होने के कारण इन कंचुकों को जीव का बन्ध या पाश भी कहा जाता है। ये पाश जीव के बाह्य बन्धन न होकर उसके अन्तरंग स्वभाव संकोच के धर्म हैं।[३] शैवागमों में इनके क्रम को लेकर कुछ मतभेद है। भिन्न-भिन्न क्रम देखकर शंका में पड़ने की आवश्यकता नहीं है; क्योंकि परमेश्वर स्वयं पूर्ण और सर्वव्यापक है। अत: उसमें संकोच का अभाव है, जिसके कारण क्रम के लिए कोई अवकाश नहीं है।

७. कला

आचार्य अभिनवगुप्त ने कला की उत्पत्ति माया-तत्त्व से बताते हुए इसे माया की प्रथम सृष्टि कहा है।[४] जिस समय माया से मितात्मा का पूर्ण प्रकाशस्वरूप तिरोहित हो जाता है। उस समय उसकी ज्ञान शक्ति के साथ क्रिया शक्ति भी संकुचित हो जाती है, और उसे अपने में कुछ ही कर सकने के ''परिमितकर्तृत्व'' का अनुभव होता है।[५] अत: प्रमाता में कुछ ही कर सकने का भाव दृढ़ करने के कारण कला को **''किञ्चित्कर्तृत्वोपोद्बलनमयी''** कहा गया है।[६] कला से ही प्रधान (प्रकृति) की उत्पत्ति होती है।[७] कला माया का कार्य तथा विद्यादि का कारण भी अर्थात् अग्रिम विद्या, राग, काल आदि चार तत्त्वों की उत्पत्ति कला से होती है। माया प्रमाता की चेतना का अपहरण कर उसे जड़ सा बना देती है, परन्तु उसमें थोड़ा चेतन अंश

---

१. संपूर्णकर्तृताद्या बह्वयः सन्त्यस्य शक्तयस्तस्य ।
'संकोचात्संकुचिताः कलादिरूपेण रूढयन्त्येवम् ।। -षट्त्रिंशत्तत्त्वसन्दोह, श्लोक-७।

२. तन्त्रालोक, भाग-६, ९/२०४।

३. मायासहितं कंचुकषट्कर्मणोरन्तरंगमिदमुक्तम्। -तन्त्रालोकटीका, भाग-६, पृष्ठ-१६४।

४. तन्त्रालोक, भाग-६-९, पृष्ठ १६६-१६७।

५. तत्सर्वकर्तृता सा संकुचिता कतिपयार्थमात्रपरा ;
किंचित्कर्तारममुं कलयन्ती कीर्त्यते कला नाम ।। -षट्त्रिंशत्तत्त्वसन्दोह, श्लोक-८।

६. ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी, भाग-२, पृष्ठ-२०८।

७. वेद्यमात्रं स्फुटम् भिन्नं प्रधानं सूयते कला। -तन्त्रालोक, आ०-९, पृष्ठ-१७७।

भी प्रदान करती है। वह चेतन अंश कलातत्त्व है, जो आत्मा के लिए शक्ति एकत्रित करता है।

८. विद्या

इसके द्वारा परमेश्वर का सर्वज्ञत्व संकुचित होकर किञ्चिज्ज्ञत्व में परिणत हो जाता है। इस संकुचित ज्ञानशक्ति का नाम ही विद्या है।[१] इसे ''अशुद्ध विद्या'' भी कहा जाता है। जीव में कुछ ही वेद्यों का ज्ञान उत्पन्न करने के कारण इसे **''किंचिज्ज्ञत्वोन्मीलनरूपा''** कहा गया है।[२] यह ज्ञान की सीमित शक्ति है। यह पुरुषों में विविध शक्ति के रूप में स्थित है। यह बुद्धि-रूपी दर्पण में प्रतिबिम्बित नील, पीत आदि बाह्य और सुख-दुःख आदि आभ्यन्तर वेद्य भावों का विवेचन करके जीवात्मा को उनसे होने वाले सुख-दुःखादि प्रत्ययों से अवगत करती है।[३] यह बुद्धि सत्त्वरूपा होते हुए भी गुणों का कार्य होने के कारण जड़ है। अतः जड़रूपा बुद्धि अपने में प्रतिबिम्बित भावों को पृथक्-पृथक् कर उनसे उत्पन्न सुखः-दुःख आदि प्रत्ययों का ज्ञान मितात्मा को नहीं करा सकती।[४]

९. राग

इसके द्वारा परमेश्वर की पूर्णतृप्ति संकुचित होकर यत्किञ्चित् भोगों में आसक्त हो जाती है, जिसके कारण मितात्मा समस्त विश्व को आत्मभाव से न देखकर शरीर जैसी वस्तु को ''अहम्'' और किसी वस्तु को ''मम'' समझने लगता है तथा उसे अत्यन्त गुणशालिनी मानने लगता है। इस प्रकार के गुणारोपणमय आसक्ति को राग कहते हैं।[५]

इस रागतत्त्वनामक कंचुक को वैराग्य का अभावरूप राग नहीं समझा जा सकता क्योंकि यह तो बुद्धि का एक धर्मविशेष है, पुरुष का कंचुक नहीं है। यह रागतत्त्व द्वेष के विरोधी भाव राग से भिन्न है। यह व्यक्तियों में विषय के लिए लालसा उत्पन्न करता है। शाश्वत संतुष्टि के अनुभव के बदले यह आत्मा में काल की सीमितता को उत्पन्न करता

---

१. सर्वज्ञतास्य शक्तिः परिमिततनुरल्पवेद्यमात्रपरा ।
ज्ञानमुत्पादयन्ती विद्येति निगद्यते बुधैराद्यैः ।। –षट्त्रिंशत्तत्त्वसन्दोह, श्लोक-९।

२. ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी, भाग-२, पृष्ठ-२०८।

३. वहीं।

४. षट्त्रिशंत्तत्त्वसन्दोह विवरण, पृष्ठ-७१।

५. ई०प्र०वि०, भाग-२, पृष्ठ-२०९।

है। अतः यह अन्तःकरण तत्त्वों में बहुत ऊपर स्थित है और बुद्धि के धर्म "स्थूल राग" से सूक्ष्मतर है।[१] यह रागतत्त्व मितात्मा को भेदगत भागों में अनुरंजित करता है।[२]

१०. काल

जिसके द्वारा परमेश्वर का नित्यत्व संकुचित होकर अतीत, वर्तमान और अनागत में परिच्छिन्न हो जाता है उसे काल कहते हैं। यह काल प्रमाता के स्वरूप में ही संकोच को लाता है। माया के प्रभाव से जब काल-शक्ति की अभिव्यक्ति होती है तब पहले अपनी देहरूप आत्मा में इस प्रकार क्रमरूपता का अनुभव करने लगता है कि "मैं कृश था", "मैं स्थूल हूँ", "मैं स्थूलतर होऊँगा।" फिर अपने में क्रमरूपता का परामर्श करता हुआ वह अपनी प्रमेय वस्तुओं पर भी अपनी क्रमरूपता का आरोप करने लग जाता है कि "अमुक वस्तुएँ थीं", "अमुक वस्तु है", "अमुक वस्तु होगी।"[३] इस तरह की क्रमरूपता पर ही कालिक व्यवहार ठहरा हुआ है। कम्र तो संकुचित पदार्थों में ही हो सकता है। संकोच के अवभास का कारण माया होती है। काल भी माया का ही एक विस्तार है, जो प्रमाता के स्वरूप में ही संकोच लाकर उसकी कला और विद्या को भी व्याप्त कर लेता है। इस क्रमरूपता का अवभासन करने वाली पारमेश्वरी शक्ति कला-शक्ति कहालाती है।[४]

११. नियति

जिसके द्वारा परमेश्वर का स्वातन्त्र्य संकुचित होकर विशिष्ट कार्य के लिए विशिष्ट कारण का नियम धारण करता है और उसका व्यापकत्व संकुचित होकर किसी विशिष्ट देश में परिच्छिन्न हो जाता है उसे नियति कहते हैं। नियति वह शक्ति है, जो विषयी की कारणात्मक क्षमता को सीमित करती है। नियति के नियमों के अनुसार ही जीव में वस्तुविशेष के प्रति राग उदय होता है।[५] कौन सी वस्त जीवात्मा का श्रेय बने और कौन-सी वस्तु न बने, इस नियम की नियामिका होने के कारण ही यह नियति कहलाती है।[६]

---

१. ई०प्र०वि०, भाग-२, पृष्ठ-२०९।

२. रागोऽपि रंजयत्येनं स्वभोगेष्वशुचिष्वपि । -मालिनीविजयोत्तरतन्त्र, १/२८।

३. तन्त्रालोक टीका, भाग-६, पृष्ठ-१६३।

४. सेयम् इत्थं भूताभासवैचित्र्यप्रथनशक्तिः भगवतः कालशक्तिरित्युच्यते ।
-ई०प्र०वि०, भाग-२, पृष्ठ-१३।

५. नियतिर्ममेदं कर्तव्यं नेदं कर्तव्यमिति नियमनहेतुः । -पराप्रावेशिका, पृष्ठ-९।

६. नियतिर्योजयत्येनं स्वके कर्मणि पुद्‌गलम् । -मालिनीविजयोत्तरतन्त्र, १/२९।

आचार्य अभिनवगुप्त के अनुसार जिस नियम से नियमित होकर जीवात्मा अग्नि से धुएँ की और अश्वमेध यज्ञ आदि कर्मों से स्वर्ग आदि फलों की कामना करता है और जिस नियम से अपने संकल्पकृत कर्म से उत्पन्न पुण्य-अपुण्य से उसका नियमन होता है उसे जीवात्मा का नियति-तत्त्व कहा जाता है।[१] अतः हर प्रकार के विशिष्ट कार्य की नियामिका मूलतः नियति ही है।

१२. पुरुषतत्त्व

शिव जब कंचुकों सहित माया को स्वीकार कर लेता है तब उसका सार्वभौम ज्ञान और ऐश्वर्य संकुचित हो जाता है और वह पुरुष या एक परिमित व्यक्ति बन जाता है। इस परिमित आत्मा को ही अणु, जीव, पुद्गल आदि नामों से जाना जाता है।[२] काश्मीर शैव दर्शन के अनुसार शिव जब अपने स्वातन्त्र्य स्वभाव के परिगृहीत अणुभाव या परिमितभाव को अल्पकर्ता जीवों के रूप में प्रकट करता है।[३] तो शिव का यह भाव ही पुरुषतत्त्व कहलाता है।[४] इस अवस्था में आत्मा संकुचित हो जाता है और अपने मूल स्वरूप को भूल जाता है।

इन कंचुकों के भीतर लिपटा हुआ पुरुष तत्त्वतः शिव ही है, परन्तु माया के प्रभाव से ग्रसित हो जाने के कारण यह परिमित जीव बन जाता है। जब तक उस जीवात्मा को अपने शिवभाव के स्वातन्त्र्य का ज्ञान नहीं होता तबतक वह अनेक जीव योनियों में भ्रमण करता हुआ अपने कर्मों के अनुसार सुख-दुःख आदि को भोगता रहता है।[५] गुरु के अनुग्रह से जब उसे अपने स्वरूप का ज्ञान हो जाता है तो उसका आत्मस्वरूप विश्रान्त हो जाता है। आत्मस्वभाव की पूर्णता की यह अभिव्यक्ति ही उसकी मुक्ति है।[६]

---

१. अभिनवगुप्तकृत, परमार्थसागर टीका, पृष्ठ-४८।

२. इदमेव च पंचविंशपुंस्तत्त्वमित्युच्यते, यत् श्रीपूर्वशास्त्रेषु पुमानिति, अणुरिति पुद्गलमिति चोक्तम् । -तन्त्रालोक टीका, भाग-६, पृष्ठ-१६५।

३. परिमितात्मा स स्वात्मैश्वर्यादि प्रत्यभिज्ञातुमपटुः संचरति विचित्रयोनिषु ।
-षट्त्रिंशत्तत्त्वसन्दोह विवरण, पृष्ठ-५।

४. मायागृहीतसंकोचः शिवः पुंस्तत्त्वमुच्यते। -अनुत्तरप्रकाशपञ्चाशिका, श्लोक-२२।

५. पर एव प्रकाशः स्वस्वातन्त्र्यात् स्वं रूपं गोपायित्वा यदा संकुचितात्मतामवभासयति तदा एकल एवायं भेदव्यवहारः समुल्लसेत् ।
-तन्त्रालोक टीका, भाग-६, पृष्ठ-१५६।

६. मोक्षस्य नैव किंचिद् धामास्ति न चापि गमनमन्यत्र ।
अज्ञानग्रन्थिभिदा स्वशक्त्यभिव्यक्तता मोक्षः ।। -परमार्थसार, का०६०।

सांख्य दर्शन की भाँति ही काश्मीर शैव दर्शन भी पुरुष को असंख्य मानता है, किन्तु यह अद्वैतवादी दर्शन उसे सांख्य दर्शन की तरह प्रकृति से निर्लिप्त स्वतन्त्र मानकर परमशिव या संवित् का ही स्फुरणमात्र स्वीकार करता है।[१] सांख्य की दृष्टि में असंख्य पुरुष स्वतन्त्र और निरपेक्ष सत्ता है, परन्तु काश्मीर शैव दर्शन का पुरुष परमसत्ता का आभास है।

१३. प्रकृति

माया प्रमाता का जो सामान्य आचार ''इदं'' इतने ही रूप में अवभासित होता हुआ प्रमेय तत्त्व होता है, उसे प्रकृति-तत्त्व कहते हैं। जिस प्रकार पुरुष क्रीड़ा करने वाले परमेश्वर की आत्मकल्पना है, उसी प्रकार प्रकृति उसकी वेद्य कल्पना है।[२] शिव के भेदमय दृष्टिकोण से अवभासित होता हुआ उसका जो वेद्यरूप विश्व का अविभक्त सामान्य आकार है उसे ''प्रकृतितत्त्व'' के रूप में जाना जाता है। शून्य आदि प्रमाता के अपने आपसे व्यतिरिक्त वेद्यमात्र रूपवाले प्रकृति-तत्त्व से कार्य और कारण भाव से २३ प्रकार के प्रमेयों का विकास होता है।[३]

आचार्य अभिनवगुप्त का मत है कि कला किञ्चित्कर्तृत्वलक्षणा है। वह शून्यादि प्रमाता में ''किञ्चित्करोमि'' ऐसा परामर्श उत्पन्न करती है। इस परामर्श में ''करोमि'' विशेष्य अंशरूप होता हुआ ''कर्तृत्व'' का व्यञ्जक है और कर्तृत्वधर्मा होने के कारण वह अपनी क्रिया के फल का भोक्ता भी है। फिर ''किञ्चित् करोमि'' में ''किञ्चित्'' ''करोमि'' का विशेषण होता हुआ कर्तृत्व का वेद्यरूप है और वेद्यरूप होने के कारण वह उसका भोग्य है। इस प्रकार अवच्छिन्नकर्तृत्वविशिष्ट शून्यादि प्रमाता के भाविवेद्यविशेष की अपेक्षा जो वेद्यसामान्यात्मक भोग्यरूप है उसी की संज्ञा प्रधान या ''प्रकृतितत्त्व'' है।[४]

---

१. स्वप्रकाशा संविदेव, एका तत्तदात्मना स्फुरिता। –तन्त्रालोक टीका, भाग-१, पृष्ठ-१७३।

२. इदमेव हि परं स्वातन्त्र्यं यत् स्वं स्वरूपं वेदकमेव सद् वेद्यत्वेन अवभासयति।
–तन्त्रालोकविवेक, भाग-१, पृष्ठ-२०९।

३. त्रयोविंशतिधा मेयं यत्कार्यकारणात्मकम्।
तस्याविभागरूप्येकं प्रधानं मूलकारणम्।। –ई०प्र०वि०, भाग-२, ३/१/१०।

४. एवं कलाख्यतत्त्वस्य किञ्चित्कर्तृत्वलक्षणे।
विशेषभागे कर्तृत्वं चर्चितं भोक्तृपूर्वकम्।।
विशेषणतया योऽत्र किञ्चिद् भागस्तदोत्थितम्।
वेद्यमात्रं स्फुटं भिन्नं प्रधानं सूयते कला।। –तन्त्रालोक, भाग-६, ९/२१३-२१४।

सांख्य दर्शन में जैसे सत्त्व, रजस् और तमस् नामक तीन गुणों की साम्यावस्था को प्रकृति कहा गया है, वैसें ही काश्मीर का शिवाद्वयदर्शन भी प्रकृति को उक्त गुणत्रय की अक्षुब्ध दशा या साम्यावस्था मानता है।[१] कुछ समानता होते हुए भी प्रकृति के सम्बन्ध में दोनों दर्शनों में अन्तर है। सांख्य में जहाँ प्रकृति को जड़ और पुरुष को कर्तृत्वहीन एवं प्रकृति से निर्लिप्त बताया गया है, वहीं काश्मीर शैव दार्शनिकों के अनुसार स्वतन्त्रेश अनन्त जीवात्माओं के कर्मों के अनुसार उन्हें सुख-दुःख आदि भोगों का अनुभव कराने के लिए प्रकृति को क्षुब्ध करता है[२] और उक्त तीनों गुण क्षुभित होकर जगत्कार्य का विस्तार करते हैं।[३] यहाँ साख्यंदर्शन की भाँति एक प्रकृति न मानकर प्रत्येक पुरुष की अलग-अलग प्रकृति होने से उसे असंख्य स्वीकार किया गया है।[४]

अन्तःकरण

१४. बुद्धितत्त्व

अन्तःकरण में सबसे पहले सत्त्वगुणप्रधान महत् तत्त्व प्रकट होता है। उसी तत्त्व को बुद्धि-तत्त्व कहा जाता है। यह एक स्वच्छ जड़तत्त्व होता है। यह तत्त्व अपनी स्वच्छता के कारण सृष्टि में सम्बद्ध वस्तुओं को आभासित करता है। इस तरह प्रमाता के प्रतिबिम्ब को भी अपने अन्दर धारण करती हुई बुद्धि प्रमातृत्व के इस प्रतिबिम्बात्मक सम्बन्ध से चेतन जैसी प्रतीत होने लगती है और चेतन की तरह काम करने लगती है। इस तत्त्व का अपना एक अलग महत्त्व है, क्योंकि यह पुरुष का सबसे प्रधान और निकटतम तत्त्व है। इसकी अनुपस्थिति में पुरुष प्रमेय के प्रति किसी भी व्यवहार को करने का सामर्थ्य नहीं रखता। बुद्धि-तत्त्व ज्ञान और क्रिया का एक साधन है। यह पुरुष के शरीर के अन्दर रहकर हर प्रकार का बोध कराती रहती है। इसलिए इसे अन्तःकरण कहा जाता है।

१५. अहङ्कार

पुरुष के अन्दर भ्रमवश जब यह भावना जागृत होती है कि "यह मैं हूँ" "यह मैं करता हूँ" तो इस कल्पित और सीमित अभिमान को ही उसका अहंकार कहा

---

१. तन्त्रालोकविवेक, भाग-६, पृष्ठ-१७८।

२. ईश्वरेच्छावराक्षुब्धलोलिकं पुरुषं प्रति ।
भोक्तृत्वाय स्वतन्त्रेशः प्रकृतिं क्षोभयेद्भृशम् ।। -तन्त्रालोक, भाग-६, ९/२२५।

३. वहीं, ९/२२३।

४. तच्च प्रतिपुन्नियतत्वात् अनेकम् । -तन्त्रालोक टीका, भाग-६, पृष्ठ-१७२।

जाता है।[१] जीव के साथ सम्बद्ध अनेक शक्ति अहंकार कहलाती है। निश्चित या अनिश्चित ये दो प्रकार के प्रतिबिम्ब बुद्धिदर्पण में पड़े रहते हैं, लेकिन अहंकार के प्रभाव से जीव यह समझता है कि "इन्हें मैं जानता हूँ" इस प्रकार वह सब कुछ न जानते हुए भी अहंकार में अपने को सर्वशक्तिमान् समझता है। यह अहंकार बुद्धि का परिणाम है।

१६. मनस्-तत्त्व

मनस्-तत्त्व इन्द्रियों के सहयोग से प्रत्यक्ष का अनुभव करता है। और संकल्प-विकल्प करता रहता है। यह मनस्-तत्त्व अहंकार का परिणाम है; क्योंकि "करूँ या न करूँ" इस प्रकार का संकल्प और विकल्प का कारण मन है। पुरुष के अन्दर जितने भी विचार उत्पन्न होते हैं उन सब विचारों को करने वाली शक्ति को "मन" कहते हैं। यह भी एक अन्तःकरण है।

१७-२१ पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ

ये ज्ञानेन्द्रियाँ पुरुष की भिन्न-भिन्न प्रकार की क्षमताएँ हैं जो उसके भिन्न-भिन्न व्यवहारों का साधन बनती हैं। अहंकार के परिणामस्वरूप पाँच ज्ञानेन्द्रियों की उत्पत्ति होती है, जो ज्ञान की बाह्य साधक होती हैं। पहले इन्द्रियों का अपने विषय से सम्बन्ध होता है, इसके पश्चात् आन्तर साधन अपना कार्य करते हैं और तब हमें ज्ञान होता है।

१. **घ्राणेन्द्रिय** – इसके द्वारा पुरुष को गन्ध की जानकारी होती है।
२. **रसनेन्द्रिय** – जीव स्वाद की जानकारी के लिए रसनेन्द्रिय पर आश्रित रहता है।
३. **चक्षुरिन्द्रिय** – इससे रूप, वर्ण, आकार आदि की जानकारी होती है।
४. **स्पर्शेन्द्रिय** – इसे त्वगिन्द्रिय भी कहते हैं, इसके द्वारा शीत, उष्ण, कोमल, कठोर आदि स्पर्श को जाना जाता है।
५. **श्रवणेन्द्रिय** – यह जीव को सुनने की शक्ति प्रदान करती है।

२२-२६ पाँच कर्मेन्द्रियाँ

जब ये किसी क्रिया को करती हैं, तो उसके अनुकूल किसी उद्बोधक निमित्त के द्वारा मन में स्मृतिरूप में वह क्रिया उठ आती है और मन उस भावी क्रिया के

---

१. तत्र बुद्धिरध्यवसायसामान्यमात्ररूपा, ग्राह्य-ग्राहकाभिमानरूपोऽहङ्कारः, संकल्पादिकरणं मनः, इत्यन्तःकरणं त्रिधा। –ई०प्र०वि०, ३/१/११।

सम्बन्ध में संकल्प-विकल्प करता है, अहङ्कार, अभिमान तथा बुद्धि निश्चय करती है, निश्चय के पश्चात् चेतन आत्मा की प्रेरणा से वे कर्मेन्द्रियाँ क्रियानुष्ठान में तत्पर हो जाती हैं। ये निम्न हैं—

१. वागिन्द्रिय – यह जीव के बोलने का साधन है।

२. हस्तेन्द्रिय – इसके सहयोग से जीव ग्रहण करने का कार्य करता है।

३. पादेन्द्रिय – यह आने-जाने अथवा चलने-फिरने के लिए प्रयुक्त होती है।

४. पायु (इन्द्रिय) – यह विसर्जन अथवा मलत्याग की क्रिया का साधन है।

५. उपस्थ (इन्द्रिय) - यह विषय-आनन्द को व्यक्त करने की क्रिया का साधन है।

२७-३१ पञ्चतन्मात्राएँ

भूतादि अर्थात् तामस अहङ्कार से तन्मात्रों की उत्पत्ति होती है। ये विशेष प्रत्यक्ष के सामान्य तत्त्व हैं—

१. शब्द-तन्मात्र
२. स्पर्श-तन्मात्र
३. रूप-तन्मात्र
४. रस-तन्मात्र
५. गन्ध-तन्मात्र।

३२-३६ पञ्चमहाभूत

ये पंचमहाभूत पंचतन्मात्राओं के परिणाम हैं।

१.	शब्दतन्मात्र का परिणाम है	— आकाश ।
२.	स्पर्शतन्मात्र का परिणाम है	— वायु ।
३.	रूपतन्मात्र का परिणाम है	— अग्नि या तेज।
४.	रसतन्मात्र का परिणाम है	— आप (जल)।
५.	गन्धतन्मात्र का परिणाम है	— पृथ्वी।

उपर्युक्त चौबीस तत्त्वों (प्रकृति से लेकर पृथ्वी तक) के विकास के विषय में सांख्य दर्शन और काश्मीर शैव दर्शन में समानता है। अन्तर केवल इतना है कि

सांख्य के अनुसार ये तत्त्व प्रकृति के विकास हैं जबकि काश्मीर शैव दर्शन के अनुसार ये तत्त्व प्रकृति का विकास होते हुए भी अन्ततः शिव की ही अभिव्यक्ति हैं।

इस प्रकार काश्मीर शैवदर्शन में भी सांख्य की तरह सृष्टि-सम्बन्धी विकासवादी सिद्धान्त को स्वीकार किया गया है। सांख्य में यह विकास जड़ प्रधानतत्त्व से होता है। और काश्मीर शैवदर्शन में समग्र सृष्टि शिव (चैतन्य) का विकास है। जड़ के विकास को लेकर जो भी आक्षेप उठाए जाते हैं वे काश्मीर शैवदर्शन में नहीं उठते। जगत् के स्वरूप के बारे में सत् असत् आदि की जो समस्याएँ उठती हैं उस पर काश्मीर दार्शनिकों का स्पष्ट मत है कि जगत् मिथ्या नहीं है जैसा कि शांकर वेदान्ती स्वीकार करते हैं। जगत् शिव का आभास है और यह आभास सत् है। ज्ञानोपरान्त भी जगत् का मिथ्यात्व सिद्ध नहीं होता बल्कि जगत् ज्ञानी के स्वरूप में ही स्थित प्रतीत होता है, उसी का वैभवरूप है। सांख्य दर्शन जड़ प्रकृति से सृष्टि के समस्त पदार्थों के विकास की व्याख्या करता है, किन्तु इस तथ्य को भी स्वीकार करता है कि जड़ प्रकृति पुरुष (चैतन्य) की उत्प्रेरणा के बिना उद्वेलित ही नहीं हो सकती। अतः विकास प्रक्रिया का आरम्भ ही नहीं हो सकता। काश्मीर शैव दार्शनिक जड़ प्रकृति से सृष्टि-विकास की व्याख्या न करके चैतन्यराशि (शिव) से सृष्टि की व्याख्या करते हैं। स्वयं प्रकृति भी शिव का विकास है और प्रकृति से ऊपर सदाशिव, शक्ति आदि और नीचे के समस्त ३६ तत्त्व भी चैतन्य से ही उत्पन्न हैं। अतः द्वैतवादी एवं जड़वादी विचारों के पक्ष में जो आपत्तियाँ उठाई जाती हैं, वे काश्मीर शैव दर्शन में नहीं उठती हैं और जड़वादी एवं द्वैतवादी विचारों की तरफ से जो आपत्तियाँ काश्मीर शैव दर्शन के अद्वैतवाद के विरुद्ध उठती हैं, उनका उत्तर काश्मीर शैव दार्शनिक देते हैं, जिसका विशद वर्णन अगले अध्याय में प्रस्तुत किया जाएगा।

चतुर्थ अध्याय

काश्मीर शैव एवं सांख्य दर्शन का तुलनात्मक विवेचन

आगम साहित्य में काश्मीर शैव दर्शन का जितना महत्त्व है उतना ही निगम साहित्य में सांख्य दर्शन का। दोनों दर्शनों का विकास अलग-अलग देश और काल में हुआ है। काश्मीर शैव दर्शन का जो रूप अभिनवगुप्त प्रस्तुत करते हैं वह बहुत बाद का है और उसमें आगम-निगम दोनों धाराओं के विचारों का समावेश समन्वयात्मक रूप से देखने को मिलता है।

सांख्य और काश्मीर शैव दोनों दर्शनों में कुछ ऐसे प्रत्यय मिलते हैं जो एक दूसरे से परस्पर अल्पविकसित-विकसित, सम-विषम, साधारण-विशिष्ट हैं। इस दृष्टि से काश्मीर शैव दर्शन एवं सांख्य के प्रत्ययों की तुलना बहुत महत्त्वपूर्ण है। पुनः सांख्य, जो अतिप्राचीन दर्शन माना जाता है, का प्रभाव वेदान्त और काश्मीर शैव दर्शन पर भी है। कहीं-कहीं तो ऐसा प्रतीत होता है कि सांख्य के विचारों को विकसित एवं परिमार्जित रूप में काश्मीर शैव दर्शन प्रस्तुत करता है इस दृष्टि से भी दोनों की तुलना बहुत महत्त्वपूर्ण है। जो दार्शनिक विचारों की तुलना का लक्ष्य उन दोनों दर्शनों को आमने-सामने रखकर दोनों की तार्किकता का प्रदर्शन करते हुए एक तीसरी दृष्टि का विकास करता है। इस दृष्टि से भी सांख्य एवं काश्मीर शैव दर्शन की तुलना महत्त्वपूर्ण है।

सांख्य दर्शन का यह मुख्य सिद्धान्त है कि जगत् का मूल उपादान अचेतन है, चेतन नहीं हैं। यहाँ प्रश्न उठता है कि जगत् का मुख्य उपादान चेतन है अथवा अचेतन इसकी सही जानकारी के लिए यह जानना आवश्यक है कि इस जगत् का स्वरूप क्या है? इसको जानने के लिए संसार में वस्तुतः दो मुख्य तत्त्व स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होते हैं, जिसमें आपस में बहुत असमानताएँ हैं, जो क्रमशः चेतन और अचेतन अथवा जड़ है। भारतीय वाङ्मय में चेतन का जो स्वरूप निर्धारित है उसका अभाव ही जड़ अथवा अचेतन कहा जाता है। इस प्रकार इस संसार में स्पष्ट रूप से दो तत्त्व दृष्ट होते हैं। कुछ दार्शनिकों की यह मान्यता है कि चेतन अचेतन दो भिन्न तत्त्व नहीं हैं अपितु चेतन, अचेतन के रूप में और अचेतन चेतन

के रूप में प्रतीत हो सकते हैं। अतः किसी एक तत्त्व को ही मुख्य मानना आवश्यक है। इस विचार को लेकर दार्शनिकों के मुख्य दो प्रकार के मत हैं।

कुछ दार्शनिकों का कहना है कि जगत् का मूल उपादान तत्त्व चेतन है और वही जगत् के रूप में दृष्टिगोचर होता है। भारतीय वाङ्मय में वेदान्त और उपनिषद् इसके मुख्य प्रतिपादक हैं। इस बात की स्पष्ट व्याख्या शंकराचार्य ने की है। कुछ दार्शनिक इस विचार का खण्डन करते हुए मूल तत्त्व को चेतन न मानकर अचेतन अथवा जड़ मानते हैं। भारतीय वाङ्मय में यह विचारधारा अत्यन्त प्राचीन है। इसके मुख्य प्रवर्तक महर्षि बृहस्पति माने जाते हैं। इन्होंने इस सम्पूर्ण चेतनायुक्त जगत् में मुख्य रूप से एकमात्रतत्त्व की सत्ता को स्वीकार किया है जो अचेतन अथवा जड़ है, जिसको प्रकृति अथवा प्रधान के नाम से जाना जाता है। उनकी मान्यता है कि यही एक ऐसा तत्त्व है जो ऐसे विशेष अस्तित्त्व को प्राप्त कर लेता है, जो उसकी पहली वास्तविक अवस्था से अतिविलक्षण प्रतीत होता है और इसकी इसी विशेष अवस्था को चेतन के नाम से जाना जाता है।[१] कुछ दार्शनिकों की यह मान्यता है कि चेतन ही एकमात्र मुख्य तत्त्व है और अचेतन उसी का परिणाम-मात्र है। इसप्रकार दोनों वर्गों के दार्शनिकों की विचारधाराओं में बहुत मतभेद है।

यदि चेतन को इस जगत् का मूल कारण माना जाये तो चेतनवादी दार्शनिकों के विचारों के निष्कर्ष से यह स्पष्ट होता है कि इस जगत् का मूल उपादान कारण चेतन है, और यदि इस जगत् का मूल उपादान कारण अचेतन को मान लिया जाये तो अचेतनवादी दार्शनिकों के विचारों के सार से ऐसा प्रतीत होता है कि इस जगत् का मूल उपादान कारण अचेतन है, इसप्रकार चेतन को मूलतत्त्व मानने वाले दार्शनिकों ने जगत् के मूल उपादान कारण का नाम चेतन अथवा आत्मा रख लिया और अचेतन को मूल तत्त्व मानने वाले दार्शनिकों को इसको "अनात्मवादी" या "जड़वादी" के नाम से विभूषित किया है। वैसे मूल तत्त्व के सम्बन्ध में दोनों दार्शनिकों के मत में कोई अन्तर नहीं कहा जा सकता; क्योंकि दोनों दार्शनिकों का यह कहना है कि चेतन और अचेतन सारा संसार एक ही मूल तत्त्व का परिणाम है। चेतन, अचेतन रूप में अथवा अचेतन चेतन रूप में परिणत हो जाता है।

यह अवश्य है कि अद्वैतवादी एकतत्त्व (परमतत्त्व) को ही मूल तत्त्व मानते हैं और उस अद्वैतरूप परमतत्त्व से समस्त द्वैत या अनेकता की उत्पत्ति मानकर उसे ही जगत् का निमित्तोपादान स्वीकार करते हैं, जबकि द्वैतवादी निमित्त कारण से पृथक् उपादान कारण की आवश्यकता पर बल देते हैं। सांख्य में प्रकृति सृष्टि का मूल

---

1. सां०त०इ०, पृष्ठ-१३९।

तत्त्व है। यह प्रकृति सृष्टि का केवल उपादान कारण है। निमित्त कारण के रूप में परमपुरुष की अवधारणा को उपादान कारण प्रकृति से निरपेक्ष मान्यता देते हैं।

दोनों वर्गों के दार्शनिकों द्वारा चेतन और अचेतन तत्त्व का जो स्वरूप निर्धारण किया गया है क्या यह अन्तर वास्तविक है? या ये किसी एक ही तत्त्व के दो रूप हैं, जो अलग-अलग दृष्टिगोचर होते हैं। वैसे सांख्य दर्शन में यह स्पष्ट कहा गया है कि चेतन को अचेतन के रूप में अथवा अचेतन को चेतन के रूप में परिवर्तित नहीं किया जा सकता।[1] अत: मूलरूप से दोनों तत्त्वों की अलग-अलग सत्ता स्वीकार करना होगा। चेतन और अचेतन का अस्तित्त्व एक-दूसरे से सर्वथा अलग है। अचेतन-तत्त्व, परिणामी अथवा विकृत होता रहता है, पर वह अपने अचेतन स्वरूप का परित्याग कभी नहीं कर सकता। चेतन में तो इस प्रकार के विकार या परिणाम की कल्पना भी नहीं की जा सकती, वह सदा समान रहता है। वह अपरिणामी तत्त्व है। चेतन वर्ग में जीवात्मा को जो सुख-दु:ख आदि का अनुभव होता है, उससे आत्मा में किसी प्रकार के विकार की कल्पना नहीं की जा सकती।

एक-तत्त्ववाद (चाहे भौतिक तत्त्व की मान्यता पर आधारित हो अथवा आध्यात्मिक) में अनेक विप्रतिपत्तियाँ उठती हैं जिनका समाधान करना कठिन है। भौतिक एकतत्त्ववादी चिन्तन भारतीय दर्शनों में नहीं मिलता किन्तु आध्यात्मिक एकतत्त्ववाद वेद से लेकर आजतक अपनी साख किसी न किसी रूप में बनाए हुए है। एकतत्त्ववाद स्वीकार करने पर जगत् की यथार्थता या अनेकता की सत्ता की व्याख्या एक प्रमुख समस्या है। यदि अनेक को मिथ्या मान लें तो एकतत्त्ववाद अद्वैतवाद में परिणत हो जाता है जैसा कि शांकर वेदान्त में देखते हैं। यदि सृष्टि को एकतत्त्व का अंश या अंग मान लें तो एकतत्त्ववाद विशिष्टाद्वैत में परिणत होता है और यदि सृष्टि की निरपेक्ष सत्ता मान लें तो एकतत्त्ववाद का ही उच्छेद हो जाता है। इस स्थिति में यदि जगत् को यथार्थ मानकर व्याख्या करनी है तो सांख्य के द्वैतवाद की अतिआवश्यकता है। सांख्य-द्वैतवाद में प्रकृति-तत्त्व से ही अनेकार्थक सृष्टि होती है और पुरुष का सान्निध्य इस सृष्टि में प्रेरक है।

जब दो समान विरोधी विचारधाराएँ आपस में टकराती हैं तो दोनों मतों के मध्य का सहारा लेना आवश्यक होता है। कपिल ने अपने मत को स्पष्ट करते हुए कहा है कि जब कुछ दार्शनिक जगत् का मूल उपादान कारण चेतन को मानते हैं और कुछ दार्शनिक अचेतन अथवा जड़ को तब इन दोनों विचारधाराओं से हटकर यह मान लिया जाये कि न चेतन मूल आधार है और न अचेतन, वस्तुत: इन दोनों

---

1. सां०द०इ०, पृष्ठ-१४१।

से भिन्न एक शून्य है जो इस जगत् का मूल उपादान है। परन्तु इस दृश्यमान जगत् में होने वाले परिवर्तन के आधार पर पूर्ण रूप से इसको सत्य नहीं माना जा सकता। इस प्रकार जगत् के मूल उपादान के असन्तुलित मत की गहराई में प्रवेश करके महर्षि कपिल ने एक नये विचार का प्रतिपादन किया। उनका कहना है कि चेतन और अचेतन ये दोनों तत्त्व भले ही परस्पर विरोधी हैं, परन्तु ये एक-दूसरे के पूर्ण सहयोगी हैं और इन्हीं के परस्पर सम्बन्ध के आधार पर इस जगत् का विकास होता है। अतः समस्त जड़ जगत् का मूल उपादान जड़ प्रकृति है और उसके सहयोग में चेतन अपना स्वतन्त्र अस्तित्व रखता है। इसलिए केवल यह कहना कि एक ही जड़ अथवा चेतन तत्त्व इस जगत् का मूल उपादान है, तर्कसंगत प्रतीत नहीं होता। इस प्रकार सांख्य जड़ चेतन तत्त्व की द्वैतवादी व्याख्या में यथार्थवादी मत का समर्थन करता हुआ प्रतीत होता है।

द्वैतवाद में भी परस्पर निरपेक्ष प्रकाश-अन्धकार-सम्बन्ध की तरह परस्पर विरोधी-धर्मात्मक प्रकृति-पुरुष-सम्बन्ध की समस्या उत्पन्न होती है जड़ किन्तु क्रियाशील प्रकृति की सृष्टि दिशाहीन होगी पुनः उसमें सृष्टि की प्रेरणा ही क्यों कर आएगी? निःसंग ज्ञानी पुरुष-प्रकृति की संगति में बन्ध कैसे होगा? तमाम ऐसी कठिनाइयाँ सांख्य द्वैतवाद में आती हैं जिनका समुचित प्रत्युत्तर देना कठिन है।[१]

सांख्य दर्शन से भिन्न काश्मीर शैव दर्शन में एक ही तत्त्वातीत ''परम शिव'' की सत्ता को स्वीकार किया गया है, जो इस दृश्यमान जगत् में अन्तर्बहिः सर्वत्र प्रकाशित होता रहता है। यही ऐसा तत्त्व है जिससे सृष्टि का विकास होता है। यह सारी सृष्टि उसी से उत्पन्न होती है और फिर उसी में विलीन हो जाती है। जब उसकी इच्छा होती है तो उसी में से सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड प्रकट हो जाता है।[२] परमशिव ही नाना प्रकार की विचित्रताओं के साथ सर्वत्र स्फुरित होता है, उससे भिन्न कुछ भी नहीं है।[३] इसके अतिरिक्त किसी अन्य तत्त्व के स्वतन्त्र अस्तित्व की कल्पना तक नहीं की जा सकती।[४] अपनी व्यक्तावस्था में भी जगत् शिव से भिन्न नहीं होता उसकी प्रतीति मात्र भिन्न होती है; क्योंकि यह सारा जगत् उसी का लीलाविलास है और वही सबका प्रकाशक है तब उसके अस्तित्व प्रकाशक की कल्पना ही कैसे

---

१. द्वैतवाद की कमियों का विस्तृत वर्णन तृतीय अध्याय में किया गया है।

२. यथा न्यग्रोधबीजस्थः शक्तिरूपो महाद्रुमः ।
तथाहृदयबीजस्थं विश्वमेतच्चराचरम् ।। -क्षेमराज, परप्रावेशिका।

३. शिवदृष्टि, अ० ४/५।

४. स्वच्छन्दतन्त्र-टीका, भाग-६, पृष्ठ-२९।

की जा सकती है।[१] यह परमशिव ही परमकारण है।[२] और यह सारा जगत् हर समय शिवमय बना रहता है।[३] अतः यह सर्व-आकृति-स्वरूप है।

काश्मीर शैव दर्शन में परमशिव अपनी स्वतन्त्र इच्छा से सृष्टि करता है। इस सृष्टि को करने में उसका कोई अपना स्वार्थ नहीं रहता, अपितु यह उसका स्वभाव (स्वातन्त्र्य) है। शैव दर्शन में भी अन्य दर्शनों जैसे अद्वैत वेदान्त की तरह अज्ञान और माया का स्थान है, परन्तु यहाँ इनका स्वतन्त्र अस्तित्त्व नहीं है। यह उस परमतत्त्व के आधीन हैं। उसी की इच्छा से इनकी उत्पत्ति और विनाश होता है। इनके रहने और न रहने से परमशिव के स्वरूप में किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं आता। इस स्वातन्त्र्य स्वभाव के ही कारण शैव दार्शनिकों ने उसे पूर्ण स्वतन्त्र आनन्दघन परम ईश्वर कहा है।[४] यह परमशिव अपने मौज में नानाप्रकार का लीला-विलास करता रहता है। इसी स्वेच्छावश लीला-अभिनय करने के कारण ही **शिवसूत्र** में उसे नर्तक कहा गया है।[५] जगत् का अपने अन्दर आभासन और फिर उस आभासित जगत् का अपने अन्दर विलापन ही उसका स्वातन्त्र्यरूप कर्तृत्व है।[६]

परम शिव ही एकमात्र स्वतन्त्र और परिपूर्ण सत्ता है। उसे किसी अन्य वस्तु की आवश्यकता नहीं होती। यहाँ एक आक्षेप किया जाता है कि परमशिव यदि सर्वथा परिपूर्ण है और उसमें किसी भी प्रकार की चाह नहीं है तो उसके सृष्टि करने का कारण क्या है? शैवाचार्य अभिनवगुप्त ने इसे एक दृष्टान्त के माध्यम से स्पष्ट करते हुए कहा है कि जैसे अग्नि के सम्बन्ध में यह प्रश्न करना कि यह क्यों जलती है? जलना आग का स्वभाव है और उसे उसके स्वभाव से च्युत नहीं किया जा सकता, ठीक उसी प्रकार सृष्टि करना शिव के स्वरूप में ही है। अतः सृष्टि शिव द्वारा अनायास एवं स्वाभाविक ढंग से होती है।

---

१. ईश्वरप्रत्यभिज्ञा, १/१/२।

२. शिवः परमकारणम् । -तन्त्रालोक, आ० १/८८।

३. शुद्धं तत्त्वं परमशिवाख्यं तत्र यदा विश्वमनुसन्धत्ते तन्मयमेव तदा।
-शिवसूत्रविमर्शिनी, पृष्ठ-३५।

४. स भगवान् अनवच्छिन्नप्रकाशानन्दस्वातन्त्र्यपरमार्थी महेश्वरः ।
-ई०प्र०वि०वि०, भाग-१, पृष्ठ-३१।

५. शि०सू०, ३/९।

६. तन्त्रालोक, भाग-६, आ० ९/२२।

परमेश्वर की इस अभेद दशा में एक साथ दो तत्त्वों का अवभासन होता है। शिव और शक्ति वस्तुतः ये दोनों तत्त्व एक-दूसरे से भिन्न नहीं हैं, न शिव शक्तिरहित है और न शक्ति शिवरहित है।[१] यह इच्छारूपी स्वातन्त्र्य-शक्ति ही शिव की शिवता है और जो शिवता (शक्ति) है वही शिव है। अतः परमशिव ही परमार्थ सत्ता है क्योंकि जो जगत् है वह तो उसकी शक्ति है। इसी आधार पर जगत् का सृष्टि और संहार होता रहता है और यह उसका आनन्दमात्र है। जब वह आनन्द में रहता है तो सृष्टि करता है और जब विश्राम चाहता है तो संहार करता है।

काश्मीर शैव दर्शन में सृष्टि के सम्बन्ध में बहुत विवाद प्रकट होते हैं। जैसे, सृष्टि करते समय किस प्रकार परमशिव निरपेक्ष होते हुए सापेक्ष हो जाता है अथवा एक अनेक के रूप में परिवर्तित हो जाता है, किस प्रकार सत्य आभासरूप में हो जाता है? इन प्रश्नों की पुष्टि में शैव दार्शनिकों का कहना है कि शिव के स्वातन्त्र्य द्वारा सब कुछ सम्भव होता है।[२] अपनी इस शक्ति के माध्यम से ही शिव एक होते हुए अपने को अनेक रूप में आभासित करता है। जैसे योगी अपने ईप्सित वस्तुओं को स्वयं प्रकट करता है उसी प्रकार परमशिव अपने से ही हर वस्तु को बाह्य रूप में प्रकट करता है। इसके इस स्वभाव को इसकी लीला की संज्ञा दी गयी है।

शैव दार्शनिक इस सृष्टि को शिव का लीला-विलास मानते हैं। उनका कहना है कि जैसे बरगद का बड़ा वृक्ष अपने बीज में शक्तिरूप में विद्यमान रहता है, उसी प्रकार यह चराचर विश्व शक्तिरूप में महेश्वर के हृदय में विद्यमान रहता है। काश्मीर शैव दर्शन में परमशिव को एक कलाकार के रूप में माना जाता है। जैसे एक कलाकार अपने आनन्द को अपने अन्दर छिपा नहीं सकता, उसको किसी माध्यम से प्रकट कर देता है, उसी प्रकार सब कलाओं से सम्पन्न परमशिव अपने वैभव के आनन्दपूर्ण चमत्कार को सृष्टि रूप से प्रवाहित कर देता है। अपने अन्दर प्रकाश-ऐकात्म्य से स्थित समस्त विश्व को अपने ही अन्तर्गत प्रतिबिम्बित करने के लिए उसे अपने से भिन्न किसी भी वस्तु की अपेक्षा नहीं होती, क्योंकि अपेक्षा अपूर्ण में होती है। वह तो सर्वथा परिपूर्ण है। पर-अनपेक्षा ही उसका स्वातन्त्र्य है, जिससे वह अपने आपको विभक्त किये बिना ही समस्त विश्व-वैचित्र्य को आत्मभित्ति पर आभासित

---

१. शिवाख्यं षट्त्रिंशं, तच्च सशक्तित्वेऽपि प्राधान्यादेकं,
शक्तिर्हि नशक्तिमतो भिन्ना भवितुमर्हति ।।

—तन्त्रालोक टीका, भाग-७, आ०-११, पृष्ठ-४३।

२. तस्य स्वातन्त्र्यभावो हि किं किं सन्न विचिन्तयेत् । —तन्त्रालोक, १/१३६।

करता है।[१] परमशिव का स्पन्दरूप आनन्द उसकी अपनी ही परमेश्वरता के विलास का विमर्शरूप है।[२] इस स्वात्म-आनन्द में सदा विभोर रहता हुआ परमशिव आनन्द में स्पन्दमान रहता है और उसका यह आनन्द-स्पन्द ही विश्व बन जाता है।[३] वह अपने स्पन्द-स्वातन्त्र्य से विभिन्न विचित्र रूपों में प्रकाशित होकर भी वस्तुतः अविचित्र होकर अकेला ही रहता है।[४]

काश्मीर शैव दर्शन में बन्धन और मुक्ति को शिव का स्वातन्त्र्य,[५] कल्पना अथवा लीला-विलास माना गया है। अपने स्वातन्त्र्य-स्वभाव की लीलावश जीव-भाव परिगृहीत शिव जब स्वरूप-गोपन की अपनी स्वतन्त्र इच्छा से स्वपरिगृहीत पारिमित्य को यथार्थतः अपना पारिमित्य समझ लेता है तब पारिमित्य की यह यथार्थ प्रतीति ही उसका बन्धन बन जाती है।[६] जब सद्गुरु के अनुग्रह आदि के अभ्यास से उसे अपने परिपूर्ण स्वातन्त्र्य-स्वभाव का ज्ञान हो जाता है तब वह कल्पित बद्धता के अभिमान से छूटकर अपने जिस पूर्णाहन्ता के चमत्कार में प्ररूढ़ होता है वही पूर्ण अवस्था मोक्ष है। अतः अपने स्वतन्त्र पूर्ण स्वरूप की यथार्थ प्रतीति ही मुक्ति है।[७] इस प्रकार परमशिव कल्पित प्रमातृभाव में अपने आपको बाँधने में भी सक्षम है और पुनः उस बन्धन को हटाकर अपने कल्पित बद्ध-स्वरूप को मुक्त करने में भी सक्षम है।[८] विश्व की सृष्टि और प्रलय, बन्धन और मुक्ति की कल्पना उसका स्वातन्त्र्य-स्वभाव है।[९] अपने इस स्वातन्त्र्य के कारण ही परमशिव अपने को अनेक रूप में आभासित करता है। इस प्रकार वह अपने अन्दर से ही

---

१. स्वतन्त्रः कर्ता स्वशक्त्यैव स्वभित्तौ सर्वमाभासयतीत्यर्थः।

– स्वच्छन्दतन्त्र टीका, भाग-६, पृष्ठ-४।

२. स्पन्दनिर्णय, पृष्ठ ३/४।

३. शिवस्तो०, १३-१५।

४. भा०वि०वा०का० १/७६।

५. ई०प्र०वि०,भा०ग०, १, पृष्ठ-३८।

६. केवलं एताः बन्धमोक्षादिकल्पना मायाशक्तिवशात् ।

अपरामृष्टस्वरूपस्यैव न तु चिदद्वैतपरामर्शशीलस्य ।।

–विज्ञानभैरवविवृति, पृष्ठ-१२०।

७. सम्यग्ज्ञानस्वभावा हि विद्या साक्षाद्विमोचिका । –तन्त्रालोक, भाग-९, १५/९।

८. मोक्षो हि नाम नैवान्यः स्वरूपप्रथनं हि सः । –वहीं, भाग-१, १/५६।

९. तदेव अस्य पारमैश्वर्यमानन्दमयं रूपम् । –ई०प्र०वि०वि०, भाग-१, पृष्ठ-३१।

जगत् को प्रसारित करता है और फिर अपने ही अन्दर उसको समाहित भी कर लेता है। परमशिव की इस लीला के मुख्य पाँच अंग होते हैं— सृष्टि, स्थिति, संहार, तिरोधान और अनुग्रह[१] जिसके माध्यम से वह जगत् के सारे क्रिया-कलापों को करता रहता है।

शिव अपने इस स्वातन्त्र्य से अपना गोपन करके जगत् में संसरण करता है और पुनः अपना प्रकाशन करके अपने सच्चे स्वरूप में स्थित होता है। काश्मीर शैवदर्शन के इस अद्वैतवादी विचार में जड़ की व्याख्या भी चेतन (शिव) के माध्यम से की जाती है। जड़-चेतनात्मक जगत् इसी शिव का विकास है और यह विकास शिव से ही होता है। इसप्रकार निरपेक्ष जड़ या प्रकृति उपादान की मान्यता काश्मीर शैव दार्शनिकों को स्वीकार्य नहीं है।

दोनों दार्शनिक सम्प्रदायों में (पुरुष एवं शिव) को चैतन्य रूप स्वीकार किया गया है, किन्तु सांख्य में पुरुष को चैतन्य अथवा ज्ञानरूप ही स्वीकार किया गया है। चैतन्य को क्रियाशील या क्रिया-वैभवयुक्त नहीं माना गया है और तद्नुसार इसे असंग निर्विकार सत्ता कहा गया है। इसी कारण सांख्य में असंग निष्क्रिय पुरुष का किसी भी प्रकार से सृष्टि अथवा सृष्टि के तत्त्वों से सम्बन्ध बताना एक विवादास्पद विषय बना हुआ है जिसका समाधान प्रतिबिम्बन एवं अविवेक आरोप से करने का प्रयास किया गया है। किन्तु फिर भी समस्या बनी ही रहती है। इसका कारण है कि ज्ञानरूप निष्क्रिय पुरुष असंग होने के कारण अविवेक आरोप से प्रभावित नहीं हो सकता, अगर प्रभावित होगा तो फिर वह असंग एवं कूटस्थ नित्य ज्ञान या विवेकरूप नहीं हो सकता। प्रकृति और पुरुष दोनों तत्त्वों की नित्यता का प्रतिपादन करने पर सृष्टि के मूल कारण के रूप में किसी एक को स्वीकार करना दूसरे की सत्ता का अपलाप करना होगा और दोनों परस्पर निरपेक्ष हैं अतः दोनों में किसी भी प्रकार का सम्बन्ध बताकर निरपेक्षता का अपलाप करना होगा। इस प्रकार दो नित्य तत्त्वों को परस्पर-विरोधी धर्मात्मक मानने पर भी किसी प्रकार के सम्बन्ध की व्याख्या संगत नहीं होगी।

काश्मीर शैव दर्शन इस दृष्टि से अधिक सुदृढ़ एवं सुसंगत है। यहाँ शिव परमतत्त्व है, वह क्रियारूप है। उसकी क्रियारूपता या उसकी विमर्शरूपता ही सृटि है। यहाँ क्रियाशील चैतन्य शिव को सृष्टि का मूल कारण मानना एवं शिव के विमर्श से ही सृष्टि स्वीकार करना सांख्य में उठायी गयी आपत्तियों का एक तरह से उत्तर हो सकता है। किन्तु यहाँ भी एक प्रश्न उठता है कि वास्तव में सृष्टि के लिए यदि

---

१. बोधपंचदशिका, श्लोक-४।

शिव स्वतन्त्र है तो वह चाहे तो सृष्टि नहीं भी कर सकता है, तो किस प्रयोजन से वह सृष्टि करता है। यदि प्रयोजन माने तो शिव भी अपूर्ण एवं प्रयोजन-सापेक्ष होगा, किन्तु ऐसा नहीं है। यदि प्रयोजन न माने तो प्रश्न उठता है कि शिव सृष्टि क्यों करता है। काश्मीर शैव दार्शनिक इसका उत्तर दो प्रकार से देते हैं। पहला यह कि सृष्टि शिव की लीला है और बच्चों के खेल की तरह शिव चाहे तो लीला करे या न करे। दूसरा यह कि सृष्टि शिव का स्वातन्त्र्य है, उसका वैभव है। सृष्टि का प्रयोजन शिव का आनन्द-विलासमात्र है। कोई अन्य प्रयोजन न होने के कारण शिव प्रयोजन-सापेक्ष नहीं, सृष्टि-सापेक्ष नहीं अपितु वह परम निरपेक्ष है। यहाँ स्वातन्त्र्य का सिद्धान्त ही लीला के सिद्धान्त से अधिक सुसंगत एवं तर्कयुक्त प्रतीत होता है।

काश्मीर शैव दर्शन में परमशिव को स्वतन्त्र-स्वभाव के रूप में जाना जाता है। यह सृष्टि भी उसके स्वतन्त्र स्वभाव का परिचायक है। वह हर प्रकार के आन्तरिक और बाह्य बाध्यता से मुक्त होकर मात्र आत्मविलास के वशीभूत होकर सृष्टि करता है। उसे किसी प्रकार की बाह्य बाध्यता इसलिए नहीं है कि वह एकमात्र पूर्ण सत्ता है, उसे किसी कार्य के लिए दूसरे पर निर्भर नहीं रहना पड़ता और आन्तरिक बाध्यता भी नहीं है; क्योंकि वह पूर्ण है और उसमें किसी प्रकार की कमी नहीं है।[१] अतः वह हर प्रकार की बाध्यता से मुक्त होकर अपने मौज में जब चाहता है तब सृष्टि करता है और जब नहीं चाहता है तब संहार करता है। इसलिए काश्मीर शैव दार्शनिकों ने स्वातन्त्र्यवाद को विशेष महत्त्व दिया है। आचार्य सोमानन्द **शिवदृष्टि** में एक दृष्टान्त के माध्यम से उसके स्वतन्त्र स्वभाव को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि जैसे अपरिमित ऐश्वर्य के चमत्कार (बोध) से परितृप्त कोई सार्वभौम राजा सब प्रकार के वाहन आदि साधनों के स्वाधीन होने पर भी अपने निरर्गल एवं पूर्ण-तृप्त स्वभाव की स्वतन्त्र लीलावश पैदल चलता है। (उसके पैदल चलने का उद्देश्य मात्र आनन्द लेना है) उसी प्रकार परमेश्वर स्वात्मपूर्णता के स्वातन्त्र्य के कारण अपने आनन्द में ही स्पन्दित-सा रहता है और अपने अन्तर्गत अपनी निरर्गल इच्छामात्र से ही उन्मीलित शिवतत्त्व से लेकर धरणीपर्यन्त अपने स्वरूपभूत प्रमातृ-प्रमेय आदि विभिन्न रूपों से क्रीड़ा करता है।[२] विश्वाभास की सृष्टि-संहारात्मक यह क्रीड़ा ही

---

१. स एव परानपेक्षः पूर्णत्वादानन्दरूपो
यथा नृपः सार्वभौमः प्रभावामोदभरितः । -शिवदृष्टि, पृष्ठ-४०६।

२. क्रीडां करोति पादाद्धर्मास्तद्धर्मधर्मतः ।
तथा प्रभुः प्रमोदात्मा क्रीडत्येवं तथा तथा ।। - वहीं, आ० १/३७-३८।

उसका स्वातन्त्र्य है।[१] काश्मीर शैव दर्शन में इसी को "स्वातन्त्र्यवाद" की संज्ञा से विभूषित किया गया है।

स्वातन्त्र्यवाद को लेकर काश्मीर शैव दर्शन में अनेक प्रकार की भ्रान्तियाँ भी उपलब्ध होती हैं जिसके द्वारा सृष्टि को शिव का स्वरूप लक्षण मान लिया जाता है, इससे स्पष्ट होता है कि सृष्टि करना शिव के लिए आवश्यक है।[२] परन्तु इस बात को शैव दार्शनिक स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि सृष्टि करने में शिव का कोई स्वार्थ नहीं अपितु वह अपने आप होती रहती है। यह उसकी इच्छा पर पूर्ण रूप से निर्भर है, चाहे वह सृष्टि करें या न करे। यह महासत्ता है, क्योंकि यह सब कुछ करने में स्वतन्त्र है। यह देश काल से परे है। यह परमशिव का हृदयस्वरूप है। वह अपनी इच्छा के अनुसार उस इच्छा के प्रसार में बिना किसी रुकावट के सब कुछ कर डालने में समर्थ है।[३]

काश्मीर शैव दर्शन में सृष्टि-प्रक्रिया को शिव का स्वरूप लक्षण माना गया है; क्योंकि शिव को पंचकृत्यकारी[४] माना जाता है। यह पंचकृत्य उसका स्वभाव है। इन पंचविधकृत्यों में वह निरन्तर संलग्न रहता है।[५] इससे स्पष्ट होता है कि सृष्टि भी शिव का स्वाभाविक कृत्य है जो सदैव होता रहता है।[६] अतः यह सृष्टि उसके स्वरूप में ही अनुस्यूत है। यह सृष्टि शिव की क्रिया है न कि कर्म। इस ऐश्वर्य की क्रीड़ा के लिए वह अपनी स्पन्द शक्ति से पूर्ण समर्थ है। स्पन्दवान् परमशिव के स्पन्द का उल्लासरूप यह समस्त विश्व उसकी परमेश्वरता का ही एक अंग है। सब कुछ परमेश्वर है और परमेश्वर ही सबकुछ है।[७] सृष्टि करना शिव का कोई उद्देश्य नहीं है इसलिए यह पञ्चकृत्य उसका स्वभाव है। जिस प्रकार बच्चे स्वभावतः खेलते हैं, खेलना उनका स्वरूप लक्षण नहीं है और न उनका कोई उद्देश्य रहता है, वह

---

१. एष देवोऽनया देव्या नित्यं क्रीडारसोत्सुकः।
विचित्रान्सृष्टिसंहारान्विधत्ते युगपद् विभुः ।। –बोधपंचदशिका, श्लो० ६।

२. यथा न्यग्रोधबीजस्थः शक्तिरूपो महाद्रुमः।
तथा हृदयबीजस्थं, विश्वमेतच्चराचरम् ।। –क्षेमराज, परा०प्रा०।

३. स्वातन्त्र्यं च नाम यथेच्छं तत्रेच्छाप्रसरस्य अविघातः।

४. बोधपंचदशिका, श्लोक-६।

५. वहीं, श्लोक ४; अनुत्तरप्रकाशपंचाशिका, श्लोक-२।

६. ई०प्र०वि०, भाग-१, पृष्ठ-१९५।

७. ई०प्र०वि०, भाग-१, श्लोक-१।

केवल उनका स्वभावमात्र है। उसी प्रकार शिव का सृष्टि करना भी उनका कोई उद्देश्य न होकर मात्र स्वभाव ही है।

काश्मीर शैव दर्शन में सृष्टि-प्रक्रिया को शिव का स्वरूपलक्षण मानने का एक कारण यह भी है कि परमशिव में शिवतत्त्व और शक्तितत्त्व का एक साथ स्फुरण होता है और इन दोनों के अभिन्न और अविनाभाव सम्बन्ध है।[1] और यहाँ पर सृष्टि को शक्ति रूप अथवा शक्ति का विकास माना जाता है।[2] ऐसी स्थिति में सृष्टि को शिव का स्वरूपलक्षण मान लेना स्वाभाविक है। शैव दार्शनिकों की यह मान्यता है कि परमशिव की शिवता उसकी ज्ञानात्मकता है और शक्तिता क्रियात्मकता। शिवता उसकी स्थिरता है और शक्तिता गतिशीलता। शिव की शक्ति को काश्मीर शैव दार्शनिक दो भागों में विभाजित करते हैं— पहले भाग में वे चित्त और आनन्द शक्ति को शिव की स्वरूपशक्ति मानते हैं, और दूसरे भाग में इच्छा, ज्ञान और क्रिया शक्ति को शिव की स्वरूपशक्ति नहीं मानते, केवल शिव की शक्ति मानते हैं। यहाँ पर शिव के द्वारा जो सृष्टि की जाती है वह चित् और आनन्द से न होकर इच्छा, ज्ञान और क्रिया शक्ति के माध्यम से होती है, जो शिव के स्वातन्त्र्य पर पूर्ण रूप से निर्भर रहती है। वह उसको अपनी इच्छा से संचालित करता रहता है।

इससे स्पष्ट होता है कि काश्मीर शैव दर्शन में सृष्टि-प्रक्रिया पूर्ण रूप से शिव के स्वभाव पर आश्रित है। उसे इस क्रिया को करने के लिए न किसी प्रकार का बन्धन है और न किसी प्रकार का दबाव। वह इस क्रिया के लिए पूर्ण रूप से स्वतन्त्र रहता है। वह किसी उद्देश्य के वशीभूत होकर भी सृष्टि नहीं करता। वह केवल अपनी स्पन्दात्मक गतिशीलता के कारण अनन्त-अनन्त रूपों में अभेद से भेदाभेद में और वहाँ से पूरे भेद में अनन्त-अनन्त प्रकारों से उतरता ही रहता है और विपरीतक्रम से अनन्त वैचित्र्यमयी लीला के द्वारा भेद से भेदाभेद पर और वहाँ से अभेद पर चढ़ता रहता है।

काश्मीर शैव दर्शन ने शिव को पूर्ण स्वतन्त्र[3] सत्ता कहा है तथा इस बात को पूरे जोर और आग्रह के साथ कहा गया है।[4] उनकी यह भी मान्यता है कि

---

१. शिवदृष्टि, ३/२-३।

२. शक्तयोऽस्य जगत् कृत्स्नं शक्तिमांस्तु महेश्वरः।

—तन्त्रालोक, भाग-३, आ० ५/४०।

३. ई०प्र०वि०, भाग-१०, पृष्ठ-१४।

४. तस्य स्वतन्त्रभावो हि किं किं यन्न विचिन्तयेत्। —तन्त्रालोक, १/१३६।

शिव का स्वातन्त्र्य कभी भंग नहीं होता।[१] अगर यह मान लिया जाये कि सृष्टि शिव के स्वरूप में निहित है तो शैव दार्शनिकों के इन महत्त्वपूर्ण कथनों का मूल्य समाप्त हो जायेगा इसलिए काश्मीर शैव दर्शन में इस बात को अधिक आग्रह के साथ कहा जाता है कि विश्व का उन्मेष और निमेष शिव के स्वातन्त्र्य पर आश्रित है।

काश्मीर शैव दर्शन में स्वातन्त्र्य के दो रूप हैं। पहला सत्तास्वातन्त्र्य तथा दूसरा क्रिया-स्वातन्त्र्य। परमशिव में दोनों प्रकार का स्वातन्त्र्य पाया जाता है। अद्वैत वेदान्त शैव-दार्शनिकों के इस विचार से सन्तुष्ट नहीं है; क्योंकि अद्वैतवेदान्त ब्रह्म में केवल सत्तास्वातन्त्र्य को महत्त्व देता है, क्रिया-स्वातन्त्र्य को नहीं। उनकी मान्यता है कि क्रिया-स्वातन्त्र्य को मानने पर ब्रह्म की पूर्णता भंग होती है। लेकिन काश्मीर शैव दार्शनिकों ने शिव में सत्तास्वातन्त्र्य और क्रियास्वातन्त्र्य दोनों को माना है। उनकी मान्यता है कि ये दोनों परस्पर सम्बन्धित हैं। वे क्रिया स्वातन्त्र्य को कर्म नहीं अपितु क्रिया मानते हैं जिसके कारण शिव की पूर्णता भंग नहीं होती। शैव दार्शनिक अद्वैत वेदान्तियों के इस मत का विरोध करते हुए कहते हैं कि यदि शिव में सृष्टि आदि क्रिया करने की स्वतन्त्रता नहीं है तो उसे पूर्ण स्वतन्त्र कैसे कहा जा सकता है? अतः उसे पूर्ण स्वतन्त्र कहने के लिए उसके अन्दर क्रिया-स्वातन्त्र्य का मानना अतिआवश्यक है।

शैव दार्शनिकों के अनुसार शिव का यह क्रिया-स्वातन्त्र्य ही काश्मीर शैव दर्शन का स्पन्द-सिद्धान्त है। एक साथ अपने अन्तर्गत विश्व का उन्मेष (सर्जन) और निमेष (संहार) करने वाली इस पारमेश्वरी इच्छाशक्ति को स्पन्दशास्त्र में स्पन्द कहा गया है।[२] वह एक होते हुए भी कार्यभेद से अनेक रूपों में दृश्यमान होता है और फिर भी अद्वयरूपा ही रहता है। यही उसकी मुख्य स्वतन्त्रता है, जिससे परमेश्वर नित्य स्वातन्त्र्य-स्वभाव वाला है। परमशिव की यह स्पन्दशक्ति स्वयं एक होकर भी चिन्तामणि की तरह अनेकता ग्रहण करती है।[३]

स्पन्द आनन्द का सहज उच्छलन माना गया है तथा सृष्टि को भी आनन्द का सहज उच्छलन ही कहते हैं।[४] परमशिव अपनी परिपूर्ण स्वतन्त्रता का विमर्शन करता हुआ जब उस स्वतन्त्रता की अभिमुखता के चमत्कार से आविष्ट हो जाता

---

१. नहि तस्य स्वतन्त्रस्य कापि कुत्रापि खण्डना । -वहीं, २/४७।

२. सा चैषा स्पन्दशक्तिर्युगपदेवोन्मेषनिमेषमयी। -स्पन्दनिर्णय, पृष्ठ ३-४।

३. मालिनीविजयोत्तरतन्त्र, अधिकार, ३/६ व ९।

४. शि०स्तो०, १३-१५।

है, तो सृष्टि के प्रति एक दिव्यातिदिव्य उमङ्ग में आकर उसके प्रति उन्मुख होता है और अपने निर्मल प्रकाश के भीतर अपनी स्वतन्त्र और अनिरुद्ध इच्छा से अपनी शक्तियों के प्रतिबिम्बों को अभिव्यक्त करता है वह अभिव्यक्ति ही समस्त जगत् के सृष्टि-संहार आदि के रूप में प्रकट हो जाती है। यहाँ दिव्यातिदिव्य उमङ्ग का तात्पर्य यह है कि शिव अपने आनन्द के लिए ही सृष्टि करता है। उसमें उसका कोई स्वार्थ, कोई प्रयोजन नहीं होता, कोई बाध्यता नहीं होती।

सांख्य में पुरुष और प्रकृति दो नित्य तत्त्व हैं और सृष्टि दोनों के परस्पर प्रतिबिम्बित होने पर निर्भर है। यह प्रतिबिम्बन अविवेक के कारण है अतः विवेकी पुरुष के स्तर पर अथवा ज्ञानी के लिए, यह प्रतिबिम्बन नहीं होता। इस प्रकार सृष्टि के लिए पुरुष बाध्य नहीं है। वह सदैव कूटस्थ निर्विकार है, अविवेक के कारण ही पुरुष प्रकृति में होने वाले विक्षोभ को अपने अन्तर्गत समझने लगता है तथा प्रकृति चैतन्य के प्रतिबिम्बन से अपने को चेतनावती समझने लगती है। यहीं से सर्ग का आरम्भ होने लगता है। प्रकृति महदादि पदार्थों में अपने को अभिव्यक्त करती है और पुरुष अपने को सीमित शान्त जीव के रूप में अभिव्यक्त पाता है।

यह अविवेक पुरुष का स्वरूप नहीं है। स्वरूपतः तो पुरुष में साक्षित्व, माध्यस्थ्य द्रष्टृत्व और अकर्तृत्व हैं। अविवेकी जीव-भाव को ग्रहण कर लेना और जीवभाव से मुक्त होना पुरुष पर आरोप-मात्र है जैसा कि माठरकार ने चोरों के साथ मार्ग में पकड़े जाने वाले ईमानदार व्यक्ति के दृष्टान्त से स्पष्ट किया है अथवा सेना की हार-जीत के लिए राजा की हार-जीत के आरोप का दृष्टान्त दिया है। सांख्य में प्रकृति के क्रिया व्यापार को पुरुष पर आरोपमात्र माना गया है। ईश्वरकृष्ण ने भी इसे स्पष्ट किया है[१]—

पुरुष पूर्ण स्वतन्त्र तत्त्व है। उसके स्वातन्त्र्य का अपलाप नहीं होता। अविवेक के आरोप से वह मुक्त होने के कारण भी स्वतन्त्र है। निर्विकार असंग होने के कारण भी स्वतन्त्र है। सृष्टि से भी स्वतन्त्र है। सृष्टि की कारणता से भी वह स्वतन्त्र है। आरोप आकस्मिक है और वह पुरुष के स्वातन्त्र्य को भंग नहीं करता।

सांख्य में स्वातन्त्र्यवाद की स्थापना नहीं की गयी है। यहाँ पुरुष-प्रकृति स्वतन्त्र तत्त्व हैं, किन्तु सृष्टि को दोनों में से किसी एक का स्वातन्त्र्य नहीं कहा जा सकता। पुरुष निष्क्रिय है अतः क्रिया उसमें नहीं है। प्रकृति जड़ है अतः क्रियाशील होते

---

१. तस्मान्न बद्ध्यतेऽद्धा न मुच्यते नापि संसरति कश्चित् ।
बध्यते मुच्यते संसरति च नानाश्रया प्रकृतिः ।। –सां०का० ६२।

हुए भी स्वतन्त्र क्रिया सम्भव नहीं है, क्योंकि यह चैतन्य में ही सम्भव है। इस दृष्टि से काश्मीर शैव दर्शन में स्वातन्त्र्यवाद का विचार पुष्ट होता है। शिव का स्वातन्त्र्य ही सृष्टि है।

वैदिक दार्शनिक परम्परा में प्रायः जगत् के मूल उपादान के अस्तित्व को भावरूप में माना गया है। आचार्य शंकर ने वेदान्त में उपादान के दो रूप प्रस्तुत किये हैं, पहला परिणामी उपादान, दूसरा विवर्तोपादान। इसमें पहला जगत् का परिणामी उपादान माया है। इस उपादान को न तो भावात्मक और न तो अभावात्मक बल्कि अनिर्वचनीय कहा जाता है और दूसरा जगत् का विवर्तोपादान स्वयं ब्रह्म को ही माना जाता है, जो निरपेक्ष सत्य है। इसको विवर्तोपादान इसलिए कहा जाता है कि यह अपने को एकरूप रखते हुए अनेक रूपों का आधार रहता है। वह इस जगत् के सब कार्यों का प्रेरक तथा नियन्ता रहता है।

जगत् के मूल उपादान के लिये चार्वाक चार प्रकार के परमाणुओं की सत्ता को स्वीकार करते हैं। इसी प्रकार बौद्ध दर्शन इस जगत् का मूल उपादान शून्य को मानता है। इन दार्शनिकों की मान्यता है कि इस जगत् का कोई वास्तविक रूप नहीं है। इसका यह रूप न पहले था न वर्तमान में है और न बाद में रहेगा। इसलिए इस जगत् का मूल उपादान शून्य है।

आचार्य कपिल ने सांख्य दर्शन में जगत् का मूल उपादान, अन्य दर्शनों से भिन्न त्रिगुणात्मक प्रकृति को माना है। इन्होंने माध्यमिक दर्शन की तरह जगत् को शून्य न मानकर उसकी वास्तविकता को खोजने का प्रयास किया है। बौद्ध दार्शनिकों की इन मान्यताओं का कि जगत् का स्वरूप न पहले रहा है और न बाद में रहेगा, इस कारण वर्तमान जगत् का स्वरूप भी असत् है, सांख्य इसका खण्डन करता है और कहता है कि जगत् के स्वरूप-सम्बन्धी इनकी असत्‌रूपी धारणा इस बात का आभास कराती है कि जगत् परिवर्तनशील है। जगत् की यह क्रिया बिना कारण के सम्भव नहीं हो सकती, इसको क्रियारूप में परिणत करने के लिए किसी न किसी कारण का होना आवश्यक है।

यदि इस जगत् का स्वरूप भूत, वर्तमान और भविष्य में बराबर बदलता रहता है तो इसके किसी आधार को भी अवश्य मानना होगा जो परिवर्तित होता रहता है। इस आधार को चाहे किसी भी नाम से सम्बोधित करें पर उसकी सत्ता को अमान्य नहीं किया जा सकता। अतः इसके लिए बिना किसी प्रमाण के जगत् की सत्ता को मानना आवश्यक है।

प्राचीन काल से ही जगत् के स्वरूप के विषय में विवाद बना हुआ है। लेकिन कुछ दार्शनिकों के साथ-साथ आधुनिक वैज्ञानिकों ने भी जगत् के मूल उपादान तत्त्व को तीन प्रकार के विद्युत्कणों से युक्त माना है। उन्होंने भी शून्यवाद को नकारते हुए कहा है कि जगत् का स्वरूप विवादयुक्त हो सकता है लेकिन जगत् की सत्ता विवादमुक्त है।

परन्तु जगत् की सत्ता को सत् मानने पर यह प्रश्न उठता है कि जगत् अपने स्वरूप में आने से पहले किस रूप में था? सांख्य दार्शनिकों का मत है कि हर वस्तु उत्पन्न होने के बाद समाप्त भी होती है। केवल जगत् के मूल उपादान को छोड़कर कोई भी अचेतन वस्तु स्थायी नहीं रहती है।

सांख्य की इस बात पर भी आक्षेप लगाया गया है कि कोई भी वस्तु जिसको हम उत्पन्न होना कहते हैं वह उत्पन्न होने के पहले किस रूप में थी? यदि उत्पन्न होने के पहले उसका कोई रूप नहीं था तो वह कहाँ से उत्पन्न होती है?

इसका उत्तर देते हुए सांख्यविद् कहते हैं कि कार्य अपने कारण में सूक्ष्म रूप से अव्यक्त अवस्था में विद्यमान रहता है। कारण में पहले से विद्यमान कार्य की अभिव्यक्ति ही उसकी उत्पत्ति है। इसको और अधिक स्पष्ट करते हुए सांख्य दार्शनिक कहते हैं कि जैसे हम दैनिक अनुभव के आधार पर यह देखते हैं कि तिल से तेल निकलता है, बीज से वृक्ष की उत्पत्ति होती है ठीक उसी प्रकार विशेष कारण में विशेष कार्य का अस्तित्त्व पहले से समाहित रहता है। उनकी मान्यता है कि जब कोई भी कारण किसी कार्य का रूप लेता है तो वह कारण समाप्त नहीं हो जाता बल्कि वह कारण कार्य रूप में परिवर्तित हो जाता है। इस प्रकार मूल उपादान तत्त्व सदैव अस्तित्त्ववान् रहता है। केवल वह कार्य रूप में विशेष क्रम से व्यवस्थित हो जाता है।

सांख्य दार्शनिकों ने कार्य-कारण का विवेचन करते हुए यह स्पष्ट करने का प्रयास किया है कि यह समस्त दृश्यमान कार्य जगत् का अस्तित्व है इसलिए मूल उपादान कारण भी अस्तित्वयुक्त है। यह कभी भी सम्भव नहीं हो सकता कि मूल उपादान अभावरूप हो और उसका परिणाम भावयुक्त हो। अतः न अभाव से भाव, और न भाव से अभाव की कल्पना की जा सकती है। सांख्य का यह सिद्धान्त **गीता** में भी मान्य है। **गीता** में भी कहा गया है कि असत् कभी सत् नहीं होता और सत् कभी असत् नहीं होता।[१] इस कथन से सत् और असत् को यथार्थ रूप

१. नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः ।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः ।। -भगवद्गीता, २/१६।

से जाना जा सकता है और यह निश्चित किया जा सकता है कि दृश्यमान जगत् का मूल उपादान अभाव अथवा असत् नहीं हो सकता है।

काश्मीर शैव दर्शन ने सांख्य के सत्कार्यवाद को सामान्य रूप से स्वीकार किया है, लेकिन उसके परिणामवाद की आलोचना की है। सांख्य के कारणता-सिद्धान्त पर शैव दार्शनिक ने द्वन्द्वात्मक तर्क के आधार पर आक्षेप किये हैं। उनका कहना है कि यदि सांख्य दर्शन कारण और कार्य में तादात्म्य सम्बन्ध मानता है तो बीज और वृक्ष भी समान माने जायेंगे। इस तर्क के आधार पर उनका द्वैतवाद अमान्य हो जायेगा यहाँ पर तादात्म्य और अलगाव एक साथ नहीं रह सकता।[१] जैसे बीज को बीज कहा जाय चाहे वृक्ष। एक ही बीज को बीज और वृक्ष दोनों नहीं कहा जा सकता। कारण को कारण कार्य और कार्य को कार्य कारण दोनों नहीं कहा जा सकता।

काश्मीर शैव दार्शनिक प्रकृति को सृष्टि का मूल उपादान कारण नहीं मानते। उनकी मान्यता है कि निर्जीव प्रकृति से सजीव सृष्टि की उत्पत्ति नहीं हो सकती। क्योंकि जड़ पदार्थ का अपना कोई अस्तित्त्व नहीं होता जिससे वह कुछ कर सके, उसको किसी कार्य के लिए स्वयं किसी चैतन्य पर आश्रित रहना पड़ता है। ऐसी स्थिति में सृष्टि का कारण प्रकृति को मानना हास्यास्पद प्रतीत होता है। बीज को भी अंकुर बनाने में अधिक श्रेय बीज, खाद, पानी या मिट्टी का न होकर चैतन्य का है, क्योंकि वही जड़ तत्त्व के रूप में उसको परिपुष्ट कर[२] स्वयं ही अंकुर के रूप में आभासित होता है। इसलिए बीज भी जब वृक्ष का रूप धारण करता है तो उसमें भी किसी चैतन्य का ही श्रेय होता है। इसलिए हर जड़ पदार्थ अपने को अस्तित्वयुक्त करने के लिए चैतन्य पर ही पूर्ण रूप से निर्भर है। जैसे—घड़ा स्वयं उत्पन्न नहीं हो सकता, उसके लिए कुम्हार का होना अतिआवश्यक है; क्योंकि ज्ञान और क्रिया चेतन के ही कार्य हैं।[३] उसी प्रकार जड़ प्रकृति को भी सृष्टि करने के लिए ज्ञान और क्रिया से युक्त किसी पदार्थ पर निर्भर होना आवश्यक है वह चेतन ही है।

सांख्य की जड़ प्रकृति और निष्क्रिय पुरुष के सम्बन्ध के बारे में शैव दार्शनिकों का मत है कि इसके लिए किसी चेतन कर्ता की आवश्यकता है। अन्धी प्रकृति

---

१. ई०प्र०वि०, भाग-२, पृष्ठ-१७३।

२. ई०प्र०वि०, २/४/८, पृष्ठ-१४६।

३. वहीं, पृष्ठ १७-१९।

अपने आप लंगड़े पुरुष के साथ सम्बन्ध स्थापित करने में सक्षम नहीं हो सकती। इसलिए प्रकृति के विकास से सृष्टिविषयक अवधारणा की समुचित व्याख्या नहीं हो सकती।[1] सृष्टि के विकास के लिए चेतन तत्त्व को मानना पड़ेगा जड़ प्रकृति को जगत् के विकास में कर्ता या प्रेरक नहीं माना जा सकता।[2] अतः सृष्टि कार्य के लिए जड़ की नहीं चेतन की सत्ता सर्वोच्च है।

सांख्य दर्शन के अनुसार प्रकृति के परिणाम में कोई न कोई प्रयोजन अवश्य निहित रहता है। प्रकृति में प्रयोजन के अन्त में अनुसन्धान की सामर्थ्य नहीं है। अतः प्रकृति को अपने परिणाम दर्शाने के लिए किसी चेतन की आवश्यकता होती है। जिसे ईश्वर ही पूर्ण कर सकता है और इसे सांख्य में कोई स्थान नहीं है। केवल अचेतन प्रकृति के सहारे ऐसे सुविचित्र और सप्रयोजन परिणामों का होना सम्भव नहीं है।[3] यही सांख्य दर्शन की सबसे बड़ी कमी है, जिसे शैव दार्शनिकों ने अपने दर्शन में दूर करने का प्रयास किया है।

काश्मीर शैव दर्शन में शिव तथा शिव द्वारा आभासित जगत् में तादात्म्य सम्बन्ध है। इसको शैव दार्शनिकों ने एक दृष्टान्त के माध्यम से समझाने का प्रयास किया है। परमशिव तथा उसके द्वारा आभासित जगत् के सम्बन्ध को स्पष्ट करते हुए अभिनवगुप्त ने कहा है कि जिस प्रकार दर्पण में परस्पर पृथक्-पृथक् रूप से प्रतिबिम्बित ग्राम, नगर, नदी, वृक्ष आदि दर्पण से अभिन्न होते हुए भी भिन्न अवभासित होते हैं उसी प्रकार परम शिव अपने स्वातन्त्र्य माहात्म्य से अपने अन्तर्गत अभिन्न भाव से अवस्थित विश्ववैचित्र्य को भिन्नवत् आभासित करता है।[4] वैसे परमशिव के लिए दर्पण का उद्धरण पूर्ण रूप से सही प्रतीत नहीं होता; क्योंकि इसके माध्यम से दर्पण और प्रतिबिम्ब के सम्बन्ध को ही स्पष्ट किया जा सकता है, बिम्ब और दर्पण तथा प्रतिबिम्ब की एकता को स्पष्ट नहीं किया जा सकता। इस दृष्टान्त के माध्यम से यह प्रतीत होता है कि बिम्ब और दर्पण की सत्ता भिन्न-भिन्न है जबकि काश्मीर शैव दर्शन का शिव अपने आप में स्वयं बिम्ब, दर्पण और

---

१. ई०प्र०वि०, भाग-२, पृष्ठ १७६-७७।

२. वहीं, पृष्ठ १७-१९।

३. स च क्षोभः प्रकृतेस्तत्त्वीशाधिष्ठानादेव ।
अन्यथा नियतपुरुषप्रतीति र्न सिद्ध्येत ।। -तन्त्रसार, ५/८५।

४. निर्मले मुकुरे यद्वद् भान्ति भूमिजलादयः ।
अमिश्रास्तद्वदेकस्मिंश्चिन्नाथे विश्ववृत्तयः ।। -तन्त्रालोक, भाग-२, आ० ३/४।

प्रतिबिम्ब तीनों है; क्योंकि शिव द्वारा प्रतिपादित जगत् स्वयं शिव न होकर शिव का आभासित रूप है।

यहाँ एक बात और परिलक्षित होती है कि दर्पण अपने आप प्रकाशित नहीं होता वह अपने को प्रकाशित करने के लिए स्वयं दूसरे पर आश्रित रहता है, परन्तु काश्मीर शैव दार्शनिकों के अनुसार शिव जगत् रूप में प्रकाशित होने के लिए स्वयं सक्षम है। इसे इस कार्य के लिए किसी पर आश्रित नहीं रहना पड़ता, क्योंकि इसे शैव दार्शनिकों ने प्रकाश और विमर्श दोनों रूप में प्रतिष्ठित किया है। इसे अन्य किसी प्रकार की अपेक्षा नहीं रहती, वह स्वयं पूर्ण है और स्वातन्त्र्य ही उसकी परम सत्ता है। उपरोक्त उद्धरण में दर्पण किसी प्रतिबिम्ब को प्रकाशित करने में स्वतन्त्र नहीं है जबकि शिव में स्वातन्त्र्य है।[१] अत: सृष्टि का कारण जड़ नहीं हो सकता। प्रत्येक कार्य का कारण चेतना से युक्त रहता है, कोई भी वस्तु उससे बाहर प्रकाशित नहीं होती।[२] ईश्वर प्रत्यभिज्ञाविमर्शिनीकार ने भी कहा है कि चिदात्मा ही समस्त पदार्थों को अपने प्रकाशरूप दर्पण में प्रतिबिम्ब की भाँति आभासित करता है।[३] अत: जगत् और शिव में पूर्णरूप से तादात्म्य सम्बन्ध है और यह जगत् परमेश्वर का ही आभास है। इस जगत् को अपने अन्दर से आभासित करने के बाद भी शिव पूर्ण है।

परम शिव के बारे में एक यह भी आक्षेप लगाया जाता है कि कैसे शिव विषयी और विषय दोनों है। किस प्रकार वह विश्वमय होकर भी विश्वोत्तीर्ण रहता है? इसको स्पष्ट करते हुए शैव दार्शनिक ने कहा है कि परमशिव जो चेतना से युक्त होते हुए भी पूर्णरूप से स्वतन्त्र है और अपने आत्म-विलास के लिए नानारूप धारण करते हुए भी अपने वास्तविक रूप में बना रहता है इसी माध्यम से वह विषयी और विषय दोनों है और अपने को विश्व में प्रकाशित करते हुए भी विश्व से परे है। जैसे एक राजा यदि नाटक में भिखारी का अभिनय करता है तो उसे इस बात का पूर्ण ज्ञान रहता है कि मैं राजा हूँ और भिखारी का अभिनय करने से वह भिखारी नहीं बनता। वह मात्र एक खेल ही रहता है ठीक उसी प्रकार का एक रूप काश्मीर शैव दर्शन के अनुसार शिव का है। शिव को सृष्टि करने के लिए किसी प्रकार की बाध्यता नहीं होती। वह इसके लिए पूर्ण रूप से स्वतन्त्र है। इस स्वातन्त्र्य के कारण ही वह आनन्द में पंचकृत्य करता रहता है। यह पंचकृत्य करना उसकी

---

१. ई०प्र०वि०, २/४/१९।

२. भास्करी, २, २०१/६।

३. चेतनो हि स्वात्मदर्पणे भावान् प्रतिबिम्बवदाभासयति।

—ई०प्र०वि०वि०, भाग-२, पृष्ठ-१५३।

पूर्णता का द्योतक है। इस प्रकार के स्वभाव के कारण ही वह विश्व का आभास करने में पूर्णतः परनिरपेक्ष है।[1]

सांख्य में सृष्टि को प्रकृति-पुरुष अथवा दोनों में से किसी एक की अभिव्यक्ति नहीं स्वीकार किया गया है। ऐसा स्वीकार करने का कोई ठोस आधार भी नहीं है क्योंकि निष्क्रिय पुरुष अभिव्यक्त नहीं हो सकता और अभिव्यक्त होना चैतन्य का लक्षण है, इसलिए प्रकृति भी अभिव्यक्त नहीं हो सकती। यहाँ पर चैतन्याभास मात्र निमित्त कारण है और प्रकृति के सत्त्व, रजस्, तमस् उपादान कारण हैं। चैतन्याभास को निमित्त कारण कहने का तात्पर्य यह है कि बिना इसके प्रकृति की साम्यावस्था भंग नहीं हो सकती और जब तक साम्यावस्था भंग नहीं होती सृष्टि भी सम्भव नहीं हो सकती। जड़ प्रकृति चैतन्याभास को अपने में आरोप कर समस्त जड़-चेतनात्मक सृष्टि का कारण बनती है। इस दृष्टि से अगर विचार करें तो प्रकृति ही सृष्टि का उपादान और निमित्तादि कारण है। किन्तु प्रकृति में चैतन्य का आरोप होना प्रधान कारण है और सृष्टि का मूल आधार है। सांख्य का इस सम्बन्ध में विचार अधिक वैज्ञानिक है; क्योंकि वैज्ञानिक भी यह स्वीकार करते हैं कि जड़ बुद्धि ही चेतनावेष्टित होकर चैतन्य के सारे व्यापारों को करती है। किन्तु काश्मीर शैव दर्शन के अनुसार सृष्टि न तो प्रकृति का परिणाम है और न ही ब्रह्म का परिणाम। यह विवर्त भी नहीं है, क्योंकि यह सत्य है। काश्मीर शैव दर्शन के आभासवाद के अनुसार सृष्टि शिव का विमर्श है। अतः शिव ही सृष्टि का निमित्त एवं उपादान कारण दोनों है और विचार के रूप में सृष्टि सत् है अतः इसे विवर्त भी नहीं कह सकते। यह सत्कारणवाद भी नहीं है, यहाँ सत्कार्यवाद का सिद्धान्त ही पुष्ट होता है। किन्तु काश्मीर शैव दर्शन का सत्कार्यवाद अन्य सत्कार्यवादी मतों से इस अर्थ में विशिष्ट है कि यहाँ क्रिया को भी तत्त्वरूपता प्रदान की गयी है। यह तत्त्वज्ञान, क्रिया दोनों है। ज्ञान और क्रिया तत्त्व को समझने की दो दृष्टियाँ है। ज्ञान की दृष्टि से वह परमशिव है और क्रिया की दृष्टि से सृष्टि रूप भी है। इस प्रकार काश्मीर शैव दर्शन का कारणताविचार एक तार्किक एवं आध्यात्मिक दृष्टिकोण प्रस्तुत करता है। इस सृष्टि की चरम-निष्पत्ति इस मन्त्र में देखने को मिलती है।

सर्वो ममायं विभव इत्येतत्परिजानतः ।
विश्वात्मनो विकल्पानां प्रसरोऽपि महेशता ।।[2]

---

१. एवं स्वभावत्वादेव च अस्य न अत्र परापेक्षा इति।

—तन्त्रालोक टीका, भाग-९, पृष्ठ-१३१

२. ईश्वरप्रत्यभिज्ञा, ४/१/१२।

ज्ञानावस्था में ज्ञानी को समस्त विश्व प्रपञ्च अपना ही वैभव ज्ञात होता है। समस्त रूपों में परमशिव ही व्याप्त है। यह ज्ञान प्राप्त करने पर शिव से भिन्न कुछ भी नहीं ज्ञात होता अपितु सब कुछ शिव का ही वैभव है। शिव ने ही जगत् के रूप में अपने को फैला रखा है। जगत् उसी का वैभव है। इस स्थिति में कारणता का प्रश्न काश्मीर शैव दर्शन में उस रूप में उपस्थित नहीं होता, जिस रूप में सांख्य दर्शन में उठता है। काश्मीर शैव दर्शन में यह स्वीकार भी किया गया है कि जब तक ज्ञान या प्रत्यभिज्ञा नहीं है तभी तक कारणवादी का प्रश्न उठता है। वास्तव में कारणता का प्रश्न देश काल कारणातीत शिव के सन्दर्भ में वदतो व्याघात है, किन्तु हमारी तार्किक बुद्धि उसे भी अपने ढंग से समझने का प्रयास करती है। किस रूप में शिव से सृष्टि की कारणता का ज्ञान तर्क बुद्धि करती है, वह यह है कि शिव ही परम कारण है। वह देश, काल, कारणातीत होते हुए भी सृष्टि का निमित्तोपादान कारण है। इस तरह के समाधान आध्यात्म दर्शनों के सन्दर्भ में युक्तियुक्तता की कसौटी के आधार पर महत्त्वपूर्ण समझे गये हैं। किन्तु वैज्ञानिक तो कार्य-कारण के स्वरूप एवं उनके सम्बन्धों पर तथ्यात्मक दृष्टि से विचार करते हैं और सांख्य दर्शन में भी कारणता की दार्शनिक व्याख्या वैज्ञानिक दृष्टि से की गयी है।

सांख्य दर्शन में प्रकृति तीनों गुणों की साम्यावस्था है, जिसके कारण इसे त्रिगुणात्मक प्रकृति कहते हैं। इनमें सत्त्व, रसज् और तमस् ये तीनों गुण समान भाव से रहते हैं। इसमें रजस् दुःख का कारण है। तम से मोह[१] और विषाद उत्पन्न होते हैं और सत्त्व गुण प्रकाशस्वरूप है। जब इन तीनों गुण का पुरुष के साथ संयोग होता है, तब ये एक दूसरे को दबाने का प्रयास करते हैं। ऐसा होने पर ये भिन्न-भिन्न अनुपातों में आपस में मिल जाते हैं और फलस्वरूप सृष्टि उत्पन्न होती है।

प्रकृति की सृष्टि से सात्त्विक अंश में पहले उत्पन्न होने वाला तत्त्व ''महत्-तत्त्व'' है, जो इस सृष्टि की उत्पत्ति में बीज रूप में पाया जाता है। इसको ''बुद्धितत्त्व'' के रूप में भी जाना जाता है। यह किसी कार्य में निश्चयता प्रदान करती है। इसके द्वारा ही पुरुष भोक्ता बनता है और अपने को प्रकृति से स्वतन्त्र समझकर स्वयं को पहचानता है।

बुद्धि तीनों गुणों से युक्त एवं सत्त्वगुण-प्रधान होने के कारण परिणामी है। इसके परिणामस्वरूप ही ''अहंकार'' तत्त्व की उत्पत्ति होती है। इसमें रजोगुण की

---

१. "उपेक्षाविषयत्वं नाम मोहः।" "मुहैचित्र्ये" इत्यस्माद्धातोः मोहशब्दनिष्पत्तेः। उपेक्षणीयेषु चित्तवृत्त्यनुदयात्।"

प्रधानता होती है जिसके द्वारा ''मैं'', ''मुझे'' आदि जो अपने अन्तर्गत अभिमान होता है, वह अहंकार का स्वरूप है। अहंकार में भी तीन गुण वर्तमान रहते हैं। इन तीनों गुणों के मिलने के कारण इसके तीन रूप होते हैं।

''वैकृत'' इसमें सत्त्व गुण की अधिकता होती है। इससे ग्यारह इन्द्रियों की अभिव्यक्ति होती है। इसमें पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ— (१) श्रवणेन्द्रिय, (२) त्वगिन्द्रिय, (३) नेत्रेन्द्रिय, (४) रसनेन्द्रिय, (५) घ्राणेन्द्रिय और पाँच कर्मेन्द्रियाँ— (१) वाक्, (२) पाणि, (३) पाद, (४) पायु, (५) उपस्थ तथा ग्यारहवीं इन्द्रिय मन है जो उभयात्मक होता है और दोनों प्रकार के इन्द्रियों को अपने-अपने कार्यों के लिए प्रेरित करता है।

''भूतादि'' इसमें तमोगुण की अधिकता होती है। इस तामस अंश से पाँच तन्मात्र— (१) शब्द तन्मात्र, (२) स्पर्श-तन्मात्र, (३) रूपतन्मात्र, (४) रस-तन्मात्र तथा (५) गन्ध-तन्मात्र की उत्पत्ति होती है। इन पाँच सूक्ष्म तन्मात्रों की अभिव्यक्ति प्रत्यक्ष रूप में नहीं होती है। इन तन्मात्रों के योग से पाँच स्थूल महाभूतों का विकास होता है। (१) शब्द से आकाश का, (२) स्पर्श से वायु का, (३) रूप से तेज का, (४) रस से जल का तथा (५) गन्धतन्मात्र से पृथिवी जैसे महाभूत की उत्पत्ति होती है।[१] ये भूत सांख्य मत में स्थूलतम पदार्थ हैं जो परमाणुस्वरूप हैं।

''तैजस'' जिसमें रजोगुण की प्रधानता होती है। यह ''तैजसरूप अहंकार'' सात्त्विक तथा तामस इन दोनों अंशों को अपने-अपने कार्य को करने में सहायता देता है।[२]

तत्त्व-विचार[३] में अन्य दर्शनों की तरह शैव दर्शन का अपना एक क्षेत्र है। उस क्षेत्र में एकमात्र तत्त्व ''शिव'' है। उसी से अन्य सभी तत्त्वों की अभिव्यक्ति होती है। जिस प्रकार विशाल वृक्ष अपनी बीज-अवस्था में पूर्ण सामरस्य भाव से अवस्थित रहता है, उसी प्रकार ३६ तत्त्व समान रूप से परमशिव में अन्तर्निहित रहते हैं[४] जो निम्न हैं—

शिव तत्त्व में परम शिव अपनी इच्छा से जगत् के सर्जन के लिए स्पन्दमान होता है तो उसका आद्य स्पन्द शैव दार्शनिकों के अनुसार शिव है।

---

१. गौड़पादभाष्य, सांख्यकारिका, ३८।

२. सांख्यकारिका, २४-२५।

३. तत्त्वों की विशद व्याख्या तृतीय अध्याय में की जा चुकी है।

४. परात्रिंशिका, का० २४-२५।

शक्ति-तत्त्व शिव की ही शक्ति है। यह इसका अहं रूप है। शक्ति शिव से भिन्न नहीं है, वह शिव की सर्जनोन्मुखता मात्र है। शक्ति-तत्त्व में महेश्वर के आनन्द का प्राधान्य है।

सदाशिव-तत्त्व में इच्छा की प्रधानता होती है। इस तत्त्व की अभिव्यक्ति उन्मेष के कारण होती है। यह अन्तर्वर्ती निमेष है।[१] यह उन्मेष के साथ निमेष का द्योतक है।

ईश्वर-तत्त्व में जगत् की क्रमिक अभिव्यक्ति स्पष्ट होती है। यहाँ "अहम्" अंश गौण होता है और "इदम्" अंश की प्रधानता रहती है।

शुद्धविद्या या सद्‌विद्या की अवस्था में "अहम्" एवं "इदम्" इन दोनों रूपों में ऐक्य की प्रतीति रहती है। इसमें "क्रियाशक्ति" प्रधान है।

मायातत्त्व के द्वारा परमेश्वर अपने रूप को आच्छादित कर लेता है। **माया के पाँच कंचुक**— "परमशिव", सर्वकर्ता, सर्वज्ञ, पूर्ण, नित्य, व्यापक, असंकुचित शक्तिसम्पन्न होते हुए भी, अपनी इच्छा से संकुचित होकर कला, विद्या, राग, काल तथा नियति, माया के इन पाँच कंचुकों के रूप में स्वयं अभिव्यक्त होते हैं।

पुरुष-तत्त्व क्रमशः इन्हीं पाँच कंचुकों को आवरण में स्वीकार कर संसारी हो जाता है। इन्हीं पाँचों से आवृत चैतन्य "पुरुषतत्त्व" है।

प्रकृति-तत्त्व महत्‌तत्त्व से लेकर पृथिवी तत्त्वपर्यन्त सभी तत्त्वों का मूल कारण है। यह सत्त्व, रजस् और तमस् की "साम्यावस्था" है।

अन्तःकरण

बुद्धितत्त्व से "यह ऐसा है" इस प्रकार निश्चय करने वाली शक्ति प्राप्त होती है। यह सत्त्वप्रधान है। इसमें चैतन्य-प्रतिबिम्ब को ग्रहण करने की योग्यता है।

अहंकार-तत्त्व से "यह मेरा है", "यह मेरा नहीं है" इस प्रकार का अभिमान उत्पन्न होता है।

मनस्तत्त्व से "करूँ या न करूँ" इस प्रकार के संकल्प और विकल्प के भाव प्रदर्शित होते हैं।

पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ– शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गन्ध को ग्रहण करने वाली क्रमशः श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, जिह्वा तथा घ्राण, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ हैं।

---

1. ईश्वरो बहिरुन्मेषो निमेषोऽन्तः सदाशिवः । –ईश्वरप्रत्यभिज्ञा, ३/१-३।

पाँच कर्मेन्द्रियाँ– वचन, आदान, विहरण, विसर्ग, आनन्द के साधन क्रमशः वाक्, पाणि, पाद, पायु तथा उपस्थ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ हैं।

पाँच तन्मात्राएँ– शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गन्ध, पाँच तन्मात्राएँ हैं।

पंचभूत– अवकाश देने वाला "आकाश", संजीवन "वायु", दाहक और पावक "अग्नि" पिघलने और भिगोने वाला "जल" तथा धारण करने वाली "पृथिवी" पाँच भूततत्त्व हैं।

प्रधान से लेकर पंचमहाभूत तक चौबीस तत्त्वों के विकास के विषय में सांख्य और काश्मीर शैव दर्शन में सहमति है। या, यों कह सकते हैं कि सांख्योक्त २४ तत्त्वों को काश्मीर शैव दर्शन स्वीकार करता है किन्तु काश्मीर शैव दर्शन इससे आगे परमशिव तक कुछ तत्त्वों को स्वीकार करता है। सांख्य के अनुसार ये तत्त्व प्रकृति के विकास हैं। काश्मीर शैव दर्शन भी इसे प्रकृति का विकास मानता है। किन्तु काश्मीर शैव दर्शन में ये तत्त्व एवं स्वयं प्रकृति भी शिव की अभिव्यक्ति है। प्रकृति सांख्य के अनुसार आदि तत्त्व है जबकि काश्मीर शैव दार्शनिकों के अनुसार यह विकास का एक तत्त्व है। सांख्य दर्शन में "पुरुष" और "प्रकृति" नित्य और स्वतन्त्र हैं, किन्तु शैव दर्शन में ये "परतन्त्र" हैं। इस सृष्टि के सभी तत्त्व परमशिव की विभिन्न अवस्थाओं के विभिन्न रूप हैं। इनका अलग से कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है।

तत्त्वों की संख्या के विषय में काश्मीर शैव विचारकों में मतभेद देखने को मिलता है। उत्पलाचार्य के अनुसार तत्त्वों की संख्या छत्तीस है, किन्तु अभिनवगुप्त शिव के आध्यात्मिक एवं भौतिक रूपों के आधार पर तत्त्वों की संख्या सैंतीस बताते हैं। काश्मीर शैव दार्शनिक सांख्य की प्रकृति तत्त्व से ऊपर माया, माया के पंच कंचुक, शुद्ध विद्या, ईश्वर, सदाशिव, शक्ति, शिव-तत्त्व, की प्रक्रिया को विकासक्रम में दर्शाते हैं। प्रकृति-तत्त्व माया से उत्पन्न है जबकि सांख्य में प्रकृतितत्त्व नित्य है और माया के नाम से भारतीय दर्शन में स्वीकार किये जाने वाले समस्त क्रिया-कलापों को प्रकृति के सत्त्व, रजस्, तमस् की परस्पर क्रिया-प्रतिक्रिया सम्पादित करती है। वास्तव में ३६ तत्त्वों के माध्यम से काश्मीर शैव दार्शनिक सृष्टि और सृष्टि के कारणभूत तत्त्वों का विवेचन प्रस्तुत करते हैं और सांख्य में यह कार्य २५ तत्त्वों के माध्यम से ही सम्पन्न हो जाता है। इन २५ तत्त्वों में प्रकृति और पुरुष दो ही मूल पदार्थ हैं और काश्मीर शैव दर्शन में केवल एक शिव ही मूल पदार्थ है। सांख्य अपने वस्तुवादी, अध्यात्मवादी, यथार्थवादी दृष्टिकोण से दूसरी व्याख्या प्रस्तुत करता है, जबकि काश्मीर शैव दार्शनिक अध्यात्मवादी

विज्ञानवादी व्याख्या प्रस्तुत करते हैं। काश्मीर शैव दर्शन में दो विपरीत गुणों वाले पदार्थों के बीच सम्बन्ध में कठिनाइयाँ उत्पन्न होती हैं। साथ ही काश्मीर शैव दार्शनिक पूर्ण अध्यात्मवादी सिद्धान्त की स्थापना भी करते हैं। इस पूर्ण अध्यात्मवाद में प्रकृति भी शिव की अभिव्यक्ति का एक स्तर है और पुरुष भी शिव की एक संसारी अभिव्यक्ति है। इस प्रकार काश्मीर शैव दार्शनिक सांख्य के विचारों से ऊपर तक जाकर अध्यात्म की स्थापना करने का प्रयास करते हैं।

सृष्टि का पुरुष से क्या सम्बन्ध है या पुरुष सृष्टि को किस रूप में ग्रहण करता है? इस प्रश्न के सन्दर्भ में सांख्य की तरफ से दो बातें कही जा सकती हैं। पहली यह कि असंग, कूटस्थ, निष्क्रिय पुरुष किसी भी प्रकार से सृष्टि से सम्बन्धित नहीं हो सकता।[१] सृष्टि प्रकृति करती है। उसी का संसरण और लय होता है और हर स्थिति में पुरुष असंग बना रहता है। दूसरी यह है कि असंग पुरुष चैतन्य रूप है और चैतन्याभास से प्रकृति में विक्षोभ होता है और प्रकृति सृष्टि करती है। यहाँ प्रश्न उठता है कि पुरुष कैसे सृष्टि की सीमितता, जड़ता आदि का भागी बनता है? इस प्रश्न का जो भी उत्तर सांख्य दर्शन की तरफ से दिया जाता है उसमें पुरुष को प्रकृत्यन्तर्गत होने वाले क्रिया व्यापार से एवं उस क्रिया व्यापार के फल (बन्धनादि) से प्रभावित स्वीकार करना पड़ता है। वास्तव में असंग पुरुष कुछ करता तो नहीं है किन्तु प्रकृत्यन्तर्गत होने वाले व्यापार को अपने अन्तर्गत समझने लगता है। यह गलत समझ या अविवेक क्या क्रिया नहीं है, और यदि क्रिया है तो इस क्रिया से पुरुष प्रभावित रहता है और इस प्रभाव से मुक्त होना अपने जीवन का लक्ष्य समझता है और सांसारिक जीवन सभी क्रिया व्यापार एवं जीवन के सभी प्रश्न तभी सार्थक माने जा सकते हैं जब पुरुष त्रिगुण से आच्छादित होता है। हाँ यह सही है कि ये समस्त क्रिया व्यापार पुरुष के स्वरूप में कोई परिवर्तन उत्पन्न नहीं करते और अविवेक की निवृत्ति होने की स्थिति में पुरुष अपने को असंग चैतन्य-स्वरूप में विद्यमान पाता है। इस दृष्टि से पुरुष दो प्रकार से सृष्टि से सम्बन्धित हैं। पहला यह कि पुरुष के प्रकृत्यन्तर्गत प्रतिबिम्बन से ही सर्ग का आरम्भ होता है। दूसरा यह कि प्रकृत्यन्तर्गत उत्पन्न अविवेक को पुरुष अपने अन्दर समझने लगता है। इस प्रकार सांख्य में सर्ग का आरम्भ और सर्ग का महत्त्व दोनों की मीमांसा के लिए पुरुष (जो स्वरूपतः असंग और चैतन्य है) का सृष्टि से सम्बन्ध स्वीकार करना एक तार्किक अनिवार्यता प्रतीत होती है और इस तार्किक अनिवार्यता को सांख्य

---

1. तस्मान्न बध्यतेद्धा नापि मुच्यते नापि संसरति कश्चित् ।
संसरति बध्यते मुच्यते, च नानाश्रया प्रकृतिः ।। –सां०का०, ६२।

पुरुष का आरोप मात्र या अविवेक मात्र कहकर पुरुष की कूटस्थता की मीमांसा भी कर लेता है।

काश्मीर शैव दर्शन में शिव एवं सृष्टि

काश्मीर शैव दर्शन में शिव अपने क्रिया-स्वातन्त्र्य के माध्यम से जगत् की अभिव्यक्ति करता है। शिव की यह विशेषता है कि वह एक साथ पर और अपर दोनों है, जो उसका स्वरूप है। वह इसलिए है कि विश्व से असम्बद्ध है और वह अपर इसलिए है कि स्वतन्त्र एवं निरपेक्ष है। उपनिषद् भी शिव के इन दोनों रूपों से सहमत हैं, परन्तु वहाँ पर भी परब्रह्म को अधिक महत्त्व दिया गया है और उसकी तुलना में अपर ब्रह्म को कम। इस असमानता को आगम शास्त्र में समान समझते हुए ही परमशिव को विश्वोत्तीर्ण और विश्वमय दोनों माना जाता है। यहाँ पर भी कहीं-कहीं शिव की विश्वमयता पर अधिक महत्त्व दिया गया है, परन्तु इसका एकमात्र कारण यह है कि परमशिव को जगत् से असम्बद्ध एवं एकाकी न मान लिया जाये।

काश्मीर शैव दार्शनिक इस जगत् को शिव के द्वारा आभासित मानते हैं। वे इस जगत् की सृष्टि के लिए एकमात्र तत्त्व शिव को ही स्वीकार करते हैं। यहाँ पर शिव को ही जगत् का उपादान और निमित्त कारण माना गया है। यह अपने क्रिया-स्वातन्त्र्य से ही जगत् की उत्पत्ति करता है उसका यह स्वरूप है कि वह एक साथ पर और अन्तर्यामी दोनों है। इसका यह दो रूप होना अत्यन्त आवश्यक है; क्योंकि यदि वह केवल पर होगा तो विश्वातीत होगा और यदि मात्र अन्तर्यामी रहेगा तो उसके स्वातन्त्र्य एवं निरपेक्षता में व्यवधान उत्पन्न होगा। इसलिए इसके अन्तर्गत यह दोनों स्वरूपों का एक साथ होना उसका वास्तविक स्वरूपलक्षण है।

काश्मीर शैव दर्शन के अद्वैतवाद में शिव ही सृष्टि भी है और सृष्ट्येतर किसी पदार्थ की यदि कल्पना की जा सकती है तो वह भी शिव ही है। शिव से ही माया प्रकृति आदि समस्त पदार्थ उत्पन्न हैं। यहाँ शिव सांख्य के पुरुष की तरह केवल चैतन्य ही नहीं है। यह शक्ति है। यह ज्ञान ही नहीं क्रिया भी है। इसे शिव-शक्ति-सामरस्य रूप से समझा जाता है। सृष्टि शिव का ही लीला-विलास, स्वातन्त्र्य प्रकाशन, आनन्द आप्लावन या शिव की क्रियारूपता है। शिव क्रियाशील है और उसकी क्रियाशीलता ही सृष्टि है। शिव के अतिरिक्त कोई दूसरा तत्त्व नहीं है जो इसकी असंगता को भंग कर सके। माया स्वयं शिव का ही उपादान है। अतः यह भी उसकी असंगता को भंग नहीं कर सकती। सांख्य दर्शन में पुरुष में क्रियारूपता आरोपित है, अविवेक है। इसे काश्मीर शैव दार्शनिकों ने तत्त्व का स्वरूप स्वीकार कर सृष्टि हेतु माया जैसे किसी अलग तत्त्व को स्वीकार करने की आवश्यकता

का परिहार किया है। साथ ही शिव को क्रिया-रूप मानकर सृष्टि को उसी का विमर्श बताकर शिव की असंगता एवं तत्त्व की अद्वैतता की भी समुचित व्याख्या प्रस्तुत की है। वेदान्त, विशेष रूप से अद्वैत वेदान्त में सांख्य की कठिनाइयों को दूर कर युक्ति-युक्त करने का प्रयास किया गया है। अद्वैती सांख्य की द्वैत अवधारणा का परिहार करते हैं। सांख्य के प्रकृतिपरिणामवाद का खण्डन करते हैं, किन्तु सांख्य के आरोपवाद या अविवेकवाद को और भी तार्किक ढंग से पुष्ट करते हुए अद्वैत रूप में प्रस्तुत करते हैं।

काश्मीर शैव दार्शनिक प्रकृति-परिणामवाद के साथ ही आरोपवाद या अविवेकवाद को भी स्वीकार नहीं करते। वे यह समझते हैं कि आरोपवाद, अविवेकवाद या स्वयं प्रकृति-परिणामवाद की व्याख्या के पीछे यह तथ्य निहित है कि असंग चैतन्य में क्रिया कैसे सम्भव होगी। इस क्रिया प्रत्यय की व्याख्या के लिए सांख्य प्रकृति को स्वीकार कर द्वैतवादी कोटि में चला जाता है और अद्वैती इसकी व्याख्या अविवेक या आरोप मानकर करने का प्रयास करता है। वास्तव में चैतन्य निष्क्रिय है, क्रिया अविवेक के कारण आरोपित मात्र है। किन्तु काश्मीर शैव दार्शनिकों ने इसकी एक नये ढंग से व्याख्या प्रस्तुत की है। वह यह है कि क्रिया चैतन्य का स्वरूप है और क्रिया सीमितता का द्योतक न होकर पूर्णता का द्योतक है। क्रिया सत् है और आरोप नहीं। यह शिव की क्रिया या शक्ति शिव का आनन्द वैभव है। इसप्रकार काश्मीर शैव दार्शनिक चैतन्य की अद्वैतता असंगता को स्वीकार करते हुए सृष्टि की व्याख्या भी करते हैं। काश्मीर शैव दर्शन इस प्रसंग में सांख्य एवं अद्वैत वेदान्त की कमियों को पूर्ण करते हैं।

सांख्य एवं काश्मीर शैव दोनों में सृष्टि सप्रयोजन स्वीकार है। दोनों दर्शनों में यह प्रयोजन कुछ हद तक समान होते हुए भी भिन्न है। सांख्य के अनुसार प्रकृति पुरुष के स्वरूप-ज्ञान के निमित्त सृष्टि करती है। सांख्य दर्शन के अनुसार सृष्टि का विकास प्रकृति के तीन गुणों के विरूप परिणाम के स्वरूप होता है। यद्यपि प्रकृति का विकास पुरुष के बन्धन का कारण है तथापि एक अर्थ में इसके द्वारा पुरुष को मुक्ति भी प्राप्त होती है और विकास का अन्तिम एवं मूल लक्ष्य पुरुष को मुक्ति प्रदान करना है। इस प्रक्रिया में पुरुष को विवेक ज्ञान प्राप्त होता है जिसके फलस्वरूप वह अपने को प्रकृति से भिन्न समझकर अपने वास्तविक स्वरूप का ज्ञान प्राप्त करता है। किन्तु इस प्रयोजन की मान्यता में कठिनाई यह है कि जड़ प्रकृति में प्रयोजन अथवा उद्देश्य किस प्रकार सम्भव है? वास्तव में समस्त सृष्टि-प्रक्रिया को एक दृष्टि से सप्रयोजन माना जा सकता है किन्तु यह चेतन नहीं माना जा सकता।

सांख्य के अनुसार बुद्धि से लेकर पंचमहाभूत तक सृष्टि का यह विकास पुरुष के लाभ के लिए होता है। यद्यपि प्रकृति को स्वयं का लाभ प्रतीत होता है।[१] जिस प्रकार बछड़े के पोषण के लिए गाय का दूध स्वत: प्रवाहित होता है उसी प्रकार जड़ प्रकृति पुरुष की मुक्ति के लिए सक्रिय होती है।[२] जिस प्रकार जगत् में इच्छा से मुक्त होने के लिए व्यक्ति उसे तृप्त करता है उसी प्रकार आत्मा की मुक्ति के लिए प्रकृति सृष्टि करती है।[३]

सांख्य द्वारा प्रतिपादित प्रयोजन में निहित कठिनाइयों को ध्यान में रखते हुए काश्मीर शैव दर्शन स्वातन्त्र्य को ही एकमात्र प्रयोजन मानता है। यदि प्रकृति का अपना कोई प्रयोजन या लाभ नहीं है तो वह सृष्टि की प्रक्रिया में क्यों रत होती है। काश्मीर शैव दर्शन के अनुसार प्रकृति वास्तव में आत्मा की अपनी ही शक्ति है, जो पंचकृत्यरूपी लीला में निरन्तर सक्रिय रहती है। अत: लीला ही सृष्टि-प्रक्रिया का वास्तविक प्रयोजन है और यही शिव का स्वातन्त्र्य है।

भारत के सभी दर्शन बन्धन और मोक्ष को मानते हैं। सांख्य भी भारतीय वाङ्मय की परम्परा के अनुसार बन्धन और मोक्ष को मानता है। यहाँ पुरुष और प्रकृति का सम्बन्ध ही दु:ख का कारण है। पर यहाँ प्रश्न उठता है कि बन्धन और मोक्ष पुरुष के होते हैं या प्रकृति के? सामान्य रूप से यह धारणा है कि चेतन आत्मा अविवेक के कारण प्रकृति के सम्पर्क में आता है और यही अवस्था उसके बन्धन की अवस्था के रूप में जानी जाती है। पुन: जब उसे यह ज्ञान हो जाता है कि प्रकृति का संसर्ग ही दु:ख का कारण है तो वह अपना सम्बन्ध-विच्छेद कर लेता है, जो उसके मोक्ष का हेतु है। इस दु:ख का कारण प्रकृति-पुरुष का अविवेक है। इस अविवेक के कारण ही प्रकृति पुरुष का संयोग होता है और अविवेक के कारण पुरुष अपने को बुद्धिगत समस्त विषयों का कर्ता मानकर सुखी-दु:खी होता है। मध्यकालीन कुछ दार्शनिकों का कहना है कि यदि आत्मा को बन्धन और मोक्ष से युक्त माना जाता है तो वह परिणामी, परिवर्तनशील हो जाता है। सांख्यसप्तति में भी कहा गया है कि "पुरुष न बद्ध होता है, न मुक्त होता है और न अनेक योनियों का विचरण करता है। फिर बन्धन किसका होता है? और यदि प्रकृति को ही बन्धन से युक्त माना जाय तो वह जड़ परिणामिनी प्रकृति का कैसे बन्धन और मोक्ष हो सकता है।[४]

---

१. सां०का०, ५६।

२. वहीं, ५७।

३. वहीं, ५८।

४. शास्त्री, उदयवीर, सांख्य सिद्धान्त, पृष्ठ-१८५।

सांख्य दर्शन ने प्रकृति को ''परार्थ'' बताया है। उनेक अनुसार प्रकृति की समस्त प्रवृत्तियाँ ''पर'' के लिये होती हैं और वह ''पर'' है चेतन आत्मा। इस चेतन आत्मा के भोग और अपवर्ग की सिद्धि के लिए प्रकृति की समस्त प्रवृत्ति है। प्रकृति सब कुछ करती है, आत्मा केवल अहंकार से ऐसा समझता है कि मैं सर्वकर्ता हूँ। वस्तुतः दुःख का कारण रजोगुण है जो प्रकृति के अन्दर विद्यमान रहता है। पुरुष नित्यशुद्ध, नित्यबुद्ध और नित्यमुक्त है इसलिए पुरुष सुख-दुःख से असम्पृक्त रहता है, तथापि पुरुष का दुःख से सम्बन्ध बुद्धि में प्रतिबिम्बित होने के कारण होता है। बुद्धि में प्रतिबिम्बित पुरुष इन सभी विषयों को अपने में उपचरित करके उनमें अभिमान करता हुआ उनका उपभोग करता है और स्वरूपतः असङ्ग सुख-दुःख से असम्पृक्त होने पर भी सुखी-दुःखी होता है। दुःख का पुरुष से सम्बन्ध प्रतिबिम्बरूप से है इसलिए इस दुःख का विषय पुरुष है, इसलिए दुःखनिवृत्ति पुरुषार्थ है।[१] यह बन्धन पुरुष में स्वाभाविक नहीं है अपितु औपाधिक है। यह प्रतिबिम्बमात्र होने के कारण वाङ्मात्र है तात्त्विक नहीं है।[२] जिस प्रकार अग्नि अपने स्वाभाविक गुण दहन से अलग नहीं हो सकती वैसे ही बन्धन को पुरुष का स्वाभाविक गुण मानने पर वह कभी समाप्त नहीं हो सकता, क्योंकि पुरुष नित्य तत्त्व है। इस बात को सांख्य दर्शन में और स्पष्ट करने के लिए **कूर्मपुराण** में कहे गये विचारों— ''यदि आत्मा स्वभाव से अशुद्ध अशुचि तथा विकारवान् होती तो वस्तुतः इसका सैकड़ों जन्मों में भी मोक्ष सम्भव नहीं हो सकता'', को उद्धृत किया गया है।[३]

इसप्रकार सांख्य दर्शन में प्रकृति-पुरुष के अविवेक को ही बन्धन का कारण स्वीकार किया गया है। प्रकृति पुरुष का यह अविवेक संयोग द्वारा ही बन्धन का कारण बनता है,. साक्षात् अविवेक बन्धन का कारण नहीं है।[४] यह प्रकृति-पुरुष का संयोग स्वाभाविक नहीं है प्रत्युत अविवेक ही प्रकृति पुरुष के संयोग का कारण

---

१. दुःखनिवृत्तेः पुरुषार्थत्वं विषयतासम्बन्धेनैव बोध्यम् । -सां०प्र०भा० १/१।

२. बन्धादीनां सर्वेषां चित्त एवावस्थानात् तत् पुरुषे वाङ्मात्रं सर्वस्फटिकलौहित्यवत् प्रतिबिम्बमात्रत्वात् । -वहीं, १/५८।

३. बन्धनरूपपुरुषेण स्वाभाविकत्वं ..... ह्यग्नेः स्वाभाविकाद् औष्ण्यान्मोक्षः सम्भवति, स्वाभाविकरूपयावदद्रव्यभावित्वात्.....। -तदुक्तमीश्वरगीतायाम्।
यद्यात्मा मलिनः स्वच्छो विकारी स्यात् स्वभावतः ।
नहि तस्य भवेन्मुक्तिर्जन्मान्तरशतैरपि ।। -कुर्म०पु०, २/२/१२-१३।

४. सां०प्र०भा०, १/५५।

है। इसलिए यह बन्धन का आदि कारण है।[1] अविद्या से प्रकृति पुरुष का संयोग होता है और संयोग से बन्धन होता है।

मोक्ष का अभिप्राय बन्धन से मुक्त होना है। सांख्य के दो तत्त्व प्रकृति तथा पुरुष के ज्ञान से ही मोक्ष की प्राप्ति होती है। मोक्ष के लिए पुरुष को अपने सच्चे स्वरूप का ज्ञान प्राप्त करना होता है और यह ज्ञान उसे प्रकृति-पुरुष-विवेक से प्राप्त होता है। कर्म और उनके फल, पुण्य-पाप, सुख-दुःख इन सबका सम्बन्ध प्रकृति और उसकी सृष्टि से है, पुरुष से नहीं। मैं प्रकृति नहीं हूँ, सक्रिय नहीं हूँ, मैं स्वामी नहीं हूँ, अहंकार मेरा वास्तविक स्वरूप नहीं है यह वास्तविक ज्ञान ही पुरुष को अविद्याजन्य प्रतिबिम्बरूप मिथ्या बन्धन से विमुक्त करता है और पुरुष अपनी स्वतन्त्र, असंग, केवली, चिन्मात्र अवस्था को प्राप्त कर लेता है। प्रकृति से पुरुष का यह अलग होना ही बन्धन से मुक्ति पाना है। मोक्षावस्था में धर्म-अधर्म, अज्ञान, वैराग्य, अवैराग्य, ऐश्वर्य तथा अनैश्वर्य नामक प्रकृति के सातों भावों की समाप्ति हो जाती है। पुरुष सुख, दुःख, मोह, राग-द्वेष इत्यादि से रहित हो जाता है तथा अपने ही केवली, चिन्मात्र स्वरूप में प्रतिष्ठित होकर असङ्ग, उदासीन, द्रष्टा की भाँति प्रसवरहित प्रकृति को अपने से पृथक् देखता है।[2]

सांख्य में मोक्ष दुःखत्रय की आत्यन्तिक एवं ऐकान्तिक निवृत्तिमात्र है। इसे किसी चीज की प्राप्ति की अवस्था न होकर एक निषेधात्मक अवस्था के रूप में चित्रित किया गया है। शायद इसलिए कि सांख्य में मोक्ष को आनन्द-प्राप्ति की अवस्था मानने पर मोक्ष स्वघाती विचार सिद्ध होगा। क्योंकि सांख्य के अनुसार आनन्द सत्त्वगुण से उत्पन्न होता है और सत्त्व गुण प्रकृति का है तथा पुरुष प्रकृति के तीनों गुणों से अतीत है। यहाँ ऐसा प्रतीत होता है कि सांख्य मोक्ष के दिव्यानन्द और सत्त्व गुण से उत्पन्न आनुभविक सुख में अन्तर नहीं करता। काश्मीर शैव दार्शनिक आनन्द को शिव का स्वरूप ही स्वीकार करते हैं, जो सुख-दुःख से अतीत है। यह आनन्द अनुभूत सुख और दुःख से अतीत है। इस प्रकार सांख्य दर्शन हीनयानियों के निर्वाण की तरह मोक्ष की निषेधात्मक व्याख्या ही करता है। प्रश्न उठता है कि क्या ऐसा मुक्त पुरुष एक निरर्थक एवं उदासीन स्थिति का द्योतक नहीं है। अगर मोक्ष दुःखत्रय की निवृत्तिमात्र है तो जीवन की पूर्णता का द्योतक नहीं है। काश्मीर शैव दार्शनिकों के अनुसार जीवन का परमलक्ष्य परमपुरुषार्थ

१. अविवेकश्च संयोगद्वारैव बन्धकारणम्......। -वहीं, १/५५।

२. तेन निवृत्तप्रसवामर्थवशात् सप्तरूपविनिवृत्ताम् ।
प्रकृतिं पश्यति पुरुषः प्रेक्षकवदवस्थितः स्वच्छः ।। -सांख्यका०, ६५।

आनन्दरूपता की प्राप्ति है। नित्यता और अमरता की प्राप्ति निरसता की स्थिति न होकर परमानन्दरूपता की प्राप्ति है।

सांख्य में पुरुष-तत्त्व की असंगता और कूटस्थता की स्थापना एवं समस्त क्रिया व्यापार की व्याख्या के लिए प्रकृति-तत्त्व को स्वीकार करना आवश्यक समझा गया है और सृष्टि में पुरुष का कोई प्रयोजन स्वीकार नहीं किया गया है। शायद इसलिए कि प्रयोजन मानने से पुरुष सापेक्ष हो जायेगा और पुरुष को क्रियारूप मानने से उसकी ज्ञानरूपता खण्डित हो जायेगी। इन दोनों सम्भावनाओं को काश्मीर शैव दार्शनिक तत्त्व के स्वरूप में ही निहित स्वीकार कर ज्ञान-क्रिया क्रियारूपता एवं सृष्टि में प्रयोजन दोनों की व्याख्या करते हैं और यह दिखाते हैं कि इन समस्याओं के समाधान के लिए अलग से प्रकृत्यादि जैसे किसी तत्त्व को स्वीकार करने की आवश्यकता नहीं है। इस दृष्टि से काश्मीर शैव दर्शन सांख्य की अपेक्षा अधिक तार्किक एवं सर्वग्राही दृष्टिकोणसम्पन्न प्रतीत होता है।

●

सहायक ग्रन्थ-सूची

मूलग्रन्थ : काश्मीर शैव दर्शन

अजड-प्रमातृसिद्धि : उत्पलदेव, काश्मीर ग्रन्थावली, श्रीनगर, १९११।

अनुत्तराष्टिका : अभिनवगुप्त, डॉ० पाण्डेय के अभिनवगुप्त (अंग्रेजी) में प्रकाशित, चौखम्भा संस्कृत सीरीज, वाराणसी, १९३५।

अनुभवनिवेदनस्तोत्र : अभिनवगुप्त, डॉ० पाण्डेय के अभिनवगुप्त में प्रकाकिशत, चौखम्भा संस्कृत सीरीज, वाराणसी, १९३५।

ईश्वर-प्रत्यभिज्ञा : उत्पलदेव, वृत्तिसहित, काश्मीर ग्रन्थावली, श्रीनगर, १९२१।

ईश्वर-प्रत्यभिज्ञा-विमर्शिनी : अभिनवगुप्त, काश्मीर ग्रन्थावली, श्रीनगर, १९१८-२१।

ईश्वर-प्रत्यभिज्ञा-विवृति विमर्शिनी : अभिनवगुप्त, काश्मीर ग्रन्थावली, श्रीनगर, १९३८-४१।

क्रमस्तोत्र : अभिनवगुप्त, डॉ०पाण्डेय के अभिनवगुप्त में प्रकाशित, चौखम्भा संस्कृत सीरीज, वाराणसी, १९३५।

कुलार्णव : जीवानन्द, विद्यासागर, कलकत्ता, १९३७।

चित्तसन्तोष-त्रिंशिका : शैवाचार्य नागार्जुन; शारदा पीठ सीरीज, श्रीनगर, १९६२।

तन्त्रालोक : अभिनवगुप्त, जयरथकृत टीकासहित, काश्मीर ग्रन्थावली, श्रीनगर, १९१८-३८।

तन्त्रसार : अभिनवगुप्त, काश्मीर ग्रन्थावली, श्रीनगर, १९१८।

नेत्रतन्त्र : आगम, काश्मीर ग्रन्थावली, श्रीनगर, १९२६-३०।

परमार्चन-त्रिंशिका : शैवाचार्य नागार्जुन, शारदापीठ सीरीज, श्रीनगर, १९६२।

परमार्थ-चर्चा : अभिनवगुप्त, काश्मीर ग्रन्थावली, श्रीनगर, १९४७।

परमार्थ-सार : अभिनवगुप्त, योगराजकृत टीका सहित, काश्मीर ग्रन्थावली, श्रीनगर, १९१६।

पर्यन्त पंचाशिका : अभिनवगुप्त, मद्रास, १९५१।

परा-त्रिंशिका-आगमशास्त्र : अभिनवगुप्तकृत विवरणसहित, काश्मीर-ग्रन्थावली, श्रीनगर, १९१८।

प्रत्यभिज्ञाहृदयम् : क्षेमराज, जयदेवसिंह द्वारा सम्पादित और व्याख्यायित, मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी, १९७३।

बोधपंचदशिका : अभिनवगुप्त, काश्मीर ग्रन्थावली, १९४७।

भाष्करी, भाष्करकण्ठ भाग १ व २ : सरस्वती भवन टेक्स्ट, सं० ७०,८६, लखनऊ।

भाष्करी, भाष्करकण्ठ भाग ३ : ईश्वरप्रत्यभिज्ञा विमर्शिनी के०सी०पाण्डेयकृत अंग्रेजी अनुवादसहित, सरस्वती भवन टेक्स्ट सं० ८४, लखनऊ, १९५४।

महार्थ-मंजरी : महेश्वरानन्द, काश्मीर ग्रन्थावली, १९१८।

मातृकाचक्रविवेक : स्वतन्त्रानन्द नाथ, चौखम्भा संस्कृत सीरीज, वाराणसी।

मालिनी-विजय-तन्त्र : आगमशास्त्र, काश्मीर ग्रन्थावली, श्रीनगर, १९२२।

मालिनी-विजय-वार्तिक : अभिनवगुप्त, काश्मीर ग्रन्थावली, श्रीनगर, १९२१।

रत्नत्रय : श्रीकण्ठ, वाणी विलास प्रेस, देवसालपुरी, १९२५।

विज्ञानभैरव-आगमशास्त्र : शिवोपाध्यायकृत टीकासहित, काश्मीर ग्रन्थावली, श्रीनगर, १९१८।

शिवदृष्टि : सोमानन्द, उत्पलदेवकृत वृत्तिसहित, काश्मीर ग्रन्थावली, श्रीनगर, १९१६।

शिवसूत्र, आगमशास्त्र : वृत्तिसहित, काश्मीर ग्रन्थावली, श्रीनगर, १९१६।

शिव-सूत्र-वार्तिक : वरदराज, काश्मीर ग्रन्थावली, श्रीनगर, १९२५।

शिव-सूत्र-वार्तिक : भट्ट भाष्कर, काश्मीर ग्रन्थावली, श्रीनगर, १९१६।

शिव-सूत्र-विमर्शिनी : क्षेमराज, जे०सी०चटर्जी द्वारा सम्पादित, काश्मीर ग्रन्थावली, श्रीनगर, १९११।

शिव-स्तोत्रावलि : उत्पलदेव, क्षेमराजकृत टीकासहित, चौखम्भा संस्कृत सीरीज, वाराणसी, १९२१।

षट्त्रिंशतत्त्वसन्दोह : राजानक आनन्द की टीका सहित, मुकुन्द राम शास्त्री द्वारा सम्पादित काश्मीर ग्रन्थावली, श्रीनगर।

सिद्धित्रयी : उत्पलदेव काश्मीर ग्रन्थावली, श्रीनगर, १९२१।

स्तवचिन्तामणि : भट्ट नारायण, काश्मीर ग्रन्थावली, श्रीनगर, १९१८।

स्पन्दकारिका : भट्टकल्लट, काश्मीर ग्रन्थावली, श्रीनगर, १९१६।

स्पन्द-निर्णय : क्षेमराज, काश्मीर ग्रन्थावली, श्रीनगर, १९२५।

स्पन्द-प्रदीपिका : उत्पल-वैष्णव, ई०जे०लेजरस एण्ड कं०, वाराणसी, १८९८।

स्वन्द-विवृत्ति : रामकण्ठ, काश्मीर ग्रन्थावली, श्रीनगर १९१३।

स्पन्द-सन्दोह : क्षेमराज, काश्मीर ग्रन्थावली, श्रीनगर, १९१७।

स्वच्छन्द-तन्त्र-आगमशास्त्र : क्षेमराजकृत टीकासहित, काश्मीर ग्रन्थावली, श्रीनगर, १९२७।

मूल ग्रन्थ : सांख्य दर्शन

सांख्य-कारिका : ईश्वरकृष्ण, चौखम्भा विद्या भवन, वाराणसी-१।

सांख्य-कारिका : माठरवृत्ति, चौखम्भा संस्कृत सीरीज, वाराणसी, १९२२।

सांख्य-कारिका : जयमंगला टीका, कलकत्ता ओरियण्टल सीरीज, १९२६।

सांख्य-कारिका : गौड़पादभाष्य, चौखम्भा संस्कृत सीरीज, वाराणसी, १९६८।

सांख्य-चन्द्रिका : नारायण तीर्थ, चौखम्भा संस्कृत सीरीज, वाराणसी, १९५२।

सांख्यतत्त्वालोक : हरिहरानन्द आरण्यक, गवर्नमेण्ट संस्कृत लाइब्रेरी, वाराणसी, १९३६।

सांख्य-संग्रह : वि०प्र०द्विवेदी द्वारा सम्पादित, चौखम्भा संस्कृत सीरीज, वाराणसी, १९६९।

सांख्य-सूत्रम् : भारतीय विद्या प्रकाशन, वाराणसी, १९६६।

सांख्य-सूत्रम् : अनिरुद्धवृत्ति, प्राच्य भारती प्रकाशन, कमच्छा, वाराणसी, १९६४।

सुवर्णसप्तति शास्त्र : कपिलरचित, सम्पादित अयास्वामी, तिरुमल तिरुपति प्रेस, १९४४।

सहायक ग्रन्थ : हिन्दी

अद्वैत-वेदान्त : राममूर्ति शर्मा, नेशनल पब्लिशिंग हाऊस, दिल्ली, १९७२।

अद्वैत-ब्रह्मसिद्धि : सम्पादित, वामनशास्त्री उपाध्याय, इस्लामपुर १९८०, एशियाटिक सोसायटी ऑफ बंगाल।

अपरोक्षानुभूति : आचार्य शंकर, वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई, १९३७।

अमरकोश : कृष्णजी गोविन्द ओझा, प्ला प्रिंटिंग प्रेस, पूना, १९१३।

ईशावास्योपनिषद् : गीताप्रेस, गोरखपुर, संवत् २०३०।

उपनिषद् दर्शन का रचनात्मक सर्वेक्षण : रानाडे, आर०डी०प्रका०, हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर, १९७१।

ऐतरेयोपनिषद् : सं०मोतीलाल जालान, गीताप्रेस गोरखपुर, सं०२०२९।

कठोपनिषद् : गीताप्रेस, गोरखपुर, संवत् २०२८।

काश्मीर शैवदर्शन : पं०बलजिन्नाथ, रणवीर केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ, जम्मू, १९७३।

काश्मीरशैवदर्शन और कामायनी : डॉ०भँवरलाल जोशी, चौखम्भा सीरीज, वाराणसी, १९६८।

काश्मीर शैवदर्शन : डॉ० कैलाशपति मिश्र, अर्द्धनारीश्वर प्रकाशन, वाराणसी, १९८१।

कूर्मपुराण : संस्कृत संस्थान, ख्वाजा कुतुब, बरेली, १९७०।

केनोपनिषद् : गीताप्रेस गोरखपुर, २०२८।

गरुडपुराण : संस्कृत संस्थान, बरेली, १९७०।

चरकसंहिता : मोतीलाल बनारसीदास, द्वितीय संस्करण, १९४४।

छान्दोग्योपनिषद् : गीताप्रेस, गोरखपुर, २०२९।

जैनधर्म : शास्त्री, कैलाशचन्द्र, मथुरा, १९६६।

जैनधर्म और दर्शन : मेहता, मोहनलाल।

तर्कसंग्रह : बम्बई संस्कृत सीरीज, १९६३।

तान्त्रिक वाङ्मय में शाक्त दृष्टि : पं० गोपीनाथ कविराज।

तैत्तिरीयोपनिषद् : गीताप्रेस, गोरखपुर, सं० २०२९।

न्यायवार्तिक : विन्ध्येश्वरी प्रसाद द्विवेदी, चौखम्भा संस्कृत सीरीज, १९१५।

परमार्थ सार : डॉ० जयदेव सिंह।

प्रत्यभिज्ञाहृदयम् : डॉ०जयदेव सिंह।

प्रश्नोपनिषद् : गीताप्रेस, गोरखपुर, संवत् २०२९।

ब्रह्मपुराण : संस्कृत संस्थान, बरेली, १९७१।

ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य (चतुःसूत्री) : रमाकान्त त्रिपाठी, हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, उ०प्र०।

बृहदारण्यकोपनिषद् : गीताप्रेस, गोरखपुर, संवत् २०२८।

बौद्धदर्शन और वेदान्त : चन्द्रधर शर्मा, स्टूडेण्ट फ्रेण्ड्स, वाराणसी।

बौद्धदर्शन मीमांसा भाग १ व २ : बलदेव उपाध्याय।

बौद्धधर्म दर्शन : आचार्य नरेन्द्रदेव, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद् पटना, वि०सं० २०१३।

भारतीय दर्शन भाग १ व २ : डॉ०राधाकृष्णन्, अनु०, न०कि०गोविल, राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली, १९६९।

भारतीय दर्शन : पं०बलदेव उपाध्याय, शारदा मन्दिर, वाराणसी, १९६६।

भारतीय दर्शन : उमेश मिश्र, हिन्दी समिति ग्रन्थमाला, लखनऊ, १९६४।

भारतीय दर्शन : दत्त और चटर्जी, पुस्तक भण्डार, पटना, १९५८।

भारतीय दर्शन : सम्पादक नन्दकिशोर देवराज।

भारतीय दर्शन : डॉ०बी०एन०सिंह।

भारतीय दर्शन का इतिहास : डॉ०एस०एन०दासगुप्ता, भाग-५, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर, १९७५।

भारतीय दर्शन की रूपरेखा : हिरियन्ना, अनु०गोवर्धन भट्ट, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, १९६५।

भारतीय संस्कृति और साधना : खण्ड दो, पं०गोपीनाथ, कविराज।

महाभारत और पुराणों में सांख्यदर्शन : डॉ०रामसुरेश पाण्डेय, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९७२।

महायान विंशक : नागार्जुन, वाराणसी, १९३१।

माण्डूक्योपनिषद् : गीताप्रेस, गोरखपुर, सं० २०३०।

मुण्डकोपनिषद् : गीताप्रेस, गोरखपुर, सं० २०३०।

योगदर्शन : श्री सम्पूर्णानन्द हिन्दी समिति, सूचना विभाग, उ०प्र०, १९६५।

राजतरंगिणी : कल्हण, विश्वबन्धु द्वारा सम्पादित, बूलनर इण्डोलाजिकल सीरीज, सं० ६/१९६५।

वेदान्तसार : सम्पादक, एम० हिरियन्ना, पूना ओरियण्टल बुक एजेन्सी, पूना।

वैदिक धर्म एवं दर्शन : ए०बी०कीथ, मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी।

वैशेषिक दर्शन : श्रीनारायण मिश्र, चौखम्भा संस्कृत सीरीज, वाराणसी, १९६८।

शिवज्ञान सिद्धि : अनु०,बी०डी०जैन, काश्मीरमठ, तिरुप-पाल श्रीकाशीमठ, १९४९।

शैव-मत : यदुवंशी, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, १९५५।

शैवसिद्धान्त : डॉ०कैलाशपति मिश्र, अर्द्धनारीश्वर प्रकाशन वाराणसी, १९८१।

शैवसिद्धान्त : देव सेनापति, यूनिवर्सिटी ऑफ मद्रास, १९५८।

श्वेताश्वतरोपनिषद् : गीताप्रेस, गोरखपुर, सं०२०३०।

षड्दर्शन-समुच्चय : हरिभद्रसूरि भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, वाराणसी, १९७०।

सर्वदर्शन-संग्रह : मध्वाचार्यकृत, भाष्यकार, उमाशंकर, चौखम्भा प्रकाशन विद्या भवन, वाराणसी, १९६३।

सांख्यकारिका : अनुराधा व्याख्या, बृजमोहन चतुर्वेदी, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, १९६९।

सांख्यकारिका : बालकृष्ण त्रिपाठी, भदैनी वाराणसी, १९७०।

सांख्यतत्त्व कौमुदी : ग०शा०मुसलगाँवकर, चौखम्भा संस्कृत सीरीज, वाराणसी, १९७१।

सांख्यतत्त्वकौमुदी प्रभा : आद्या प्रसाद मिश्र, सत्यप्रकाशन, इलाहाबाद १९६६।

सांख्यतत्त्व प्रदीप : डॉ०अमलधारी सिंह, भारतीय विद्या प्रकाशन प्रथम संस्करण, १९७०।

सांख्यदर्शन और आयुर्वेद : उषा कुशवाहा, त्रिविधा प्रकाशन, वाराणसी, १९८६।

सांख्यदर्शन और विज्ञान भिक्षु : उर्मिला चतुर्वेदी, कला प्रकाशन, वाराणसी १९८१।

सांख्यदर्शन का इतिहास : उदयवीर शास्त्री, विरजानन्द वैदिक संस्थान, गाजियाबाद, सं० २०१९।

सांख्य दर्शन की ऐतिहासिक परम्परा : आद्याप्रसाद मिश्र, सत्यप्रकाशन, इलाहाबाद, १९६७।

सांख्ययोग दर्शन : उमेश मिश्र, तीर मुक्ति प्रकाशन, प्रयाग, १९५८।

सांख्ययोग दर्शन का जीर्णोद्धार : हरिशंकर जोशी, चौखम्भा संस्कृत सीरीज वाराणसी, १९६५।

सांख्यसिद्धान्त : उदयवीर शास्त्री, विरजानन्द वैदिक संस्थान, गाजियाबाद, सं० २०१९।

श्रीमद्भगवद्गीता : वेदव्यास, गीताप्रेस, गोरखपुर, १९६०।

श्रीमद्भगवद्गीता : अभिनवगुप्त, पं०लक्ष्मणरना ब्रह्मचारी, श्रीनगर, १९३३।

श्रीमद्भगवद्गीता (शांकरभाष्य व माध्वभाष्य सहित : सागर प्रेस, बम्बई, द्वितीय संस्करण, १९३६।

श्रीमद्भगवद्गीता रहस्य : तिलकरचित, अनु०रावजी सप्रे, नारायणपेठ पूना, १९६९, १४वाँ संस्करण।

ENGLISH BOOKS

Abhinav Gupta : A Historical & Philosophical Study, Pandey, K.C., Chaukhamba Sanskrit Series, Varanasi 1963.

A Critical Survey of Indian Philosophy : Sharma, C.D., Motilal Banarasidas, 1973.

A Critical Study of Sankhya Philosophy : Sovani, V.V., Poona Oriental Book Agency, 1935.

A Hand Book of Vira Shaivism : Nandimath, S.C., Motilal Banarasidass 1979.

A History of Indian Philosophy 5 Vol. : Dasgupta, S.N. Cambrige, 1957.

Aspects of Indian Tought : Kaviraj Gopinath, University of Bardvan, 1966.

Classical Sankhya : Larson, J.G., Motilal Banarasidass Varanasi, Ist Ed., 1969.

Early Sankhya : Johnston, E.H. (Palronage of Royal Asiatic Society, 1937.

Eassays on Sankhya & Other Systems of Indian Philosophy : Sengupta, Anima, MotiMahal, Kanpur Ist Ed. 1964.

Kashmir Shaivism : Mahadevan, T.M.P., Bhartiya Vidya Bhavan, Bombay, 1955.

Kashmir Shaivism : Chatterji, J.C., Vol. I, Kashmir Granthavali, 1914.

Outlines of Indian Philosophy : Hiriyanna, M., George Allen & Unwin Ltd. 1959.

Religion & Philosophy of Veda & Upanisads : Keith, A.B., Cambridge, 1925.

Sankhya Sara : Ed. Hall, E.E., Baptist Mission Press.

Sankhya Aphorism of Kapil : Ballantyne, J.R., Chaukhambha Sanskrit Series, Varanasi, 1963.

Sankhya Conception of Personality : Majumdar, A.K., Calcutta University Press, 1930.

Shaiva Siddhanta : Paranjoti, V., IInd Ed., Lusac & Co. London, 1945.

Significance of Tantrik Tradition : Mishra, K.K., Varanasi, 1981.

The Upanisadic View of Life : Tiwari, D.N., Uma Books, Lanka, Varanasi, 1986.

The Sankhya Philosophy : Sinha, N.L., Bhubneshwar Ashram, Allahabad, 1915.

<u>JOURNALS</u>

1. **Some Problems of Sankhya Philosophy & Sankhya Literature,** Bhattacharya, Kalipada, The Indian Historical Quarterly Vol. VIII, Calcutta, 1932.
2. **The Doctrine of Self Recognition,** Kane, B.N., Kashmir Today, Vol. 16/1, Jan. Feb. 1962.

कालिदास के काव्य में सादृश्येतर अलङ्कार

प्रणेता : डॉ०विष्णुराम नागर | सम्पादक : डॉ०सूर्यप्रकाश व्यास

पृष्ठ : २७४ | मूल्य : १५०

आचार्यरामचन्द्रद्विवेदिस्मृतिग्रन्थमाला का यह प्रथम पुष्प महाकवि कालिदास के साहित्यशास्त्रीय अध्ययन-अनुसन्धान की अभिनव कड़ी है। ग्रन्थ के सात अध्यायों में सादृश्येतर अलङ्कार के अन्तर्गत विरोध, वैषम्य, विसंगति, तर्कन्याय, लोकन्याय, वाक्यन्याय आदि विभिन्न तत्त्वों पर आधारित ३६ अलङ्कारों का कालिदास की कृतियों से संग्रह, विश्लेषण और विवेचन किया गया है। संस्कृत और कालिदास को वर्षों तक पढ़ाने वाले विद्वान् के अध्ययन-मनन का यह नवनीत है।

संस्कृत, कालिदास और अलङ्कारों के अध्येताओं और जिज्ञासुओं के लिए यह ग्रन्थ संग्रहणीय है।

तंत्रालोक में कर्मकाण्ड

लेखिका : डॉ॰बीना अग्रवाल | सम्पादक : डॉ०सूर्यप्रकाश व्यास

पृष्ठ : २१६ | मूल्य : ३००

आचार्य अभिनवगुप्त-प्रणीत तंत्रालोक शैवागम का विश्वकोश है। इसमें त्रिकदर्शन के दार्शनिक सिद्धान्तों के साथ तांत्रिक कर्मकाण्ड का भी वृहद् विवरण संग्रथित है। इन्हीं विवरणों का संग्रह, विश्लेषण और विवेचन इस पुस्तक के दीक्षा, शक्तिपात, कर्म, याग, मन्त्र, मण्डल, मुद्रा आदि अध्यायों में किया गया है। विभिन्न रेखाचित्रों, मन्त्राक्षरों के वाचक पद, मन्त्रबीज, पारिभाषिक शब्द आदि परिशिष्टों से संवलित यह ग्रन्थ तंत्र, शैवागम, अभिनवगुप्त और कर्मकाण्ड के सभी जिज्ञासुओं के लिए समानरुप से उपयोगी है।

काश्मीर शैव दर्शन के मूर्धन्य विद्वान् स्व०प्रो०रामचन्द्र द्विवेदी के निर्देशन में तैयार यह कृति उन्हीं की स्मृति में प्रारम्भ ग्रन्थमाला का द्वितीय पुष्प है।

सांख्य एवं काश्मीर शैव दर्शन में सृष्टि

लेखक : डॉ०विजयशङ्कर द्विवेदी | सम्पादक : डॉ०कृष्णकान्त शर्मा

पृष्ठ : २१६ | मूल्य :

सृष्टि का मूल स्रोत क्या है– इसे जानने के लिए भारतीय मनीषियों ने गम्भीर चिन्तन किया और अपनी-अपनी दृष्टि से सृष्टि की व्याख्याएँ प्रस्तुत कीं। प्रस्तुत ग्रन्थ में सांख्य दर्शन तथा काश्मीरीय शैव दर्शन की दृष्टि से सृष्टि के मूल स्रोत पर प्रकाश डाला गया है। इस ग्रन्थ में एक ओर जडप्रकृतिवाद के विरुद्ध उपस्थित की गई शङ्काओं का युक्तिपूर्वक समाधान प्रस्तुत किया गया है तो दूसरी ओर पूर्ण चेतन की कारणता का भी युक्ति-संगत एवं प्रमाणपूर्वक विवेचन किया गया है।

विस्तृत भूमिका, प्रामाणिक सन्दर्भ, उपयोगी परिशिष्टों से सवलित यह ग्रन्थ सांख्य दर्शन एवं शैव दर्शन की दृष्टि से सृष्टि के रहस्यों को जानने के लिए अत्यन्त उपादेय है। आचार्य रामचन्द्र द्विवेदी स्मृति-ग्रन्थमाला का यह तृतीय पुष्प है।

प्रशान्त प्रकाशन

१२८, बालाजी कॉलोनी, नगवा, वाराणसी-२२१००५

फोन : ०५४२-३१२०६६